बंकिम चंद्र
प्रतिनिधि निबंध

भारतीय साहित्य निधि

बंकिम चंद्र प्रतिनिधि निबंध

संपादन

अमित्रसूदन भट्टाचार्य

अनुवाद

प्रयाग शुक्ल
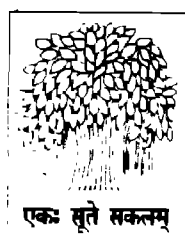
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

विषय-सूची

भूमिका *सात*
बंगदर्शन का घोषणा-पत्र 1
भारत कलंक 9
बंगदेश का कृषक 23
भारतवर्ष की स्वाधीनता एवं पराधीनता 76
एकाकी 85
विद्यापति और जयदेव 88
बंगालियों का बाहुबल 93
प्रेम का अत्याचार 101
विड़ाल 110
चंद्रलोक 115
शकुंतला, मिरांडा एवं डेस्डिमोना 120
द्रौपदी 130
साम्य/स्त्री जाति 136
लोकशिक्षा 151
रामधन पोद 155
मनुष्यत्व क्या है? 161
धर्म एवं साहित्य 171
बांग्ला के नव्य लेखकों के प्रति निवेदन 176
बांग्ला साहित्य का सम्मान 179
द्रौपदी (द्वितीय प्रस्ताव) 185
कृष्ण-कथित धर्म-तत्व 192

भूमिका

आधुनिक भारतीय साहित्य के इतिहास में वंदेमातरम् मंत्र के महान स्रष्टा, साहित्य सम्राट बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय (जन्म, 26 जून 1838, निधन, 8 अप्रैल 1894) का अवदान अविस्मरणीय है। वह केवल भारतीय उपन्यास के जनक ही नहीं हैं, उन्नीसवीं शताब्दी में भारत भूमि में आविर्भूत होने वाले चिंतकों में एक असामान्य प्रतिभासंपन्न व्यक्ति भी थे। केवल बंगदेश के लोग ही नहीं, समग्र भारतवर्ष के लोग उनके जीवन काल में ही इस साहित्य स्रष्टा के प्रति आकृष्ट हुए थे। केवल भारत भूखंड में ही नहीं, बंकिमचंद्र की रचनाएं उनके समय में ही भारत के बाहर अंग्रेजी, जर्मन भाषाओं में भी अनूदित होकर विश्व के दूर प्रांतरों में शिक्षितों के आग्रह पर ग्रंथाकार में प्रकाशित हुई थीं। बंकिमचंद्र के निधन के बाद भी उनके रचे हुए ग्रंथ विभिन्न भारतीय भाषाओं में और भारत के बाहर की भाषाओं में अनुदित और प्रकाशित हुए हैं। यह मानने का मूल कारण है कि बंकिमचंद्र के रचे हुए साहित्य में ऐसा कोई तत्व निश्चय ही है कि केवल बंगवासी और भारतवासी ही नहीं—विश्ववासी भी उसके आकर्षण में बंधे हैं। उत्सुकता और आग्रह के साथ उसकी ओर पिछले सौ वर्षों में खिंचे हैं। सन् 1894 में लंदन से अंग्रेजी में बंकिमचंद्र का उपन्यास विषवृक्ष (The Poison Tree) प्रकाशित हुआ था। और, सन् 1985 में फ्रांस से प्रकाशित आनंद मठ उपन्यास के फ्रांसीसी अनुवाद Le Monastere de la Felicite ग्रंथ ने पाश्चात्य देशों में बंकिमचंद्र के प्रति आग्रह, और बंकिम साहित्यानुशीलन के क्षेत्र में एक याद रहने वाली घटना है। इससे शत वर्ष पूर्ति के एक उज्ज्वल इतिहास की रचना हुई है। इस विश्व-वरेण्य व्यक्ति के प्रति भारतवर्ष के सभी प्रदेशों के सभी लोगों का आग्रह संगत और स्वाभाविक है। वर्ष के प्रत्येक दिन सुबह रेडियो और दूरदर्शन से जिस वंदेमातरम् संगीत का श्रवण कर भारत के करोड़ों-करोड़ लोग रात की निद्रा से सुबह फिर जाग उठते

हैं, उस मंत्र के महान स्रष्टा के प्रति सभी भारतवासियों की जिज्ञासा प्रत्याशित ही है। भारत के विद्वत समाज का यह कर्तव्य है कि वह जिज्ञासु देशवासियों की जिज्ञासा के अनुरूप बंकिम के रचना-संसार से और अधिक परिचित होने का उपाय करें। बंकिमचंद्र को जानने का श्रेष्ठ उपाय बंकिमचंद्र की रचनावली से परिचित होना ही है। बंकिमचंद्र अपने उपन्यासों में और अपने प्रबंधों में, जिस गंभीर संवेदनशील मानवीय वाणी को प्रसारित कर गये हैं, जिस ध्यान-धारणा, चिंता-भावना की प्रतिष्ठा कर गये हैं, वह आज के भारतवर्ष में अपने मूल तात्पर्य में और अधिक प्रासंगिक हो उठी है।

यह संकलन बंकिमचंद्र की रचनावली से चुने हुए निबंधों का है। यहां यही प्रयास किया गया है कि विविध विषयों में बंकिमचंद्र के चिंतन और सरोकारों का जो रूप है, उसका प्रतिनिधित्व हो सके। यह स्वाभाविक ही था कि उनके बृहदतम निबंध-संग्रह 'विविध प्रबंध' के दो खंडों में से ही अधिकांश निबंधों का चयन किया जाये।

इस संग्रह में बंकिमचंद्र की रचनाओं को उसी कालक्रमानुसार रखा गया है, जैसे कि वे तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। इस कालक्रम के अनुसार संकलित होने से बंकिमचंद्र के विश्वासों और उनकी चिंताओं के संसार की धारावाहिकता को भी कमोबेश रेखांकित किया जा सकेगा।

बंकिमचंद्र ने अपने द्वारा संपादित 'बंगदर्शन' पत्रिका के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक के प्रथम पृष्ठ पर अपना संपादकीय-निबंध 'पत्र सूचना' लिखा था। वस्तुत: यही बंकिमचंद्र द्वारा लिखा गया प्रथम बांग्ला-प्रबंध है। इससे पहले वे तीन उपन्यासों की रचना कर चुके थे, लेकिन उनके प्रबंध लेखन की पहली मिसाल बंगदर्शन के पन्नों पर ही पहली बार देखने को मिली। 'पत्र सूचना' की रचना के बीस वर्षों बाद बंकिमचंद्र ने अपने 'विविध प्रबंध' के द्वितीय भाग में इस प्रबंध को 'बंगदर्शन की पत्र-सूचना' शीर्षक से संकलित किया और प्रबंध की पाद-टिप्पणी में लिखा, ''इस प्रबंध के पुनर्मुद्रित करने का कारण यह है कि, इसमें जितनी बातें हैं, उनकी पुनरुक्ति अभी भी प्रासंगिक है।'' हम शताधिक वर्षों बाद भी यह कह सकते हैं कि यह अभी भी प्रासंगिक हैं। केवल इसी प्रबंध के बारे में नहीं, यह बात यहां संकलित बंकिमचंद्र के प्राय: सभी प्रबंधों के बारे में कही जा सकती है।

वर्तमान काल में बंकिमचंद्र की केवल प्रासंगिकता ही नहीं है बल्कि उनकी प्रयोजनीयता के प्रसंग में भारतीय पाठक समाज को एक और तथ्य

का स्मरण दिलाने की इच्छा हो रही है। बंकिमचंद्र थे बंगवासी, बंगभाषी, बंगाली। अपनी विभिन्न रचनाओं में समग्र भारतवर्ष के प्रति चिंता-सरोकारों के बावजूद उन्होंने मुख्यत: बंगप्रदेश की स्थितियों की ही विशेष रूप से विवेचना और स्थापना की है—यह सच है। लेकिन बंगदेश की उन्नति के लिए उन्होंने तब जो सोच-विचार किया था, वह आज भारत के सभी प्रदेशों की उन्नति के लिए तथा समस्त भारतवर्ष के मंगल के लिए प्रयोज्य है। दीर्घकाल से समग्र भारतवर्ष की कुछ ऐसी गंभीर समस्याएं रही हैं जो एक साथ ही बंगदेश की— बंगाल की समस्या भी है और बंगाल के बाहर तथा समस्त भारतवर्ष की समस्या भी है। बंकिमचंद्र ने इन सारी समस्याओं के समाधान के लिए गंभीर चिंतन-मनन के बाद जो पथ-निर्देश किये हैं, वे सब पथ आज भी हमारे लिए परम मंगलकर और कल्याणकर हैं और वे सभी पथ आज भी हमारे लिए युक्तिसंगत कारणों से अतिशय वरणीय और अनुसरण के योग्य हैं।

'बंगदर्शन की पत्र सूचना' प्रबंध में बंकिमचंद्र ने भारतवर्ष की भाषा समस्या पर अंगुली रखी है। बंकिमचंद्र का अभिमत है कि भारतवर्ष के हर प्रदेश में प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग करना होगा, उन्हें संपन्न करना होगा और विभिन्न प्रदेशों की मिलन-भूमि की रचना में, तथा प्रदेश के बाहर बृहदतर क्षेत्र में, अंग्रेजी भाषा का अवलंबन करना होगा। समग्र भारतवर्ष के लिए एक सामान्य भाषा के प्रयोजन का अनुभव बंकिमचंद्र ने किया था। 'भारतवर्ष की नाना जातियां अगर एक मत की, एक परामर्शी, एकोद्योगी नहीं होंगी तो भारतवर्ष की उन्नति नहीं होगी।' ऐसी अनेक बातें हैं जो अलग से केवल बंगालियों, पंजाबियों, मराठियों के ही मतलब की नहीं हैं, समस्त भारतवर्ष को उन्हें सुनना चाहिए—ऐसी जगहों पर अनिवार्य रूप से अंग्रेजी भाषा आवश्यक है। लेकिन यह बात भी बंकिमचंद्र ने तभी स्मरण करा दी थी कि देश के जनसाधारण की उन्नति तथा देश का मंगल, तभी संभव है जब हम मातृभाषा का प्रयोग करेंगे। कारण, ''देश के समस्त लोग अंग्रेजी नहीं समझते, कभी समझेंगे, ऐसी प्रत्याशा भी नहीं की जा सकती।'' उनका मत है कि जो बात देश के साधारण लोग समझते नहीं हैं, या सुन नहीं पाते हैं, उस बात से देश की सामाजिक उन्नति की संभावना नहीं है।

विदेशी इतिहासवेत्ताओं के मतानुसार भारतवर्ष के इतने लंबे समय तक पराधीन रहने का कारण यहां के लोगों का दुर्बल, कापुरुष और हीनबल होना है। बंकिमचंद्र की जिज्ञासा यह है कि इस 'भारत कलंक' का यथार्थ

क्या है? प्राचीन और आधुनिक भारतवर्ष की इतिहास-पर्यालोचना के बाद बंकिमचंद्र कहते हैं, भारतवर्ष की इतने दिनों की पराधीनता का कारण भारतवासियों की तथा-कथित कापुरुषता और दुर्बलता कतई नहीं है। इसके प्रधान कारण उनके मत में दो हैं। प्रथम, भारतवर्ष के लोग स्वभाव से स्वतंत्रता की आकांक्षा से रहित हैं और द्वितीय कारण, हिंदू समाज का बंटा होना, समाज में जाति प्रतिष्ठा का अभाव, जाति के हित का अभाव है। यहां हम पाएंगे कि जातीय-बोध के प्रसंग में बंकिमचंद्र का मनोभाव किसी विशेष देश जाति और धर्म की सीमा का अतिक्रमण कर उदार और विश्वजनीन हो उठा है। किसी देश की जाति-प्रतिष्ठा के मूल में सबसे पहले रहती है आत्म-मंगल की चिंता। स्वजाति के लोग इसी सूत्र से ऐक्य-बद्ध होते हैं। जाति-प्रतिष्ठा के द्वितीय स्तर पर पृथ्वी की भिन्न जातियों के प्रति तीव्र विद्वेषभाव घटित होता है। बंकिमचंद्र इस प्रबंध की पाद-टिप्पणी में पाठकों को स्मरण कराते हुए कहते हैं, "इस प्रबंध में प्रयुक्त जाति शब्द को Nationality या Nation के अर्थ में ग्रहण करना होगा। पर जाति की अमंगल कामना जाति-प्रतिष्ठा का द्वितीय लक्षण है। परजाति का अमंगल मनाते हुए आत्ममंगल साधना होता है, वह भी करेंगे। जाति-प्रतिष्ठा का यह द्वितीय भाग है।"

जाति-प्रतिष्ठा के मूल में ये जो दो स्तर हैं, इनके प्रसंग में बंकिमचंद्र का प्रकृत मनोभाव संपूर्ण रूप से स्वतंत्र है। बंकिम कहते हैं, "इस तरह की मनोवृत्ति को निष्पाप परिशुद्ध भाव के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह दोषपूर्ण और विकार-ग्रस्त है। इस विकार के कारण, अतिसाधारण लोगों में इस तरह की भ्रांति जन्म लेती है कि परजाति के मंगलमात्र में स्वजाति का अमंगल है और परजाति के अमंगल मात्र से स्वजाति का मंगल होता है। इस कुसंस्कार के वशीभूत होकर यूरोप वासियों ने अनेक दु:ख उठाये हैं। अनर्थक इसी के कारण यूरोप को अनेक बार समरानल में दग्ध होना पड़ा है।" बंकिमचंद्र के मत में 'स्वजाति की प्रतिष्ठा अच्छी हो या बुरी, जिस जाति में यह बलवती होती है, वह जाति अन्य जातियों की अपेक्षा प्रबल होती है। बंगाली, पंजाबी, तैलंगी, मराठी, राजपूत, जाट, हिंदू, मुसलमान, इत्यादि कई जातियां हैं। इनमें परस्पर एकता का अभाव भारतवर्ष में जाति-प्रतिष्ठा— यानी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को बाधित करता है। यह जो विभिन्न जातियां हैं, इनमें से कौन किसके संग एकता-युक्त होगी? धर्मगत ऐक्य है तो वंशगत ऐक्य नहीं है, वंशगत ऐक्य है तो भाषागत ऐक्य नहीं है,

भाषागत ऐक्य रहने पर निवासगत ऐक्य नहीं है। यह अनेकता ही भारतवर्ष की दुर्बलता का बड़ा कारण है। इसीलिए एकता का साफल्य अनिवार्य है।' बंकिमचंद्र को विश्वास है, "समुदाय में भारत यदि एक जाति के बंधन में बंधा होता तो क्या नहीं हो सकता था?" इस प्रबंध में बंकिमचंद्र की प्रथम आकांक्षा यही है कि समग्र भारत मिलकर जातीय ऐक्य की स्थापना करे और उनकी अंतिम आकांक्षा यह है कि समग्र विश्व जुड़कर विद्वेष भाव से रहित मानवजाति का मिलन साधन बने।"

देश की श्रीवृद्धि, जमींदार, प्राकृतिक नियम एवं कानून—इन चार परिच्छेदों में संपूर्ण 'बंगदेश का कृषक' लेख, बंकिमचंद्र की महामूल्यवान एक प्रबंध-समीक्षा है—एक ऐतिहासिक दलील है।

एक प्रथम श्रेणी के साहित्य स्रष्टा होकर भी देश के कृषक समाज की अवस्था का इस तरह का विस्तृत अध्ययन बंकिमचंद्र के अलावा और किसी ने किया हो, मालूम नहीं। यद्यपि देश में आज अनेक परिवर्तन हुए हैं, समृद्धि आयी है, यद्यपि यह प्रबंध काफी पहले -सन् 1872-73 में लिखा गया था, फिर भी इस प्रबंध में बंकिमचंद्र ने जिन विषयों की विवेचना की है, उनका पाठ आज भारतवर्ष के प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के लिए अनिवार्य है और बंकिमचंद्र के सुझावों के प्रति उद्योगी होना ही उचित है। इस प्रबंध में बंकिमचंद्र ने जिस हाशिम शेख और रामा केवट का उल्लेख किया है—वे केवल बंगदेश के प्रतिरूप हों, ऐसी बात नहीं है—वे समग्र भारतवर्ष के दरिद्र समाज के ज्वलंत प्रतिनिधि हैं। हम शिक्षित समाज के लोग, वणिक, महाजन, बुद्धिजीवी, नौकरी करने वाले, नाना सुखों और स्वच्छंदता का उपभोग करते हुए प्रसन्नतापूर्वक कहते हैं, देश का बहुत मंगल हुआ है, बड़ी समृद्धि आयी है। लेकिन बंकिमचंद्र ने तभी दुखी स्वर से यह प्रश्न पूछा था: "देश का मंगल? देश का मंगल, किसका मंगल? हम-तुम अपना मंगल देख रहे हैं, लेकिन हम-तुम क्या देश हैं? हमारे-तुम्हारे जैसे लोग देश में कितने हैं? और ये कृषिजीवी कितने हैं? उनको छोड़ दें तो देश में कितने लोग बचते हैं? हिसाब लगायें तो वे ही देश हैं—देश के अधिसंख्य लोग कृषिजीवी ही हैं। केवल हमसे-तुमसे कोई काम चल सकता है? लेकिन अगर ये कृषिजीवी न हों तो फिर होगा क्या? कौन कहां रहेगा? क्या करेगा? जहां तक उनका मंगल नहीं है, वहां तक देश का कोई मंगल नहीं है।" भारतवर्ष आज भी कृषिप्रधान देश है। कृषिजीवियों के बारे में सोचने लायक, चिंता करने लायक, अनेक उद्रेककारी वक्तव्य

हम इस मूल्यवान प्रबंध में आज भी पा सकते हैं।

प्राचीन स्वाधीन भारतवर्ष के साधारण लोगों की अवस्था के साथ बंकिमचंद्र ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेज-शासित पराधीन भारतवर्ष के लोगों की अवस्था पर तुलनात्मक विचार किया है, अपने प्रबंध "भारतवर्ष की स्वाधीनता एवं पराधीनता" में। लेखक की जिज्ञासा है, "आधुनिक भारतवर्ष में देसी और विलायती का जो फर्क है, वह क्या प्राचीन भारत के ब्राह्मण-शूद्र वैषम्य की अपेक्षा गुरुतर है? प्राचीन भारतवर्ष के शूद्रपीड़क ब्राह्मण-क्षत्रियों को बंकिमचंद्र ने क्षमा नहीं किया। उनके मत में देश की प्रकृत 'स्वाधीनता' देश के अधिसंख्य साधारण मनुष्यों के सुख पर ही निर्भर करती है—देश का राजा स्वदेशी है या परदेशी, इस पर नहीं। देश का शासक विदेशी है या स्वदेशी—इसके ऊपर देश की स्वतंत्रता या परतंत्रता निर्भर कर सकती है, लेकिन देश की स्वाधीनता या पराधीनता इस पर निर्भर करती है कि देश के लोग सुखी हैं या दु:खी। बंकिमचंद्र को यह कहने में कुंठा-बोध नहीं हुआ कि ब्राह्मण शासित तथा निपीड़ित शूद्र संप्रदाय, अर्थात् संख्या में अधिक इन भारतवासियों ने प्राचीन भारतवर्ष में स्वाधीनता के सुख का भोग नहीं किया। अंग्रेज भारतवर्ष जिस अर्थ में पराधीन है, उस अर्थ में ब्राह्मण शासित प्राचीन भारतवर्ष भी पराधीन था। बंकिमचंद्र को यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि—ब्राह्मण ही प्राचीन भारत के अंग्रेज थे। जन-साधारण के प्रकृत सुख-दु:ख को निरख कर बंकिमचंद्र ने शूद्र पीड़क ब्राह्मण-क्षत्रिय शासित भारतवर्ष को पराधीन, और परजाति पीड़न शून्य महान अकबर शासित भारतवर्ष को वास्तव में स्वाधीन कहा है।

Personal Essay या व्यक्तिगत अनुभूतिमूलक रचना है 'एका'। इस प्रबंध के अंत में बंकिमचंद्र ने मनुष्य की प्रीति के विषय में जो बात कही है, वह उनके समग्र साहित्य की मुख्य-वाणी, मुख्य-स्वर के रूप में, अभिहित की जा सकती है। उनका आकांक्षित अंतिम सुख हिंदू-प्रीति में नहीं है, बंगाली-प्रीति में नहीं है, भारत-प्रीति में नहीं है, स्थान-काल-पात्र की बेड़ियों में बद्ध किसी संकीर्ण मानव-मंडली के प्रति नहीं है, उनका प्रकृत सुख समग्र मनुष्य जाति के ऊपर उदार अनंत प्रेमानुभूति में है। ऐसा व्यक्ति ही जगत से उदात्त कंठ से कह सकता है, 'प्रीति संसार में सर्वव्यापिनी है—ईश्वर ही प्रीति है।" वही कह सकते हैं—"मनुष्य जाति के ऊपर यदि मेरी प्रीति है, तो मैं अन्य सुख नहीं चाहता।" इस प्रीति का बंधन और उसका विस्तार, साधारण मनुष्य के लिए क्योंकर संभव है। इस विषय में भी

बंकिमचंद्र सरल पथ-निर्देश कर गये हैं। सन् 1873 में 'एका' निबंन्ध में उन्होंने जो बात कही है, उसी का और विस्तृत तात्विक विश्लेषण हम एक युग के बाद सन् 1885 के उनके 'प्रीति' शीर्षक निबंध में पाते हैं। यह रचना 'धर्मतत्व' ग्रंथ में संकलित है। बंकिमचंद्र के मत में प्रीति ही मनुष्य का धर्म है, वही ईश्वर है। वास्तव में धार्मिक व्यक्ति के लिए पारिवारिक जीवन नितांत प्रयोजनीय है। बंकिम का मत है, ''परिवार ही प्रीति का प्रथम शिक्षा-स्थल है। क्योंकि जिस भाव के वशीभूत होकर दूसरों के प्रति आत्म-त्याग के लिए हम प्रवृत्त होते हैं, वही प्रीति है। .... पारिवारिक वातावरण में किसी मात्रा में प्रीति-वृत्ति स्फुरित होने पर वह परिवार के बाहर भी अपने विस्तार की कामना करती है।...जब निखिल जन्मभूमि के ऊपर यह प्रीति उमड़ती है, तब यह हर प्रकार से देश वात्सल्य के नाम से जानी जाती है। ऐसी अवस्था में यह प्रीति अतिशय बलवती हो सकती है, और होती भी है। ऐसा होने पर, यह जाति-विशेष के लिए विशेष मंगलकर होती है।'' इसी उक्ति के साथ उन्होंने यह बात भी स्मरण करा दी है कि ''देशवात्सल्य प्रीतिवृत्ति की स्फूर्ति की चरम सीमा नहीं है। उसके ऊपर भी एक सोपान है। जो प्रीति समस्त जगत के प्रति है, वही प्रीतिवृत्ति की चरम सीमा है। वही वास्तविक धर्म है। जब तक प्रीति समस्त जगत के प्रति नहीं उमड़ती, तब तक प्रीति भी असंपूर्ण रहती है—और धर्म भी असंपूर्ण रहता है।'' इसीलिए बंकिमचंद्र का प्राथमिक बंगानुराग उनके भारत-अनुराग तथा जगतव्यापी मानव अनुराग तक पहुंचने के सोपान के रूप में ही विवेच्य है।

''विद्यापति और जयदेव'' प्रबंध में बंकिमचंद्र ने बांग्ला साहित्य में गीतिकाव्य के बाहुल्य के कारणों पर प्रकाश डाला है और बंगीय गीतिकाव्य लेखकों को अंत:प्रकृति के कवि और बहिर्प्रकृति के कवि—इन दो श्रेणियों में विभक्त करके उनकी कवि-प्रकृति की पर्यालोचना की है। इस प्रबंध की भूमिका में बंकिमचंद्र ने कहा है, ''सब कुछ नियमों का ही फल है। साहित्य भी नियमों का फल है।'' इसी सूत्र से बंकिम ने ''भारतवर्ष के साहित्य की प्रकृति गति क्या है'' इसका निर्णय किया है। बंकिम के मत में जातीय (राष्ट्रीय) चरित्र का फल, जातीय साहित्य है। इसीलिए रामायण की रचना के बाद महाभारत का आविर्भाव हुआ, इसके बाद भक्तिशास्त्र और धर्मशास्त्र का, फिर पुराणों का और क्रमश: ''कालिदास आदि के काव्य-नाटकों आदि'' का उन्मेष हुआ। जातीय जीवन के परिवर्तन के साथ जातीय साहित्य का

भी रूप और पक्ष बदला है।

'बंगालियों का बाहुबल' प्रबंध में बंकिमचंद्र की चिंता एकांतभाव से केवल बंगालियों के लिए लगती है, पर केवल उन्हीं के प्रति नहीं है। उनकी मूल चिंता सदा ही समूचे भारतवर्ष को केंद्र में रखकर विचरण करती है। इस प्रबंध में लेखक ने कहा है "शारीरिक बल उन्नति नहीं है। उन्नति का उपाय मात्र है।" और फिर आगे कहते हैं, "बाहुबल को उन्नति का उपाय भी नहीं कहा जा सकता। बाहुबल से किसी की उन्नति नहीं होती..." फिर भी अगर बाहुबल उन्नति के लिए आवश्यक है तो इसी कारण कि जिन बातों से उन्नति को क्षति पहुंचती है, उन सभी उपद्रवों से आत्मरक्षा करनी चाहिए। बस इसी कारण बाहुबल का प्रयोजन है। लेकिन जहां इसका प्रयोजन नहीं है, वहां बाहुबल के बावजूद उन्नति होती है। एक जाति के बाहुबल को केवल उसके शारीरिक बल पर बंकिम ने मापना नहीं चाहा। इस प्रसंग में उनकी स्पष्ट उक्ति है, "शारीरिक बल बाहुबल नहीं है।" बंकिमचंद्र का मूल्यवान मंतव्य है, "उद्यम, ऐक्य, साहस एवं अध्यवसाय, इन चारो को इकट्ठा करके शारीरिक बल में व्यवहृत करने पर जो परिणाम होता है, वही बाहुबल है। जिस जाति में उद्यम, ऐक्य, साहस और अध्यवसाय है, उसमें शारीरिक बल चाहे जिस प्रकार हो, वह बाहुबल वाली गिनी जायेगी।" इस 'बाहुबल' से केवल बंगाली ही क्यों, भारत के सभी प्रदेशों के लोग बलशाली बन सकते हैं— दुर्बलताओं के कलंक से मुक्त एक शक्तिशाली ऐक्यबद्ध आधुनिक भारतवर्ष खड़ा हो सकता है।

'प्रेम का अत्याचार' प्रबंध में बंकिमचंद्र ने समस्त धर्मों का सार, पाठकों को बताना चाहा है। यह धर्म अलग से केवल मुसलमानों, हिंदुओं बौद्ध-जैनों और ईसाइयों का नहीं है। बंकिमचंद्र का द्विधाहीन स्पष्ट वक्तव्य है, "धर्म की जो चाहे जैसी व्याख्या करे, धर्म एक है।" 'दूसरे का अनिष्ट नहीं करना, यथासाध्य दूसरे का मंगल करना'—उनके मत में 'यही महती उक्ति दुनिया भर के धर्मशास्त्रों का मूल मंत्र है, और एकमात्र परिणाम या सार है। " दूसरा कोई और चाहे जो उक्ति बनाये, उसका आदि और चरम इसी में समाहित मिलेगा।" और 'प्रेम और धर्म एक ही पदार्थ हैं। सारा संसार प्रेम के वशीभूत होकर ही धर्म को पाता है। और धर्म जब तक सार्वजनीन प्रेम नहीं बनता, तब तक संपूर्णता प्राप्त नहीं करता।"

इस प्रबंध में बंकिमचंद्र ने सत्य का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न भी किया है। वस्तुत: जीवन भर लेखक का यही प्रयास रहा है। जिस सत्य

का पालन करने से दूसरे का गंभीर रूप से नुकसान होता हो, वह सत्य पालन करने योग्य नहीं है। उनके लिए सत्य कोई आधारहीन आइडिया मात्र नहीं है, मंगल और कल्याण के साथ उनकी सत्यभावना जुड़ी हुई है।

उनका विख्यात प्रबंध है, 'विड़ाल'। पृथ्वी के क्षुधार्त मनुष्यों के लिए, उनके पक्ष में, उनके अनुकूल इस प्रकार की तीव्रतम सफल साहित्यसृष्टि भारतीय साहित्य में बंकिमचंद्र से पहले किसी और ने की है या नहीं, मुझे नहीं मालूम। कमलाकांत इस निबंध में मानो उच्च-समाज का प्रतिनिधि, और चतुष्पद वह क्षुधार्त विड़ाल (बिल्ली) 'आहार में उदर कृश, अस्थि परिदृश्यमान, विनत' केवल बंगाल की नहीं, केवल भारतवर्ष की नहीं—समस्त पृथ्वी के दलित, अवहेलित क्षुधार्त मानव संप्रदाय की मुखपात्र है। इस निबंध में बंकिम ने कानूनी विचार की अपेक्षा मानवीय मूल्यबोध के ऊपर ही अधिकतम ध्यान दिया है। अदालत का कानून समाज की रक्षा बाहरी तौर पर कर सकता है, लेकिन एक देश का वास्तविक मंगल केवल उसके कानूनी शासन पर निर्भर नहीं रह सकता। अदालत चोर को दंडित करने का विधान करती है, लेकिन चोर चोरी क्यों करता है, अदालत इसका अनुसंधान नहीं करती। बंकिमचंद्र का सुस्पष्ट अभिमत है, ''अधर्म चोर का नहीं है—चोर जो चोरी करता है,'' वह अधर्म कृपण धनी का है। चोर दोषी जरूर है, लेकिन कृपण धनी उसकी अपेक्षा सौ गुना दोषी है।'' बंकिमचंद्र ने समाज को नयी दृष्टि से देखने का, उस पर विचार करने का आह्वान किया है।

वैज्ञानिक तत्वमूलक प्रबंध है 'चंद्रलोक'। यह उनके 'विज्ञान रहस्य' नामक ग्रंथ से है। पुस्तक के प्रथम संस्करण की भूमिका में लेखक ने कहा है कि केवल साधारण पाठक वर्ग ही नहीं, 'आधुनिक शिक्षिता बंगाली स्त्री' जिससे 'सारे वैज्ञानिक तत्व' समझ सके, 'लेखक का उददेश्य यही है।' स्त्रियों के बीच भी विज्ञान शिक्षा का जो प्रयोजन है उसे बंकिम ने उन्नीसवीं सदी में बंगाल की मिट्टी में खड़े रहकर भी अनुभव किया था।

उन्नीसवीं सदी में रचित तुलनामूलक साहित्य समालोचना का एक उत्कृष्ट उदाहरण है 'शकुंतला, मिरांडा और डेस्डिमोना'।

भारतीय साहित्य में 'सीता के सहस्रों अनुकरण हुए हैं, लेकिन द्रौपदी का अनुकरण नहीं हुआ। ' क्योंकि आर्य साहित्य में द्रौपदी अकेली और स्वतंत्र है—'द्रौपदी' प्रबंध में उक्त चरित्र के विश्लेषण-सूत्र से इस प्रसंग की व्याख्या हुई है। इस प्रबंध के दस वर्षों बाद इसका 'द्वितीय प्रस्ताव' लिखा गया।

हमारे देश में स्त्री-पुरूष के अधिकारों के बीच ऐसा दुस्तर वैषम्य क्यों है—यह प्रश्न पूछा गया है 'साम्य/स्त्री जाति' प्रबंध में। लेखक के मत में स्त्री-जाति को सामाजिक वंचना से छुटकारा दिलाने का एकमात्र उपाय समाज में स्त्री-शिक्षा का विस्तार है और सामान्यतः स्त्री-पुरुष दोनों के बीच शिक्षा का प्रसार बढ़ाना है। 'शिक्षा ही हर प्रकार के सामाजिक अमंगल के निवारण का उपाय है। ' बंकिमचंद्र की यह उक्ति उनकी गंभीर प्रज्ञा और दूरदर्शिता का प्रमाण है। शिक्षा का अभाव ही हमारे समाज की दुर्बलता का, और हमारी सभी संकीर्णताओं तथा कुसंस्कारों का मूल कारण है।

'लोकशिक्षा' प्रबंध में बंकिमचंद्र ने देश के साधारण मनुष्यों की शिक्षा में बढ़ोत्तरी की प्रयोजनीयता पर जोर दिया है। देश में बराबरी का अभाव केवल जाति और जाति के बीच, केवल वर्ण और वर्ण के बीच, केवल धनी-दरिद्र के बीच या स्त्री-पुरुष के बीच ही नहीं है—देशव्यापी इस साम्य का बड़ा अभाव इसलिए भी है कि शिक्षित कम हैं, अशिक्षित बहुत ज्यादा। केवल स्कूली पुस्तक पढ़ाकर, व्याकरण ज्यामिति सिखाकर देश के समस्त लोगों को शिक्षित नहीं किया जा सकता। और देश के सभी लोगों के पक्ष में यह शिक्षा-पद्धति स्वाभाविक भी नहीं है। जिस शिक्षा से मनुष्य यह जानेगा कि—धर्म नित्य है, केवल अपना हित अश्रद्धेय है, जीवन दूसरों के लिए है, ईश्वर है, पाप का दंड है और पुण्य का पुरस्कार है, जन्म अपने लिए नहीं है, दूसरों के लिए है, अहिंसा परम धर्म है, लोकहित परम कार्य है—वही शिक्षा वास्तव में शिक्षा है। जाति-धर्म से परे, देश के समस्त लोगों को इसी शिक्षा में शिक्षित करना होगा।

हमारे देश में परिवार-परिकल्पना नितांत आवश्यक है, इस पर बंकिमचंद्र ने एक सौ साल पहले सोच-विचार किया था और देशवासियों को अपनी असामान्य लेखनी से उन्होंने सतर्क और सचेत किया था। 'रामधन पोद' इस विषय पर एक उल्लेखनीय प्रबंध है।

'मनुष्यत्व क्या है' शीर्षक प्रबंध 'धर्मतत्व' नामक ग्रंथ में संकलित है। इस प्रबंध के उपसंहार में महाभारत के उन कृष्ण को नमस्कार करते हुए उन्होंने कहा है, "जिन्होंने बाहुबल से दुष्टों का दमन किया है, बुद्धिबल से भारतवर्ष को जोड़ा है, ज्ञानबल से अपूर्व निष्काम धर्म का प्रचार किया है", और जिन्होंने 'उस वेदप्रबल देश में, वेदप्रबल समय में' कहा है, "वेद धर्म नहीं है, धर्म लोकहित है।" वे ईश्वर हों या नहीं, मैं उनको नमस्कार करता हूं। जो एक साथ शाक्य सिंह, यीशु मोहम्मद और रामचन्द्र

हैं, जो सर्व बलाधार हैं, सर्ववेत्ता हैं, सर्वत्र प्रेममय हैं, वे ईश्वर हों चाहे नहीं, मैं उनको नमस्कार करता हूं।' समझने में कठिनाई नहीं होती— ये कृष्ण केवल हिंदुओं के कृष्ण नहीं हैं, ये सब धर्मों के श्रेष्ठ गुणों के आधार पर एक आदर्श प्रतीक विशेष हैं।

'बांग्ला के नये लेखकों के प्रति निवेदन' प्रबंध में बंकिम ने कहा है, ''सत्य और धर्म ही साहित्य के उपदेश हैं। अन्य किसी उद्देश्य से लेखनी धारण करना महापाप है।'' इस उपदेश माला में उन्होंने जो बारह उपदेश प्रदान किये हैं, उनमें से बहुतों की प्रासंगिकता आज भी यथेष्ठ रूप से विद्यमान है।

देसी भाषा और देसी साहित्य के प्रति देश के तथाकथित अंग्रेजी शिक्षित लोगों का जो अनादर, अनाग्रह और अज्ञान है, वह कितना दारुण और मर्मांतक है, 'बांग्ला साहित्य का अनादर' शीर्षक संलापधमी रचना में इसी का व्यंग्यात्मक उदाहरण है।

जो महाभारतकार कृष्ण चरित्र के सृजन के कारण महाकवि के रूप में पूज्य हैं, उन्होंने द्रुपद राजकन्या को इस प्रकार कदर्य बर्बरोचित पंचपतिका द्रौपदी के रूप में परिणत क्यों किया? जबकि 'प्राचीन तत्वसमुद्र के मध्य बहुत छोटे अक्षरों में भी इस तरह की बात नहीं मिलती कि आर्यों में स्त्रियों का बहुविवाह होता था। बंकिमचंद्र ने 'द्रौपदी' प्रबंध के द्वितीय प्रस्ताव में 'द्रौपदी चरित्र की मध्यग्रंथि में जो तत्व' है, उसकी अभिनव, तात्पर्यपूर्ण और एक गंभीर व्याख्या उपस्थित की है। उनके मत में द्रौपदी महाभारत में एक तत्वचरित्र विशेष है, अथवा तत्व विशेष को परिस्फुटित करने के लिए ही द्रौपदी के चरित्र की परिकल्पना की गयी है। द्रौपदी महाभारत में संयमात्मा नारी चरित्र का विशेष उदाहरण है। स्वामी के धर्मार्थ द्रौपदी ने सभी स्वामियों के औरस से एक-एक पुत्र को गर्भ में धारण किया था। द्रौपदी इंद्रिय सुख से निर्लिप्त और आसक्तिहित है, धर्म का प्रयोजन सिद्ध होने पर स्वामियों के साथ उनका ऐंद्रिक संबंध विच्छिन्न हो गया। और इसीलिए आपात गणिका की तरह पंचपुरुषों से संसर्ग करने पर भी द्रौपदी साध्वी है, पातिव्रत की पराकाष्ठा है। यही है द्रौपदी चरित्र की मध्यग्रंथि का तत्व।

बंकिमचंद्र प्रणीत 'कृष्णचरित्र' एक असामान्य महाग्रंथ है। रवीन्द्रनाथ ने इस ग्रंथ की आलोचना के प्रसंग में कहा था, ''मेरे मत में 'कृष्णचरित्र' ग्रंथ के नायक कृष्ण नहीं हैं, इसका प्रधान अधिनायक स्वाधीन बुद्धि है,

सचेष्ट चित्तवृत्ति।'' प्रथमत: बंकिम ने समझाया है, जड़भाव से शास्त्र अथवा लोकाचार के अनुवर्ती होकर हम पूजा नहीं करेंगे, सतर्कता के साथ मन के उच्चतम आदर्श के अनुगामी होकर पूजा करेंगे। इसके बाद उन्होंने दर्शाया है, जो शास्त्र है वही विश्वसनीय नहीं है, जो विश्वास-योग्य है वही शास्त्र है। यही मूलभाव कृष्णचरित्र ग्रंथ की अंतर्निहित अध्यात्म-शक्ति है, इसी ने समस्त ग्रंथ को महिमान्वित कर रखा है। शास्त्र को इस दृष्टिकोण से देखना और उस पर विचार करना, हमारे देश में तब सचमुच दुर्लभ था। 'कृष्णचरित्र' ग्रंथ के अंतर्गत 'कृष्णकथित धर्मतत्व' तथा सत्य-तत्व के स्वरूप को बंकिमचंद्र ने इस प्रकार निर्देशित किया है:

1. जो धर्मानुमोदित है, वही सत्य है, जो धर्मविरुद्ध है, वह असत्य है।
2. जिसमें लोगों का हित हो, वही धर्म है।
3. अतएव जिसमें लोक का हित है, वही सत्य है। जो कुछ इसके विपरीत है, वह असत्य है।
4. इसी रूप में सत्य का सर्वदा सब जगह प्रयोग करना चाहिए।

   बंकिमचंद्र ने कभी भी किसी भी जगह धर्म को संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करना नहीं चाहा, यह हमने बार-बार लक्ष्य किया है।

इस पुस्तक में संकलित प्रबंधों में बंकिमचंद्र के मूल वक्तव्य को सूत्राकार लिपिबद्ध करने पर जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह इस प्रकार है:

1. जातीय (राष्ट्रीय) जीवन में मातृभाषा का व्यापक व्यवहार प्रयोजनीय है।
2. समग्र भारतवर्ष को एक राष्ट्रीय बंधन में आबद्ध करना आवश्यक है।
3. कृषकों की उन्नति देश की उन्नति है, कृषकों का मंगल देश का मंगल है।
4. देश के साधारणजनों के सुख और दु:ख पर एक देश की प्रकृत (वास्तविक) स्वाधीनता और पराधीनता पर निर्भर विचार आवश्यक है। देश का राजा स्वदेशी या परदेशी है, इस पर नहीं।
5. प्रीति संसार में सर्वव्यापिनी है—ईश्वर ही प्रीति है।
6. सब कुछ नियम का फल है, साहित्य भी नियमों का फल है। भारतवर्ष के साहित्य की गतिप्रकृति भी इसी नियम के अधीन है।
7. जिस जाति में उद्यम ऐक्य साहस एवं अध्यवसाय है, वही जाति बलशाली है।

8. जिस सत्य के पालन से दूसरे का गंभीर अनिष्ट होता हो, वह सत्य पालन करने योग्य नहीं है।
9. अधर्म चोर का नहीं है—चोर जो चोरी करता है, वह अधर्म कृपण धनी का है।
10. चंद्रलोक में जल भी नहीं है, वातास भी नहीं है; अगर जल और वायु नहीं है, तो पृथ्वी के जीवों सरीखा कोई जीव वहां नहीं है।
11. शकुंतला आधी मिरांडा है, आधी डेस्डिमोना। परिणीता शकुंतला डेस्डिमोना की अनुरूपिणी है, अपरिणीता शकुंतला मिरांडा की अनुरूपिणी है।
12. सीता के सहस्रों अनुकरण हुए हैं, लेकिन द्रौपदी अननुकरणीय है।
13. शिक्षा ही हर प्रकार के सामाजिक अमंगल के निवारण का उपाय है।
14. समग्र देश के लोगों को वास्तविक अर्थों में शिक्षित करने के लिए लोकशिक्षा जरूरी है।
15. दरिद्रता का मुकाबला करने के लिए परिवार परिकल्पना(परिवार नियोजन) की जरूरत है।
16. धर्म का प्रकृत सत्य लोकहित में निहित है।
17. जो सत्य है, वही धर्म है। साहित्य धर्म से अलग नहीं है क्योंकि साहित्य सत्य-मूलक होता है।
18. सत्य और धर्म ही साहित्य का उद्देश्य है। किसी अन्य उद्देश्य से लेखनी धारण करना महापाप है।
19. उच्चशिक्षितों के बीच अंग्रेजी प्रीति की जो तथाकथित उच्चदर है, वह ग्लानि का विषय भी है और लज्जा का भी।
20. आसक्ति विद्वेष रहित, एवं आत्मा के वशीभूत सभी इंद्रियों द्वारा इंद्रियों के सभी विषयों का उपभोग करते हुए भी संयमी पुरुष शांति प्राप्त करता है।
21. जिसमें लोगों का हित हो, वही धर्म है, वही सत्य है। यह सत्य सर्वदा सभी स्थानों पर पालन करने योग्य है।

केवल इसी सूत्रमाला का अनुसरण करके समझा जा सकता है कि बंकिमचंद्र की चिंताओं और भावनाओं का जगत कितना व्यापक और विस्तृत है, और क्यों वे समग्र देश के अन्यतम श्रेष्ठ चिंताधिनायक के रूप में वरेण्य हैं। आज बंकिमचंद्र का प्रयोजन केवल साहित्य-समाज के पाठकों के लिए नहीं है, आज उनकी दरकार समग्र देश के हित के लिए है। लिख कर केवल सौंदर्य की सृष्टि करना नहीं, बल्कि देश तथा मनुष्य जाति का

मंगल साधना ही बंकिमचंद्र की साहित्य सृष्टि का मुख्य उद्देश्य है।

नेशनल बुक ट्रस्ट ने मुझे इस ग्रंथ के संपादन का दायित्व सौंपा है। उसकी परिकल्पना है कि बंकिमचंद्र के इस प्रबंध संग्रह का बाद में भारत की विभिन्न भाषाओं में अनुवाद कराया जाये। मैं अनुभव करता हूं कि भारतीय भाषाओं में बंकिमचंद्र की रचनाओं का अनुवाद अत्यावश्यक है। बंकिमचंद्र केवल बंगाल या बंगालियों के नहीं हैं, उनका आवेदन आज समग्र भारतवासियों के निकट अत्यंत तात्पर्यपूर्ण, अतिशय प्रासंगिक है।

ग्रंथ के संपादन और प्रकाशन के विभिन्न चरणों में ट्रस्ट के श्री अरूण चक्रवर्ती महाशय की मूल्यवान सहयोगिता पाकर संपादक कृतार्थ है। नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया के कर्ता-धर्ताओं के और श्री अरूण चक्रवर्ती के. प्रति मैं अपनी कृतज्ञता जाहिर करता हूं और उन्हें धन्यवाद देता हूं।

– अमित्रसूदन भट्टाचार्य

इस संग्रह के ये प्रबंध बंकिमचंद्र के जीवन काल में प्रकाशित उनकी रचनावली के अंतिम संस्करण से लिये गये हैं।

बंगदर्शन का घोषणा-पत्र

जो व्यक्ति बांग्ला भाषा में ग्रंथ रचना करते हैं या सामयिक पत्रों के प्रचार-प्रसार की ओर प्रवृत्त होते हैं, उनकी बड़ी दुर्दशा है। वे चाहे जितना यत्न कर लें सुशिक्षित या विद्वान लोग प्राय: उनकी रचनाओं के पाठ से विमुख ही रहते हैं। अंग्रेजी से प्रेम करने वाले ये सुशिक्षित जन यह मानकर चलते हैं कि बांग्ला भाषा में उनके पढ़ने योग्य कुछ लिखा ही नहीं जा सकता। उनकी विवेचना के अनुसार तो बांग्ला भाषा का लेखक ही मानो विद्या-बुद्धि विहीन होता है, वह भला लिखना-पढ़ना क्या जाने, ज्यादा से ज्यादा वे उसे अंग्रेजी ग्रंथों का अनुवादक मात्र समझते हैं। उनका यह विश्वास है कि बांग्ला भाषा में जो कुछ भी लिपिबद्ध होता है, वह या तो अपाठ्य होता है या फिर किसी अंग्रेजी ग्रंथ की छायामात्र; इसलिए अंग्रेजी में जो कुछ पहले से ही उपलब्ध है, उसे ही बांग्ला में पढ़कर अपनी अवमानना क्यों की जाये? हम तो काली चमड़ी होने के कारण वैसे भी अपने को अपराधी मानते हैं और तरह-तरह के बचाव में लगे रहते हैं, फिर बांग्ला पढ़कर अपनी और फजीहत क्यों करायें?

अंग्रेजी भक्तों का यही रूप है। जो संस्कृतज्ञ पांडित्याभिमानी हैं उनकी 'भाषा' के जिस स्वरूप पर श्रद्धा है, उसके विषय में तो कुछ विशेष कहने की जरूरत ही नहीं है। और जो 'विषयी लोग' हैं, उनके लिए तो सभी भाषाएं एक समान हैं। उनके पास तो किसी भी भाषा में पुस्तकें पढ़ने का अवकाश ही नहीं है। यही क्या कम है कि उन्होंने बच्चों को स्कूल में प्रवेश दिला दिया है। अब यह तो बच्चों का ही काम है कि वे किताबें पढ़ें और निमंत्रण-पत्र सहेजने का भार उठायें इसलिए बांग्ला ग्रंथों आदि का पाठ फिलहाल केवल नार्मल स्कूल के छात्रों, ग्राम विद्यालय के पंडितों, असमय बूढ़ी हो गयी शहरी लड़कियों और किसी-किसी निष्क्रिय रसिक के ही जिम्मे है। हां, दो-एक ऐसे उदार महामना भी मिल ही जायेंगे, जिन्होंने

बांग्ला पुस्तकों के विज्ञापन या उनकी भूमिकाएं मात्र पढ़कर विद्योत्साही होने की कीर्ति कमायी है।

लिखने-पढ़ने की बात तो छोड़ ही दीजिये, अब एक नये वर्ग के बीच बांग्ला का उपयोग किसी भी काम के लिए नहीं होता। विद्यालोचना अंग्रेजी में होती है। साधारणत: काम-काज, मीटिंग, लेक्चर, एड्रेस, प्रोसीडिंग्स, सभी तो अंग्रेजी में ही होते हैं। अगर दोनों ही पक्ष अंग्रेजी जानते हैं तब तो बातचीत भी अंग्रेज़ी में ही होती है, कभी सोलह आने अंग्रेजी होती है, कभी बारह आने। बातचीत चाहे जैसे होती हो, पत्र तो बांग्ला में कभी लिखे ही नहीं जाते। हमने यह कभी नहीं देखा कि वे लोग जो अंग्रेजी जानते हैं, कभी बांग्ला में भी चिट्ठी लिखते हों। हमें तो यह भी लगता है कि दुर्गोत्सव के मंत्र आदि भी एक दिन अंग्रेजी में ही पढ़े जायेंगे।

इसमें अचरज की कोई बात नहीं है। अंग्रेजी राजभाषा है, वह अर्थोपार्जन की भाषा है, वह कई प्रकार की विद्या का आधार है। इस वक्त वह हमारे ज्ञानोपार्जन का एक मात्र सोपान है, और बंगालियों ने उसे बचपन से ही द्वितीय मातृभाषा का दरजा दे रखा है। खास बात यह, कि अगर अंग्रेज से अंग्रेजी में बात न करो तो वह समझता नहीं है, और अगर अंग्रेज आपकी बात नहीं समझता तो वह आपका मान-सम्मान भी नहीं करता। अंग्रेज से मान-सम्मान न मिले तो फिर मान-सम्मान आपको दूसरों से भी नहीं मिलता, या उसका मिलना न मिलना एक बराबर होता है। अंग्रेज ने जिसे नहीं सुना वह अरण्य रोदन है, अंग्रेज ने जिसे नहीं देखा वह हवन में घी समान है।

हम अंग्रेज या अंग्रेजी के द्वेषी नहीं हैं। यह कह सकते हैं कि अंग्रेजों ने इस देश के लोगों पर जो भी उपकार किये हैं, उनमें से अंग्रेजी शिक्षा ही प्रमुख है। अनन्त रत्नों को जन्म देने वाली अंग्रेजी भाषा का जितना अनुशीलन हो, उतना ही अच्छा। यह भी कहूंगा कि समाज के मंगल के लिए कई सामाजिक कार्य, राजपुरुषों की भाषा में ही संपन्न होने आवश्यक हैं। हमारी बहुत सी बातें ऐसी हैं, जो राजपुरुषों को समझानी जरूरी हैं। ये सब बातें अंग्रेजी में ही समझाई जा सकती हैं। ऐसी बहुत सी बातें हैं जो केवल बंगालियों भर के लिए ही महत्व की नहीं है, उन्हें तो समूचे भारतवर्ष को जानना-सुनना चाहिए। वे सब बातें अगर अंग्रेजी में न कही जाये तो समूचा भारतवर्ष उन्हें समझेगा कैसे? भारतवर्ष की नाना जातियां जब तक एकमत नहीं होंगी, एक जैसी सलाह से काम नहीं लेंगी, एक

जैसा उद्यम नहीं करेंगी तब तक भारतवर्ष की उन्नति नहीं होगी। यह मतैक्य, यह सहमति, यह उद्यम केवल अंग्रेजी ही साध सकती है, क्योंकि अब संस्कृत तो लुप्तप्राय है। बंगाली, मराठी, तैलंगी, पंजाबी—इनकी साधारण मिलन-भूमि अंग्रेजी भाषा है। इसी रस्सी में भारतीय एकता की गांठ बांधनी होगी। इसलिए अंग्रेजी का जितनी दूर तक चलना जरूरी हो, उसे चलने दें। लेकिन बिलकुल अंग्रेज बनकर रहना तो मुनासिब नहीं है। बंगाली कभी अंग्रेज नहीं बन सकता। बंगाली की अपेक्षा अंग्रेज अनेक गुना गुणवान है, और वह कई मामलों में कहीं ज्यादा सुखी है। अगर ये तीन करोड़ बंगाली हठात तीन करोड़ अंग्रेजों में परिवर्तित हो जाते तो बुरा न था। लेकिन इसकी कोई संभावना नहीं है, हम चाहे जितनी अंग्रेजी लिख-पढ़ लें, अंग्रेजी हमारे लिए केवल मरे हुए शेर की खाल भर सिद्ध होगी। हम उसे पहनकर शेर की गर्जना नहीं कर सकते। पांच-सात हजार नकली अंग्रेज तीन करोड़ साहबों जैसे नहीं बन सकते। गिलेट-पीतल से खांटी चांदी अच्छी है। प्रस्तरमयी सुंदरी नारी मूर्ति की अपेक्षा, वन्यनारी जीवन-यात्रा में ज्यादा सहायक है। नकली अंग्रेज की जगह खांटी बंगाली स्पृहणीय है। अंग्रेजी लेखकों और अंग्रेजी भाषी संप्रदाय के बीच से खांटी बंगाली के उभरने की संभावना नहीं है, उससे तो नकली अंग्रेज ही पैदा होंगे। जब तक सुशिक्षित ज्ञानवान बंगाली बांग्ला भाषा में अपनी समूची अभिव्यक्ति नहीं करेंगे, तब तक बंगालियों की उन्नति की कोई संभावना नहीं है।

यह बात सुशिक्षित बंगालियों की समझ में क्यों नहीं आती, यह कहना कठिन है। जो अभिव्यक्ति अंग्रेजी में की जाती है, उसे कितने बंगाली समझ सकते हैं? क्या वही अभिव्यक्ति बांग्ला में होने से, वे उसे नहीं समझ सकेंगे? अगर कोई यह सोचता हो कि सुशिक्षित जनों की अभिव्यक्ति, केवल सुशिक्षितों के समझने की चीज है, और उसका प्रयोजन सब तक पहुंचना नहीं है, तब तो उसे विशेष रूप से भ्रांत मानना चाहिए। सभी बंगालियों की उन्नति नहीं होगी तो देश की भी उन्नति नहीं होगी। देश के सभी लोग अंग्रेजी नहीं समझते, वे भविष्य में कभी समझने लगेंगे, ऐसी प्रत्याशा भी नहीं की जा सकती। इसीलिए जो बात बांग्ला में नहीं कही जायेगी, उसे तीन करोड़ बंगाली न तो कभी समझेंगे, न सुनेंगे आज भी नहीं सुनते, भविष्य में भी कभी नहीं सुनेंगे और जिस बात को देश के सभी लोग सुनते समझते न हों, उस बात से समाज की उन्नति की कोई संभावना नहीं हो सकती।

अब एक नयी चर्चा शुरू हुई है कि एजुकेशन 'फिल्टर डाउन' करेगा।[1] इस चर्चा का आशय यही है कि केवल उच्च श्रेणी के लोगों के सुशिक्षित होने भर से काम चल जायेगा, निचले वर्गों को अलग से शिक्षित करने की कोई जरूरत नहीं है, वे तो धीरे-धीरे अपने आप ही सब सीख जायेंगे, विद्वान बन जायेंगे। जैसे किसी शोधक पदार्थ के ऊपरी भाग को जल सिक्त करने से, जल निचले स्तर तक उतर जाता है, उसी तरह विद्यारूपी जल, बंगाली जातिरूपी मिट्टी के ऊपर डालने से, निचला स्तर यानी निम्न वर्ग भी भींग उठेगा। यह जल-चर्चा कुछ सरस हो उठी है। अंग्रेजी शिक्षा के साथ इस तरह का जलयोग न होने पर मानो हमें देश की उन्नति का इतना भरोसा न होता। जल भी अगाध है और उसके शोधक भी असंख्य हैं। अब तक शुष्क ब्राह्मण पंडित देश को विनष्ट कर रहे थे, अब 'नव्य वर्ग' के लोग जलयोग करके देश का उद्धार करेंगे। क्योंकि उनके छिद्र-गुण से साधारण जल रसार्द्र हो उठेंगे। आशा करता हूं, कि बोर्ड के मणि साहब इस बार की आबकारी रिपोर्ट लिखते समय जल-शोधन की इस बात का ध्यान रखेंगे।

जो भी हो, हमारे देश के लोगों पर यह जलमय विद्या इतनी दूर तक असर करेगी, इसका भरोसा हमें नहीं है। विद्या, जल या दूध नहीं है जो ऊपर से डालने पर नीचे तक पहुंच जायेगा। हां, किसी जाति के सुशिक्षित वर्ग के साथ अन्य वर्ग का संसर्ग हो तो उसकी श्रीवृद्धि जरूर होती है। लेकिन यदि इन दो हिस्सों में भाषा का इस तरह का भेद बना रहे कि विद्वान की भाषा को मूर्ख समझ ही न पाये तब इस संसर्ग का लाभ क्या होगा?

मुख्य बात यह है कि आज हमारे यहां उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग के लोगों के बीच परस्पर सहृदयता लेशमात्र नहीं है। उच्च वर्ग के सुशिक्षित जन, मूर्ख समझे जाने वाले दरिद्र लोगों के किसी भी दु:ख से दु:खी नहीं होते। मूर्ख दरिद्र, धनवान एवं सुशिक्षित जनों के किसी भी सुख से सुखी नहीं होते। सहृदयता का यही अभाव फिलहाल देश की उन्नति में मुख्य रूप से बाधक है। इसी के अभाव में दोनों वर्गों के बीच खाई और बढ़ती जा रही है। उच्च वर्ग के साथ अगर दूरी बढ़ती है तब फिर संसर्ग किस

1. इन दिनों शिक्षा समाप्त करने की बातें उठी थीं। उसी संबंध में ये बातें उठी थीं। उच्चशिक्षा के पक्षधर ऐसा कहते थे।

तरह संभव होगा। जो हमसे पृथक है, उसके साथ संसर्ग कैसा? जो शक्तिवान है, वह अगर कमजोरों के दुख से दुखी और उनके सुख से सुखी नहीं होते तो फिर कमजोरों का उद्धार कौन करेगा? और जो कमजोर और दलित हैं अगर उनका उद्धार नहीं होता तो फिर जो शक्तिवान हैं उनकी उन्नति भी किस प्रकार होगी? किसी भी देश में कभी ऐसा नहीं हुआ कि साधारण गरीब लोग बराबर एक ही जैसी अवस्था में रहे हों लेकिन भद्रलोक के श्री संपन्न लोगों की लगातार श्रीवृद्धि होती रही हो। देखने में तो यह आया है कि जिस समाज की विशेष उन्नति हुई है, उस समाज में दोनों वर्ग किसी न किसी रूप में समकक्ष रहे हैं, उनमें मिलना-जुलना रहा है और वे एक-दूसरे के प्रति सहृदय रहे हैं। जब तक ऐसा नहीं हुआ— जब तक दोनों में दूरी रही, तब तक उन्नति हुई ही नहीं। जब दोनों वर्गों के बीच सामंजस्य स्थापित हुआ, उसी दिन से उन्नति का रास्ता खुला। रोम, एथेन्स, इंग्लैंड एवं अमेरिका इस बात के उदाहरण हैं। यह इतिहास सबको मालूम ही है। और समाज में वर्गों के बीच पार्थक्य रहने से समाज का जितना अनिष्ट होता है, उसका उदाहरण स्पार्टा, फ्रांस, मिश्र एवं भारतवर्ष हैं। एथेन्स और स्पार्टा, दो प्रतिद्वन्द्वी नगर थे। एथेन्स में सभी बराबर थे, स्पार्टा में एक जाति स्वामी थी, दूसरी दास। एथेन्स के कारण पृथ्वी पर एक नई सभ्यता अवतरित हुई— विद्या के प्रभाव से आज जो यूरोप इतना प्रभावशाली बना है, उसकी जड़ें एथेन्स में ही थीं। स्पार्टा की अवनति हुई। फ्रांस में वर्ग पार्थक्य के कारण सन् 1789 में जिस महाविप्लव की शुरुआत हुई थी, आज भी वह खत्म नहीं हुआ है, यद्यपि इसका अंतिम फल मंगलमय ही है, लेकिन उसका यह मंगल समाज के असाधारण पीड़ा से गुजरने के बाद ही संभव हुआ है। जिस तरह चीर-फाड़ से रोगी को आरोग्य-लाभ मिलता है, इस विप्लव से उसी तरह सामाजिक मंगल साधना की चेष्टा हुई है। इस भयावह प्रक्रिया से सभी अवगत हैं। मिस्र में साधारण जनों और धर्माधिकारियों के बीच जैसा पार्थक्य रहा है, उसी के चलते वहां अचानक समाज-उन्नति अवरुद्ध हो गयी। प्राचीन भारतवर्ष में वर्ण-गत पार्थक्य रहा है। ईस वर्णगत पार्थक्य के कारण, उच्च्च एवं निम्न वर्गों के बीच जिस तरह के भारी भेद पैदा हुए, उस तरह के भेद किसी अन्य देश में कभी पैदा नहीं हुए, और इतना अनिष्ट भी किसी देश में नहीं हुआ। इस अमंगल के विस्तृत वर्णन करने की यहां आवश्यकता नहीं है। अब वर्णगत पार्थक्य

तो काफी कम हुआ है। दुर्भाग्य से शिक्षा और संपत्ति के भेद से अन्य प्रकार के पार्थक्य ने जन्म लिया है।

इस पार्थक्य का एक बड़ा कारण भाषा-भेद है। सुशिक्षित बंगालियों का सोच-विचार जब तक सभी के लिए बांग्ला भाषा में प्रचारित नहीं होगा, तब तक साधारण बंगाली उनका मर्म नहीं समझ पायेगा, उनका सहारा उसे नहीं मिलेगा। और, पाठकों तथा श्रोताओं के प्रति सहृदयता, लेखकों और पाठकों का स्वत:सिद्ध गुण है। कुछ कहने या लिखने जाकर वे अपनों की तरह लगते हैं। जहां लेखक या वक्ता को यह पता रहता है कि साधारण बंगाली उनके पाठकों या श्रोताओं के बीच नहीं है, वहां मानो अपने आप उनके प्रति सहृदयता का अभाव हो जाता है।

जिन सब कारणों से सुशिक्षित बंगालियों की अभिव्यक्ति बांग्ला भाषा में ही एक कर्तव्य की तरह जरूरी है, उनका हमने विस्तार से वर्णन किया है। लेकिन रचना के दौरान सुशिक्षित बंगालियों के सामने बांग्ला भाषा को बरतने पर एक विशेष बाधा उत्पन्न होती है। सुशिक्षित, बांग्ला पढ़ते नहीं हैं। सुशिक्षित जो भाषा पढ़ते नहीं हैं, उसे लिखना भी नहीं चाहते।

'अपरितोषा द्विद्षानम न साधु मन्ये प्रयोग विक्षानम।'

हम सभी अपने स्वार्थ की साधना चाहते हैं। लेखक मात्र यश की अभिलाषा रखता है। यश, सुशिक्षित के चेहरे पर लिखा रहता है। अन्य लोगों में यश का वैसा विचार नहीं होता, उन्हें यश मिलता भी है तो उससे उन्हें कुछ रचने के परिश्रम की सार्थकता का बोध नहीं होता। सुशिक्षितों को पढ़े बिना सुशिक्षित व्यक्ति लिखेगा नहीं।

इस संदर्भ में अगर किसी सुशिक्षित बंगाली से पूछा जाये, महाशय, आप बंगाली हैं— 'बांग्ला ग्रंथों और पत्रों के लिए आप में यह अनादर कैसा?' वे इसका जवाब देंगे, 'किस बांग्ला ग्रंथ या पत्र का आदर करूं? पढ़ने योग्य रचना मिलने पर अवश्य पढ़ता हूं।' हम मुक्तकंठ से यह स्वीकार करते हैं कि इस बात का जवाब वास्तव में नहीं है। जो बांग्ला रचनाएं पढ़ने योग्य हैं वे दो-तीन दिनों में ही पढ़कर समाप्त की जा सकती हैं। इसके बाद फिर दो-तीन वर्षों की प्रतीक्षा के बाद ही एकाध पठनीय बांग्ला रचना उपलब्ध हो पाती है। इसी तरह बांग्ला भाषा के प्रति बंगाली का अनादर ही बांग्ला के अनादर को बढ़ा देता है। सुशिक्षित बंगालियों के बांग्ला में रचना करने से विमुख होने के कारण, सुशिक्षित बंगाली बांग्ला में रचना पढ़ने से विरत हो जाते हैं।

हम इस पत्र को सुशिक्षित बंगालियों के पढ़ने योग्य बनाने का यत्न करेंगे। यत्न करेंगे, बस मैं इतना ही कह सकता हूं। यत्न की सफलता तो क्षमता के अधीन है। पर यही हमारा प्रथम उद्देश्य है।

दूसरे, हम इस पत्र को सुशिक्षित जनों के हाथों में इस कामना के साथ समर्पित कर रहे हैं कि वे इसका उपयोग हर तरह से अपनी वार्ताओं के लिए करें। इसके माध्यम से बंगाली समाज को उनकी विद्या, कल्पना, लिपिकौशल एवं चित्तोत्कर्ष का परिचय मिले। उनकी उक्तियों का वहन करके यह बंगाल में ज्ञान का प्रचार करें। अनेक सुशिक्षित बंगालियों का यह सोचना है कि विचारों को वहन करने वाले ऐसे किसी पत्र का अभाव है। उसी अभाव को दूर करना इस पत्र का एक उद्देश्य है। हम किसी भी विषय पर, किसी की भी रचना पाठोपयोगी होने पर सादर ग्रहण करेंगे। इस पत्र का जन्म किसी विशेष पक्ष के समर्थन के लिए या किसी संप्रदाय विशेष का हित साधने के लिए नहीं हुआ है।

हम सुशिक्षित जनों के मनोरंजनार्थ सामग्री देने का यत्न करेंगे, इस कथन से किसी को यह नहीं लगना चाहिए कि हम सर्वसाधारण के लिए पठनीय सामग्री जुटाने का काम मनोयोग के साथ नहीं करेंगे। यह पत्र सभी लोगों के बीच पढ़ा जाये, यह हमारा विशेष उद्देश्य है। मैं कह चुका हूं कि जिस काम से साधारण जन की उन्नति नहीं होती, उससे किसी की भी उन्नति सिद्ध नहीं हो सकती। अगर इस पत्र के द्वारा मैंने सर्वसाधारण के मनोरंजन की संकल्पना न की होती तो इरा पत्र के प्रकाशन को मैं एक वृथा कार्य मानता।

कई लोग सोचते हैं कि बच्चों के लिए लिखी जाने वाली अति सरल चीजों को छोड़ दें तो, साधारण लोगों के लिए कुछ भी बोधगम्य या पठनीय नहीं होता। जो लोग इस विश्वास के साथ लिखने की ओर प्रवृत्त होते हैं, उनकी रचना सचमुच कोई भी नहीं पढ़ता जो सुशिक्षित व्यक्ति के लिए पाठोपयोगी नहीं है, उसे कोई नहीं पढ़ेगा। जो उत्तम है, उसे सभी पढ़ना चाहते हैं, जो नहीं समझ पाते, वे उसे समझने का यत्न करते हैं। यही यत्न साधारण जनों की शिक्षा का मूल है। हम इस तथ्य का स्मरण रखेंगे।

तीसरे, जिस चीज से आधुनिक लोगों के साथ सर्वसाधारण की सहृदयता जुड़ती हो, हम अपने साधनों के अनुसार उसका अनुमोदन करेंगे। और भी कई काम करने की आकांक्षा है। लेकिन जो जितना गरजते हैं, उतना बरसते

नहीं। हर गरजने वाले पर यह बात सही उतरती है। बांग्ला के सामयिक पत्रों के लिए तो यह विशेष रूप से सच है। हम इस कथन को प्रमाणित करने वाला एक और उदाहरण नहीं बन जायेंगे, ऐसा दावा हमारा नहीं है। हमारे पूर्ववर्ती इसी तरह एक-एक बार गर्जन-तर्जन करके, काल कवलित हो चुके हैं। हमारे साथ ऐसा घटित नहीं होगा, यह हम नहीं कह सकते। हो सकता है कि हमारे साथ भी कुछ वैसा ही घटित हो, फिर भी हम उस हिसाब-किताब में नहीं पड़ना चाहेंगे। इस जगत में कुछ भी निष्फल नहीं है। एक सामयिक पत्र का क्षणिक जीवन भी निष्फल नहीं होगा। जिन नियमों से आधुनिक सामाजिक उन्नति सिद्ध होती है, उसी प्रक्रिया के अंतर्गत इन पत्रों का जन्म, जीवन और मरण भी आता है। जिस तरह से सभी सामान्य क्षणिक पत्रों का जन्म, अलंध्य सामाजिक नियमों के अधीन है। काल के प्रवाह में ये बुदबुदों के समान हैं। यह बंगदर्शन भी काल के प्रवाह के नियमों के अधीन प्रकाशित हो रहा है, उसी के नियमों के प्रभाव से यह विलीन भी होगा। अतएव हम इसके लिए न तो परिताप करेंगे, न ही हास्यास्पद बनेंगे। इसका जन्म कभी निष्फल नहीं होगा। इस संसार में एक बुदबुदा भी अकारण और निष्फल नहीं है।

(1279, वैशाख। 'विविध प्रबंध)

इस प्रबंध को पुनर्मुद्रित करने का कारण यह है कि इसमें जो कुछ भी कहा गया है, उसका प्रयोजन आज भी है। 1279 वैशाख (अप्रैल, 1872) में यह पहली बार बंगदर्शन में प्रकाशित हुआ था।

भारत कलंक

भारतवर्ष पराधीन क्यों है ?

भारतवर्ष इतने समय से पराधीन क्यों है? — इसके जवाब में सभी यही कहते हैं कि भारतवर्ष के लोग कमजोर हैं, इसीलिए यूरोपीय लोग भी बराबर ही यह कहते हैं— 'एफिमिनेट हिंदूज' (स्त्रैण हिंदू) यही भारत का कलंक है। लेकिन इन्हीं यूरोपीयों के मुख से भारतवर्ष के सैनिकों की बहादुरी और साहस की प्रशंसा भी सुनाई पड़ती है। स्त्रैण स्वभाव के इन्हीं हिंदुओं के बाहुबल के कारण काबुल-विजय संभव हुई। कह सकते हैं इन्हीं स्त्रैण स्वभाव के हिंदुओं की सहायता से उन्होंने भारतवर्ष पर राज्य कायम किया है। वे स्वीकार करें या न करें, इन्हीं स्त्रैण स्वभाव के हिंदुओं के हाथों— महाराष्ट्र और सीकर के निकट अनेक रणक्षेत्रों में वे परास्त हुए हैं।

आधुनिक हिंदुओं के बलवीर्य की हालत अब चाहे जैसी हो, प्राचीन हिंदुओं की अपेक्षा वह कम है, इसमें संदेह नहीं। सैकड़ों वर्षों की पराधीनता के कारण उस बल का ह्रास अवश्य हुआ है। प्राचीन भारतवर्षीय परजाति के हाथों विजित होने के पूर्व ज्यादा बलशाली थे, यह मानने के अनेक कारण हैं— दुर्बल होने के कारण वह पराधीन नहीं हुए थे।

हम स्वीकार करते हैं कि इस धारणा का समर्थन कर पाना सहज नहीं है और इसके पक्ष में प्रमाण जुटाना भी दु:साध्य है। इस तर्क की मीमांसा केवल पुरालेखों के आधार पर संभव है लेकिन दुर्भाग्यवश अन्य जातियों की तरह, भारत के लोगों ने अपने कीर्तिकलाप लिपिबद्ध करके छोड़े नहीं हैं। प्राचीन भारत का वृत्तांत उपलब्ध नहीं है। इसीलिए भारतवर्ष के लोगों की जो श्लाघनीय समरकीर्ति थी, वह भी लुप्त हो गयी है। जो ग्रंथ 'पुराण' के रूप में ख्यात हैं, उनमें स्वाभाविक (प्रकृत) पुरावृत्त कुछ भी नहीं है। जो है, वह अनैसर्गिक और अतिमानवीय कथाओं से आच्छन्न है, प्रकृत घटनाएं क्या थीं, उनका कोई स्वरूप ही निर्धारित नहीं हो पाता।

सौभाग्य से अन्य देशों के इतिहासवेत्ताओं के ग्रंथों में दो जगहों पर प्राचीन भारत के योद्धाओं का उल्लेख मिलता है। पहला यह कि मक्दूनिया के अलेक्जेंडर अथवा सिकंदर ने अपनी दिग्विजय यात्रा के बाद भारत आकर युद्ध किया था। रचना-कुशल यवन लेखकों ने वह कीर्तिकथा लिखी है। दूसरे, मुसलमानों ने भारत विजय के जितने उद्यम किये थे, उसका विवरण मुसलमान इतिवृत्तकारों ने दिया है। लेकिन यह पहले ही बता दें कि इस तरह के जो साक्ष्य हैं उनमें पक्षपात की प्रबल संभावना है। मनुष्य चित्रकार है, इसीलिए चित्र में सिंह को पराजित रूप में दिखाया जाता है। उन सब इतिहासवेत्ताओं के अपनी जाति के प्रति समर्पण को स्वीकार करते हुए, हम कहना चाहेंगे कि ऐसे इतिहासवेत्ता तो बहुत कम ही हैं जो सत्य की कसौटी पर शत्रुपक्ष की कीर्ति का भी बखान करते हों। अपेक्षाकृत मूढ़ और आत्मगौरव से भरे हुए मुसलमानों की बात तो दूर की है, सुशिक्षित, सत्यनिष्ठाभिमानी यूरोपीय इतिहासवेत्ता भी इस दोष के कलंक से इस हद तक कलंकित हैं कि उनकी रचनाओं का पाठ करते हुए कई बार घृणा तक उपजती है। इन विदेशियों और विपक्षीदेशियों, दोनों ही प्रकार के इतिहासवेत्ताओं के लिखित साक्ष्य की सहायता के बिना, किसी भी घटना का यथार्थ निर्धारण नहीं हो सकता। केवल आत्मगौरव से भरे हुए, परधर्म द्वेषी, सत्य-भीरु मुसलमान लेखकों की बातों पर निर्भर करते हुए प्राचीन भारतवासियों की रण-निपुणता की मीमांसा नहीं की जा सकती। बहरहाल, निम्नलिखित दो चीजें स्वयं मुस्लिम पुरावृत्तांतों पर विचार करते हुए सिद्ध होती हैं।

पहली, अरब देश के लोग एक प्रकार के दिग्विजयी रहे हैं। जब जिस देश पर उन्होंने आक्रमण किया, उस देश पर तत्काल विजय प्राप्त करके पृथ्वी पर उन्होंने अपना ऐश्वर्य स्थापित किया है। वे केवल दो देशों से पराजित होकर वापस लौटे हैं। पश्चिम में फ्रांस से और पूर्व में भारतवर्ष से। मोहम्मद की मृत्यु के छह वर्षों के भीतर उन्होंने मिस्र और सीरिया को, दस वर्षों के भीतर परसिया को, एक वर्ष के भीतर अफ्रीका और स्पेन को, अस्सी वर्षों के भीतर काबुल को, आठ वर्षों के भीतर तुर्किस्तान को सम्पूर्ण रूप से अधिकृत कर लिया था। लेकिन तीन सौ वर्षों तक भारत-विजय के लिए यत्न करने के बावजूद वे भारत को हस्तगत नहीं कर पाये। मोहम्मद बिन कासिम ने सिंध को अधिकृत अवश्य किया था लेकिन राजपूतों के हाथों पराजित होकर वह खदेड़ दिया गया था और उसकी मृत्यु

के कुछ ही दिनों बाद सिंध पर राजपूतों ने पुनः अपना अधिकार जमा लिया था। दिग्विजयी अरबों द्वारा भारत विजय संभव न हुई थी। एलफिंस्टन का कहना है कि हिंदुओं का अपने धर्म के प्रति दृढ़ प्रेम ही इस अपराजेयता के मूल में था। हमारी धारणा है कि इसका कारण नैपुण्य और योद्धा शक्ति थी। हां, हिंदुओं का अपने धर्म के प्रति अनुराग भी अवश्य ही बलवान था। तब क्यों हिन्दू सात सौ वर्षों से पराजित और पददलित हैं?

दूसरी, जब किसी प्राचीन देश पर नये अभ्युदय वाली, विजयाभिलाषी जाति आक्रमण करती है तब प्राचीन जाति प्रायः ही नवीन जाति के प्रभुत्व में आ जाती है। इस तरह की सर्वशक्तिमान विजयाभिलाषी जाति का यूरोप में उदाहरण रोम रहा है, एशिया में अरब या तुर्क रहे हैं। जो भी जातियां इनकी लपेट में आयी हैं, वे सब पराभूत होकर इनके अधीन हुई हैं। फिर भी हिंदुओं ने जितनी दूर तक इनसे लोहा लिया है, उतनी दूर तक कोई भी जाति नहीं ले पायी है। अरबों द्वारा अल्पकाल में ही मिस्र, उत्तर अफ्रीका, स्पेन, फारस, तुर्क, एवं काबुल राज्य जिस तरह उच्छिन्न हुए थे, उसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। उनकी तुलना में सुविख्यात कुछ साम्राज्यों का उदाहरण दिया जा सकता है। रोमनों ने ईसा पूर्व 200 वीं शती में ग्रीस पर आक्रमण किया था। इसके बाद 52 वर्षों के भीतर ही यह राज्य पूरी तरह विजित हो चुका था। सुविख्यात कार्थेज राज्य 264 ई. पू. पहली बार रोमनों के साथ संग्राम में प्रवृत्त हुआ था। 146 ई.पू., अर्थात् एक सौ बीस वर्षों के भीतर वह राज्य रोमन लोगों के हाथों ध्वस्त हो गया। पहले का रोमन या ग्रीक साम्राज्य चौदहवीं शताब्दी के पहले भाग में तुर्कों द्वारा आक्रांत होकर सन् 1453 ई. में तुर्क के द्वितीय मोहम्मद के हाथों विलीन हुआ। पश्चिम का रोम जो अपनी वीरता और शौर्य के लिए विश्व विख्यात था, वही 286 ई० में उत्तरीय बर्बर जाति से पहले आक्रांत हुआ, फिर 476 में, अर्थात् प्रथम बर्बर विप्लव के 190 वर्षों के भीतर ध्वंसप्राय हुआ। भारतवर्ष 664 ई. में पहली बार अरब के मुसलमानों द्वारा आक्रांत हुआ। फिर 529 वर्षों बाद शहाबुद्दीन गोरी के हाथों उत्तर भारत अधिकृत हुआ। शहाबुद्दीन और उसके अनुचर अरब जाति के नहीं थे। अरब जिस तरह विफल यत्न हुए थे, गजनी नगर के अधिष्ठाता तुर्क उनके तदनुरूप ही थे। जिन्होंने पृथ्वीराज, जयचंद्र एवं सेन राजा आदि से उत्तर भारत के राज्य का अपहरण किया था, वे पठान या अफगानी थे। अरबों के प्रथम भारत आक्रमण के 529 वर्षों, और तुर्कों के प्रथम भारत आक्रमण के 213 वर्षों के बाद, उनकी जगह पठानों ने भारत पर अपना राज्याधिकार

जमाया था। पठान कभी भी अरबों और तुर्कों की तरह समृद्धि सम्पन्न और प्रतापी नहीं थे। उन्होंने तो केवल अरबों और तुर्कों के दिखाये रास्ते पर चलकर यह कार्य संपन्न किया था। अरबों, तुर्कों और पठानों, इन्हीं तीन जातियों के एक पर एक प्रयत्नों के बाद ही पांच सौ वर्षों के लिए भारत की स्ववाधीनता लुप्त हो गयी थी।[1]

मुसलमानों द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य यही कहते हैं। यह स्मरण रखना भी जरूरी है कि जब हिंदुओं से इनका परिचय हुआ था उस समय हिंदुओं का सुसमय प्राय: व्यतीत हो चुका था— राजलक्ष्मी क्रमश: मलीन हो चली थी। ईसवी संवत से पहले हिंदू अधिकतर बलवान थे, इसमें संदेह नहीं।

उसी समय यूनानी लोगों के साथ परिचय हुआ। वे स्वयं अद्वितीय बलशाली थे। उन्होंने बार-बार भारतवासियों के साहस और रणनैपुण्य की प्रशंसा की है। मक्दूनिया के विप्लव काल का वर्णन करते हुए उन्होंने बार-बार यह बात रेखांकित की है कि एशिया में इस तरह के रण बांकुरे उन्होंने अन्य किसी जाति में नहीं देखे। और हिंदुओं के द्वारा यूनानी सेना की जो क्षति हुई थी, वैसी क्षति किसी अन्य जाति ने कभी नहीं की थी। प्राचीन भारतवासियों की रणदक्षता के बारे में अगर किसी को संशय हो तो उन्हें भारतवर्ष पर यूनानी वृत्तांतलेखकों के ग्रंथों का पाठ करना चाहिए।

भारतभूमि सर्वरत्न प्रसविनी है और अन्य देशों की लोभी दृष्टि उस पर टिकी रहती है। इसीलिए बराबर से नाना जातियां उत्तर पश्चिम के पर्वतीय द्वार से आकर भारत पर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा करती रही हैं। फारसियों समेत, यवन, वाहिलक, शक, हूण, अरबी, तुर्की— सभी आये हैं और सिंधु पार के या उसके किनारों के कुछ प्रदेशों पर कुछ दिनों के लिए कब्जा करने के बाद खदेड़े गये हैं। पंद्रहवीं शताब्दी तक आर्यों ने सभी जातियों को शीघ्र या विलम्ब से बाहर करके आत्मदेश की रक्षा की थी। पंद्रहवीं शताब्दी तक इस प्रबल जाति ने अटल रूप से आक्रमणकारियों का मुकाबला करके जिस प्रकार स्वतंत्रता की रक्षा की थी वैसी कोई दूसरी जाति पृथ्वी पर नहीं है, कभी थी भी इसमें संदेह है। दीर्घकाल तक हिंदुओं की समृद्धि जिस तरह अक्षय रही थी, उसका कारण निस्संदेह उनका बाहुबल ही था। और कोई दूसरा कारण दिखाई नहीं पड़ता। इन सभी प्रमाणों के सत्य होने के बावजूद बराबर यही सुनने को मिलता है कि हिंदू लोग युद्ध

1. बाद में अरबों और तुर्कों ने कुछ ही भूमि पर अधिकार मात्र किया था।

में पारंगत नहीं हैं। अदूरदर्शियों के बीच भारतवर्ष के इस चिरकलंक के तीन कारण हैं।

पहला— हिंदुओं का इत्तिवृत नहीं है, अपना बखान आप न करें तो भला दूसरा कौन करेगा? दुनिया का नियम यही है कि जो अपने को स्वयं महापुरुष कहकर परिचित नहीं कराता, उसे अन्य कोई मनुष्य नहीं मानता। किस जाति की सुकीर्ति कब दूसरी जाति द्वारा प्रचारित हुई है। रोम के लोग रणपंडित थे, इसका प्रमाण रोमनों द्वारा लिखित इतिहास है। यूनानियों के योद्धागुण का परिचय—यूनानियों के लिखे हुए ग्रंथ हैं। मुसलमान महारण कुशल हैं, यह बात भी केवल मुसलमानों की बातों पर भरोसा करके हम जान पाते हैं। लेकिन इस मामले में केवल हिंदुओं का कोई गौरव नहीं है, क्योंकि इस बात का साक्ष्य स्वयं हिंदुओं द्वारा प्रस्तुत नहीं किया गया है।

दूसरा कारण— वे सब जातियां जो राज्यों का अपहरण करने वाली रही हैं, केवल वही विजित जातियों के बीच रणकौशल से भरी हुई मानी गयी हैं। जो लोग केवल आत्मरक्षा से ही संतुष्ट होते रहे हैं और जिन्होंने दूसरे राज्यों का लोभ कभी नहीं किया, उनको कभी वीर होने का गौरव प्राप्त नहीं हुआ। न्याय के प्रति निष्ठा भी रखें और वीर होने का गौरव भी प्राप्त करें, ऐसा एक ही साथ कभी संभव नहीं होता। इसीलिए देसी भाषा में 'भले मानुष' का अर्थ है— भीरु स्वभाव का आदमी, अकर्मण्य। 'हरि बड़ा भला मानुष' है यानी बिलकुल ही बेकार है।

हिंदू राज्य, दूसरे राज्यों के प्रति कभी कोई लोभ ही नहीं रखते थे, हमारा कहना यह नहीं है। एक-दूसरे पर आक्रमण करने से वे कभी नहीं चूकते थे। लेकिन हिंदू राज्य कालीन भारतवर्ष, छोटे-छोटे मंडलों में विभक्त था। भारतवर्ष इतना विस्तृत है कि छोटे-छोटे मंडलाधिकारी राजा उस समय किसी दूसरे देश जाकर उस पर विजय करने की बात सोचते भी नहीं थे। उस काल में कोई भी हिंदू राजा अपने राज्य का विस्तार कर समग्र भारत को उसमें नहीं मिला सका। दूसरे, हिंदू लोग, यवन, म्लेच्छ प्रभृति अन्य धर्मावलंबी जातियों से खासकर घृणा करते थे, उनके ऊपर प्रभुत्व जमाने का कोई प्रयास करने की संभावना ही नहीं थी बल्कि इन देशों की जय-यात्रा पर निकलने से अपनी जाति-धर्म के विनाश की आशंका ही उनके मन में अधिक रहती थी। इसीलिए सक्षम होने के बावजूद हिंदुओं के भारतवर्ष के बाहर विजयाकांक्षा लेकर जाने की कोई संभावना ही नहीं थी। यह सही है कि आज के काबुल राज्य का अधिकतर भाग पहले हिंदू राज्य का ही

हिस्सा था, लेकिन यह प्रदेश उस समय भारतवर्ष का ही अंग माना जाता था।

प्राचीन हिंदुओं के तीसरे कलंक का कारण यह है— हिंदू बहुत दिनों तक पराधीन रहे हैं। और जो जाति बहुत दिनों तक पराधीन रही हो, उसकी वीरगाथा का क्या अर्थ रह जाता है। लेकिन यह बात आज के हिंदुओं की अवमानना का पर्याप्त कारण नहीं हो सकती। प्राय: अनेक देशों में ही यह स्थिति रही है कि प्राचीन और आधुनिक लोगों के बीच चरित्रगत सादृश्य नहीं मिलता। भारतवर्ष की इसी स्थिति के पक्ष में इटली और यूनान के उदाहरण दिये जा सकते हैं। मध्यकालीन इटली और वर्तमान यूनान के चरित्र के आधार पर प्राचीन रोमनों और यूनानियों को अगर कापुरुष घोषित किया जाये तो यह उनके प्रति अन्याय ही होगा। इसी तरह आधुनिक भारतवासियों की पराधीनता के आधार पर प्राचीन भारतीयों के बल को तौलना भी अन्याय होगा।

हम यह भी नहीं कह रहे हैं कि आधुनिक भारतवासी बिल्कुल कापुरुष हैं और इसीलिए इतने दिनों से पराधीन हैं। इस पराधीनता के दूसरे कारण हैं। हम इसके दो कारण विस्तार से यहां निर्दिष्ट कर रहे हैं।

पहला, भारतवासी स्वभाव से ही स्वाधीनता की आकांक्षा से रहित हैं। स्वदेशी, स्वजातीय लोगों का शासन ही हम पर हो, हम परजाति के शासनाधीन नहीं होंगे, इस तरह की बात भारतवासियों के मन में उठती ही नहीं है। स्वजातियों का राजशासन मंगलकर व सुखकारी है, परजाति का राजदंड पीड़ादायक और ह्रास का कारण है, यह बात उनके मन में अच्छी तरह बैठी हुई नहीं है। परतंत्रता की अपेक्षा स्वतंत्रता अच्छी है, उनके मन में इस तरह का बोध हो सकता है, लेकिन वह बोधमात्र है—यह ज्ञान आकांक्षा में परिणत नहीं हुआ है। अनेक चीजों की अच्छाई के बारे में हमें ज्ञान हो सकता हैं, लेकिन हमें उस अच्छाई को पाना भी है, इस तरह की आकांक्षा हमारे मन में सदैव जनमती नहीं है। कौन है जो हरिश्चंद्र की दान-चेतना या कार्शियस के देशप्रेम की प्रशंसा नहीं करता। लेकिन उनमें से कितने हैं जो हरिश्चंद्र की तरह सर्वस्व-त्याग या कर्शियस की तरह आत्मदान के लिए प्रस्तुत हों? प्राचीन और आधुनिक यूरोपीय जातियों में स्वातंत्र्यप्रियता की आकांक्षा बलवती रही है। उनका यह विश्वास है कि स्वतंत्रता का त्याग करने की अपेक्षा प्राणों एवं सर्वस्व का त्याग कर देना श्रेयस्कर है। हिंदुओं के साथ ऐसा नहीं है। उनका मानना है, 'चाहे जो राज करे हमें इससे क्या लेना-देना।' उनके लिए स्वजातीय राजा और परजातीय

राजा एक समान है। चाहे स्वजातीय हो या परजातीय, सुशासन करने पर दोनों एक बराबर है। स्वजातीय राजा सुशासन करेगा, परजातीय सुशासन नहीं करेगा, इसका क्या ठिकाना, और अगर इसका ठिकाना नहीं है तो फिर स्वजातीय राजा के लिए कौन प्राण दे? राज्य, राजा की संपत्ति है। वे उसे रख सकें तो रखें। हमारे लिए तो दोनों बराबर है। कोई हमारा खोया हुआ हिस्सा नहीं देगा, कोई चोर को पुरस्कृत नहीं करेगा। चाहे जो राज हो, हम उसके लिए अपनी अंगुली नहीं कटायेंगे।[1]

अब हम स्वातंत्र्यपरक अंग्रेजों के निकट शिक्षा प्राप्त कर, इन सभी चीजों से संबंधित भ्रम को देख पा रहे हैं। लेकिन यह अस्वाभाविक नहीं है, और इस भ्रांति का कुल अनुमान सहज ही नहीं लगाया जा सकता। स्वभावत: कोई जाति अपने असभ्य काल से भी स्वातंत्र्यप्रिय होती है, स्वभाववश कोई जाति सुसभ्य होने पर भी उसके प्रति आस्था शून्य होती है। इस संसार में अनेक वस्तुएं स्पृहणीय हैं लेकिन उनमें से सभी वस्तुओं के लिए सभी लोग यत्नवान नहीं होते। धन और यश— दोनों ही सपृहणीय हैं। लेकिन हम दुनिया भर में यह देखते हैं कि एक व्यक्ति धन संचय में रत रहता है, यश के लिए उसके मन में अनादर ही दीख पड़ता है, दूसरा व्यक्ति यश की लिप्सा रखता है और धन की ओर से उदासीन रहता है।

राम कृपणता की हद तक जाकर धनसंचय में ही जुटा रहता है, अपनी नीच प्रवृत्तियों के कारण अपना यश गंवा बैठता है, यह अपनी अमित धनराशि लुटाकर, अपने दानवान होने के कारण यश का संचय करता है। राम भ्रांत है कि यदु, इसका विश्लेषण सहज ही संभव नहीं है। हां, अंतत: इतना निश्चित है कि इन दोनों में से किसी के काम स्वभाव विरुद्ध नहीं हैं, बस शांति सुख के अभिलाषी हैं। यह जातिगत स्वभाव वैचित्र्य का ही नमूना है, विस्मय का विषय नहीं है।

---

1. हम ऐसा नहीं कहते कि भारतवर्ष में कभी कोई स्वातंत्र्य प्रेमी जाति नहीं थी। जिन लोगों को मेवाड़-राजपूतों की अपूर्व कहानी टॉड की पुस्तक से जानने को मिली है, वे जानते हैं कि इन राजपूतों से अधिक स्वातंत्र्योन्मत्त जाति संसार में कभी नहीं देखी गयी है। उस स्वातंत्र्य प्रियता का पल भी अद्भुत था। छोटा-सा राज्य होने के बावजूद 600 वर्षों तक मेवाड़ ने मुसलमान साम्राज्य के केंद्र में स्वाधीन हिन्दू का पताका फहराया था। अकबर बादशाह का बाहुबल भी मेवाड़ को ध्वंस करने में सक्षम नहीं हुआ। आजतक भी उदयपुर का राजवंश संसार में प्राचीन राजवंश के नाम से विख्यात है। मगर अब वो दिन नहीं रहा। वह राम भी नहीं है, वह अयोध्या भी नहीं है। ऊपर हमने जो भी कहा है, वह साधारण हिन्दू का यथार्थ है।

लेकिन बहुत से लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते। वे सोचते हैं कि अगर हिंदू पराधीन हैं, स्वाधीनता प्राप्ति के लिए उत्सुक नहीं हैं तो हिंदू अवश्य ही दुर्बल, रणभीरु, और स्वाधीनता प्राप्त करने में अक्षम होंगे। उनके ध्यान में यह बात नहीं आती कि हिंदू लोग साधारणतः स्वाधीनता प्राप्त करने के अभिलाषी ही नहीं हैं, उसके लिए यत्न ही नहीं करते। अभिलाषी या प्रयत्नशील होने पर वे अवश्य ही स्वाधीनता प्राप्त कर सकते हैं।

स्वातंत्र्य के प्रति अनास्था, केवल आधुनिक हिंदुओं का स्वभाव है, हमारा कहना यह नहीं कि यह हिंदू जाति का चिर स्वभाव लगता है। जो लोग यह सोचते हैं कि हिंदू सात सौ साल तक स्वातंत्र्य हीन रहने के कारण, अब स्वातंत्र्य के संबंध में आकांक्षा शून्य हो गये हैं, उनका अनुमान सही नहीं है— अयथार्थ है। संस्कृत साहित्य में कहीं पर भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है, जिसके आधार पर पहले के हिंदुओं को स्वाधीनता प्रयासी के रूप में सिद्ध किया जा सके। पुराणों और काव्य नाटकों आदि में कहीं पर भी स्वाधीनता का गुणगान नहीं है। मेवाड़ के अतिरिक्त कहीं यह देखने को नहीं मिलता कि कोई हिंदू समाज स्वातंत्र्य की आकांक्षा के कारण कहीं क्रियाशील हुआ हो। राजा के राज्य की संपत्ति की रक्षा के यत्न, वीरों के वीरदर्प, क्षत्रियों के युद्ध प्रयास–इन सबका पूर्ण उल्लेख मिलता है। लेकिन स्वातंत्र्य की लाभकांक्षा सभी जनों में नहीं दिखाई पड़ती। स्वातंत्र्य, स्वाधीनता, ये सब नयी बातें हैं।

भारतवासियों में स्वातंत्र्य के प्रति यह स्वाभाविक अनास्था क्यों रही है, इसके कारणों की खोज दुःसाध्य नहीं है। भारत भूमि की उर्वरताशक्ति और जलवायु का तापमान आदि इसके गौण कारण हैं। भूमि उर्वरा है, देश सभी सामग्रियों से परिपूर्ण है, किंचित प्रयास से ही जीवन निर्वाह हो जाता है। लोगों को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता, इसलिए यथेष्ट अवकाश रहता है। अधिक शारीरिक परिश्रम न करने पर मन की गति सहज ही आभ्यांतरिक हो जाती है, ध्यान और सोच-विचार का बाहुल्य हो जाता है। इसका परिणाम कविता और जगत-मीमांसा के रूप में होता है। इसीलिए हिंदू अल्पकाल में ही कवि और दार्शनिक हो सके थे। लेकिन मन की आभ्यांतरिक गति का दूसरा परिणाम यह होता है कि बाह्य सुखों की ओर से मन उचाट हो जाता है। बाह्य सुखों के प्रति अनास्था होने से निश्चेष्टा पैदा होती है। स्वातंत्र्य के प्रति अनास्था इस निश्चेष्टा का अंश मात्र है। आर्य धर्मतत्व में,

आर्य दर्शन शास्त्र में यही निश्चेष्टा सर्वत्र विद्यमान है। क्या वैदिक, क्या बौद्ध, क्या पौराणिक धर्म, सभी इस निश्चेष्टा को बढ़ाने वाले प्रतीत होते हैं। वेदों से वेदान्त सांख्यादि दर्शनों की उत्पत्ति हुई है, उनके अनुसार विलय या भोगशमन में ही मोक्ष है, निराकाम में ही पुण्य है। बौद्ध धर्म का सार है— निर्वाण में ही मुक्ति है।

यहां यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि यदि हिंदू जाति चिरकाल से स्वातंत्र्य की अवमानना करती रही है तो फिर मुसलमानों से विजित होने से पहले वह सहस्त्रों वर्षों से यत्नपूर्वक बार-बार कैसे परजाति से अपनी स्वाधीनता की रक्षा करती रही है? परजाति के लोग सहज ही हार मानने वाले या विमुख होने वाले नहीं हैं, उन्हें विमुख करने के लिए अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। जिस सुख के प्रति आस्था नहीं है, उस सुख के लिए हिंदू समाज ने इतने कष्टों को क्यों स्वीकार किया?

इसका उत्तर यही है कि हिंदू समाज शक हूणों आदि के विमुखीकरण के लिए कभी बहुत प्रयत्नशील रहा हो, इसका प्रमाण कहीं नहीं मिलता। हिंदू राज्य अपनी-अपनी राज्य संपत्ति की रक्षा के लिए यत्न करते थे, उनके द्वारा इकट्ठी की गयी सेनाएं, उनके लिए युद्ध करती थीं, जब भी संभव होता वे शत्रु को विमुख या परास्त करतीं, उसी से देश के स्वातंत्र्य की रक्षा होती थी, ऐसा नहीं था कि साधारण जन इसके लिए उत्साहित उद्यमशील होते रहे हों कि हम अपने देश में विदेशी राजा को शासन नहीं करने देंगे— ऐसी किसी बात के प्रमाण भी नहीं मिलते, बल्कि इसके ठीक विपरीत तथ्य मिलते हैं। जब भी रणलक्ष्मी की कोपदृष्टि से हिंदू राजा या हिंदू सेनापति मारे गये हैं, तब-तब हिंदू सेना ने युद्ध को बीच में ही छोड़कर पलायन किया है, और वे फिर युद्ध में शामिल नहीं हुए हैं। इसीलिए तो कि, सैनिक यह सोचने लगते थे कि अब किसके लिए युद्ध करें। जब भी हिंदू राजा मारे गये हैं या अन्य कारणों से राज्य रक्षा में निश्चेष्ट हुए हैं, तब-तब युद्ध की समाप्ति हुई है। उनकी जगह किसी अन्य ने स्वातंत्र्य रक्षा का उपाय नहीं किया है, साधारण समाज की ओर से आरक्षित राज्यरक्षा का कोई उद्यम नहीं हुआ है। जब-जब विधि के विधान से यवनों या फारसियों ने, शकों व वाह्निकों ने किसी प्रदेश के राजा को रण में पराजित किया है और उसके सिंहासन पर बैठे हैं, तब-तब प्रजाजनों ने उनको पूर्व प्रभु के बराबर का दर्जा देकर उनका समादर किया है, राज्यापहरण पर कोई आपत्ति नहीं की है। उन्होंने तीन हजार वर्षों से अधिक

के काल में, आर्यों के संग आर्यों, आर्यों के साथ भिन्न जातियों, भिन्न जातियों के संग भिन्न जातियों, मगध के साथ कान्यकुब्जों, कान्यकुब्जों के साथ दिल्ली, दिल्ली के साथ लाहौर, हिंदुओं के साथ पठानों, पठानों के साथ मुगलों की लड़ाई में चिर प्रज्ज्वलित समराग्नि से देश को दग्ध किया है। लेकिन ये सब लड़ाइयां राजाओं की आपसी लड़ाइयां थीं, साधारण हिंदू समाज ने कभी किसी का होकर, किसी के साथ युद्ध नहीं किया। हिंदू राज्य या हिंदुस्तान के राज्य बार-बार भिन्न जातियों द्वारा विजित हुए हैं, लेकिन साधारण हिंदू समाज कभी भी, किसी भी परजाति से पराजित हुआ हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साधारण हिंदू समाज ने कभी भी किसी परजाति के साथ युद्ध नहीं किया।

यह विचार करते हुए हिंदू जाति की दीर्घकालीन पराधीनता के दूसरे कारण तक भी हम आ पहुंचे हैं। यह कारण है, हिंदू समाज में एकता का अभाव, समाज में अपनी ही हितचिंता और प्रतिष्ठा का अभाव, या फिर और जो चाहे कह लें। हम इसी को सविस्तार यहां रखते हैं।

मैं हिंदू हूं, तुम हिंदू हो, राम हिंदू है, यह हिंदू है, और भी लाखों लाख हिंदू हैं। इन लाखों लाख हिंदुओं का जिसमें मंगल है, उसी में मेरा मंगल है। जिस चीज में उनका मंगल नहीं है, उसमें मेरा भी मंगल नहीं है। इसलिए समस्त हिंदुओं का जिस चीज में मंगल होता हो, उसे ही करना मेरा कर्त्तव्य है। जिसमें किसी हिंदू का अमंगल होता हो, वह मेरे लिए करणीय नहीं है। जिस प्रकार मेरा यह कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य है, तुम्हारा भी उसी प्रकार है, राम का भी उसी प्रकार है, यदु का भी उसी प्रकार है, समस्त हिंदुओं का भी उसी प्रकार है। अगर सभी हिंदुओं का कर्त्तव्य एक जैसा है, तब सभी हिंदुओं को एक जैसे परामर्श से, एक मतावलंबी होकर, एक साथ मिलकर ही कार्य करना है— यह ज्ञान तो अपने समाज की प्रतिष्ठा का प्रथम भाग है, उसका अर्द्धांश मात्र है।

हिंदू जाति से भिन्न इस पृथ्वी पर अन्य अनेक जातियां हैं। उनके मंगल मात्र से हमारा मंगल होना संभव नहीं है। अनेक चीजों में उनका मंगल हमारे अमंगल का कारण बन जाता है। जहां पर उनके मंगल के कारण हमारा अमंगल होता हो, वहां पर जिससे उनका मंगल न हो, हम वही करेंगे। इससे अगर परजाति का पीड़न करना पड़े तो भी करेंगे। यही नहीं, जैसे कि उनके मंगल से हमारा अमंगल हो सकता है, उसी तरह हमारे मंगल से उनका अमंगल हो सकता है। होता हो तो हो, हम उस कारण

अपनी जाति के मंगल साधन से विरत नहीं होंगे, पर जाति के अमंगल से अगर हमारा मंगल होता हो तो वह भी करेंगे। जाति-प्रतिष्ठा का यही द्वितीय चरण है।

हम पाते हैं कि इस तरह की मनोवृत्ति को निष्पाप या परिशुद्ध मानकर स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें भारी दोषयुक्त विकार हैं। इन्हीं विकारों के कारण जनसाधारण में इस तरह की भ्रांति पैदा होती है कि परजाति के मंगल मात्र से ही स्वजाति का अमंगल होता है, और परजाति के अमंगल मात्र से स्वजाति का मंगल होता है। इन कुसंस्कारों के वशीभूत होकर यूरोपियों ने अनेक दु:ख उठाये हैं। इसी के कारण अनेकों बार यूरोप को समराग्नि ने दग्ध किया है।

स्वजाति-प्रतिष्ठा चाहे अच्छी चीज हो या बुरी, जिस जाति में यह बलवती होती है उस जाति को अन्य जातियों की अपेक्षा प्रबलता मिलती है। आजकल यही ज्ञान यूरोप में खास तौर पर प्रधान है और इसके प्रभाव से वहां अनेकों विषम राज्य विप्लव घटित हुए हैं। इसी के प्रभाव से इटली एक राज्य में संयुक्त हुआ है। इसी के प्रभाव से विषम प्रभावशाली नूतन जर्मन साम्राज्य स्थापित हुआ है, और क्या-क्या होगा, कहा नहीं जा सकता।

हम यह नहीं कह रहे हैं कि भारतवर्ष में यह जाति-प्रतिष्ठा किसी भी काल में नहीं थी। यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धांत गढ़ा है कि आर्यजाति के लोग भारत में शुरू से नहीं रह रहे थे। बाहर से आकर इन्होंने भारत पर अधिकार जमाया था। आर्यों की प्रथम विजय के समय वेदों आदि की रचना हुई और उसी समय को विद्वान वैदिक काल कहते है। वैदिक काल में और उसके ठीक बाद में आर्यगणों के मध्य जाति प्रतिष्ठा विशेषरूप से बलवती थी, इसके अनेक प्रमाण वैदिक मंत्रादि में मिलते हैं। तत्कालीन समाज-नियंता ब्राह्मणों ने समाज को जिस रूप में विधिबद्ध किया था, वह भी इस ज्ञान का उद्गम स्थल है। आर्य वर्ण और शूद्र वर्ण में जो भेद नियमबद्ध हुआ है, वह भी इसी का परिणाम है। लेकिन क्रमश: आर्यवंश के विस्तार के साथ वह जाति प्रतिष्ठा बनी नहीं रह सकी। आर्यवंशियों ने विस्तृत भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों पर अधिकार करके जगह-जगह पर एक-एक खंड समाज की स्थापना की। इस तरह भारतवर्ष बहुसंख्यक खंड-समाजों में विभक्त हो गया। समाज भेद, भाषा भेद, आचार-व्यवहार के भेद आदि नाना तरह के भेद अंत में जाति भेद में परिणत हुए। बाह्लिक से पौंड्र तक, कश्मीर से चोल और पांड्या तक समस्त भारत भूमि

मधुमक्खियों के छत्ते की तरह नाना जाति, नाना समाजों से परिपूर्ण हो गयी। अंत में, कपिलवस्तु के राजकुमार द्वारा एक अभिनव धर्म की सृष्टि हुई, अन्यान्य प्रभेदों के साथ धर्मभेद का जन्म हुआ। भिन्न देश, भिन्न भाषा, भिन्न राज्य, भिन्न धर्म—इन सबके रहते हुए, एक जातीयत्व कैसे रह सकता था। सागर तल की मछलियों की तरह भारतवासी एकताशून्य बने रहे। बाद में मुसलमान आये। मुसलमानों की वंशवृद्धि होने लगी। कालांतर में एक के ऊपर एक उठती हुई सागर की लहरों की तरह नये-नये मुसलमान संप्रदाय उभरे और पर्वत पार करके भारत में आने लगे। देश के लोग राजा की अनुकंपा के लोभ में और शासन द्वारा पीड़ित किये जाने पर मुसलमान बनने लगे। अतएव भारतवासी मुसलमान हिंदुओं में मिश्रित हो गये। हिंदू, मुसलमान, मुगल, पठान, राजपूत, मराठा, एक साथ कार्य क्षेत्र में उपस्थित हो गये। ऐसे में जाति की एकता कहां रहती। एकता का ज्ञान-मान कैसे रहता?

इस भारतवर्ष में नाना जातियां हैं। निवास स्थान की भिन्नता, भाषा के प्रभेद, वंश के प्रभेद, धर्म के प्रभेद समेत विभिन्न जातियां—बंगाली, पंजाबी, तैलंगी, मराठी, राजपूत, जाट, हिंदू, मुसलमान— इनमें से कौन किसके साथ एकताबद्ध होगा। अगर धर्म की एकता है तो वंश की नहीं, वंशगत ऐक्य है तो भाषागत ऐक्य नहीं है, भाषागत ऐक्य है तो निवासगत ऐक्य नहीं है। राजपूत जाट एक धर्मावलंबी हैं पर भिन्नवंशी होने के कारण उनकी भिन्न जातियां हैं, बंगाली बिहारियों में जो एकवंशीय हैं, उनमें भाषाभेद के कारण भिन्न जातियां हैं, मैथिल कन्नौजी एक भाषी हैं पर निवास भेद के कारण भिन्न जातियों में बंटे हैं। केवल यही नहीं, भारतवर्ष इतना अदूरदर्शी है उसमें अगर किसी प्रदेश के लोग एक धर्म, एक भाषा, एक जाति, एक क्षेत्र का व्यवहार करते भी हैं तो उनमें भी जाति का एकताज्ञान नहीं है। बंगालियों में बंगाली जाति की एकता का बोध नहीं है, सिखों के बीच सिख जाति की एकता का बोध नहीं है। इसके विशेष कारण हैं। बहुत दिनों तक बहुसंख्यक भिन्न जातियां अगर एक बृहत साम्राज्य में विलीन हो जाती तो क्रमशः उनका जातिज्ञान लोप हो जाता है। जिस तरह भिन्न-भिन्न नदियों के स्रोत से निकली हुई जलराशि समुद्र में आकर विलीन हो जाती है, और फिर उनके बीच भेद नहीं किया जा सकता, वही बात एक बृहत साम्राज्य में विलीन होने वाली जातियों के साथ भी घटित होती है। उनका पार्थक्य समाप्त हो जाता है, इसीलिए उनमें एकता की भावना भी पैदा नहीं

होती। रोमन साम्राज्य में जातियों की यही दशा हुई थी। हिंदुओं के साथ भी यही हुआ है। भारतवर्ष में अनेक कारणों से जाति-प्रतिष्ठा लुप्त हो गयी है। इसके लोप हो जाने से हिंदू समाज द्वारा कोई जातीय कार्य भी संपन्न नहीं हुआ है। इसके लोप होने के कारण ही सभी जातियों के राजा हिंदू राज्य में बिना किसी विवाद के समाज द्वारा अभिनंदित हुए हैं। इसीलिए हिंदू समाज स्वातंत्र्य रक्षा की ओर कभी उद्यत भी नहीं हुआ है।

इतिहास में केवल दो बार हिंदू समाज में जाति प्रतिष्ठा का उद्यम हुआ है। एक बार महाराष्ट्र में शिवाजी ने इस महामंत्र का पाठ किया था। उनके सिंहनाद से महाराष्ट्र जागृत हुआ था। तब मराठों के बीच भ्रातृभाव का उदय हुआ था। इसी विस्मयकारी मंत्र के जोर से अविजित मुगल साम्राज्य मराठियों द्वारा विनष्ट हुआ था। चिरजयी मुसलमान, हिंदू द्वारा विजित हुआ था। समस्त भारतवर्ष महाराष्ट्र के वशीभूत हुआ था।

दूसरी बार ऐंद्रजालिक रणजीत सिंह ने यह संभव किया। जातीय बंधन दृढ़ होने से पठानों के स्वदेश के कुछ हिस्से हिंदुओं ने हस्तगत किये। सिंहनाद सुनकर, निर्भीक अंग्रेज भी कंपित हुए। लेकिन दुर्भाग्य से ऐंद्रजालिक मारा गया, और डलहौजी ने इंद्रजाल को तोड़ दिया। लेकिन रामनगर और जालियानवाला इतिहास में अंकित हो गये।

जब कुछ प्रदेशखंडों में जातिप्रतिष्ठा के उदय के ही ऐसे दूरगामी प्रभाव हुए तो जातिबंधन के और अधिक दृढ़ होने पर कितना कुछ और हो सकता था?

अंग्रेजों ने भारतवर्ष का परम उपकार किया है। अंग्रेजों ने हमें नई चीजें सिखाई हैं। जो हमें पहले कभी मालूम न था, वह हमें बताया है, जिसे हमने न कभी देखा था, न सुना था, न समझा था, उसे दिखाया, सुनाया और समझाया है, जिस पथ पर कभी हम चले नहीं थे, उस पथ पर किस तरह चलना चाहिए, यह हमें दिखा दिया है। इन सभी शिक्षाओं में से अनेक शिक्षाएं अमूल्य हैं। ये सब अमूल्य रत्न हमने अंग्रेज मनोचिकित्सक से प्राप्त किये हैं। इनमें से दो का हमने इस प्रबंध में उल्लेख किया है— स्वातंत्र्यप्रियता और[1] जातिप्रतिष्ठा का। ये चीजें क्या होती हैं, इसे हिंदू नहीं जानता था।

---

1. इस प्रबंध में जाति शब्द का अर्थ-प्रयोग राष्ट्रीयता (नेशनैलिटी) या राष्ट्र (नेशन) के अर्थ में हुआ है। उसे इसी रूप में लेना चाहिए।

बाद में अरबों और तुर्कों ने मात्र कुछ भूमि पर अधिकार किया था।

हमारा कहना यह नहीं है कि भारतवर्ष में कभी कोई जाति स्वतंत्रता की पुजारी नहीं थी। जो टाड के ग्रंथ से राजपूतों की अपूर्व कथा से परिचित हैं, उन्हें मालूम है कि इन राजपूतों से ज्यादा स्वातंत्र्यो-उन्मत्त जाति पृथ्वी पर कभी दिखाई नहीं पड़ी। इस स्वातंत्र्यप्रियता का परिणाम भी चमत्कारिक था। छोटा-सा राज्य होने के बावजूद मेवाड़, मुसलमान साम्राज्य के मध्यस्थान में स्वाधीन हिंदू राजपताका छह-सात वर्षों तक फहराता रहा है। अकबर बादशाह का बाहुबल भी मेवाड़ को ध्वंस करने में सक्षम नहीं हुआ। आज भी उदयपुर का राजवंश पृथ्वी के प्राचीन राजवंश के रूप में विख्यात है। किंतु अब वे दिन नहीं रहे। वे राम भी नहीं रहे और वह अयोध्या भी नहीं रही। ऊपर हमने जो कुछ कहा है, वह सामान्य हिंदू से संबंधित यथार्थ कथन है।

(1279, वैशाख। 'विविध प्रबंध')

बंगदेश का कृषक

'बंगदेशेर कृषक' (बंगदेश का कृषक) में यहां के कृषकों की जो अवस्था वर्णित है, वह अब वैसी नहीं रही। जमींदारों का अत्याचार अब उस रूप में नहीं है। नये कानूनों के अनुसार उनकी क्षमता भी कम हो गयी है। अब तो कई जगहों पर यह भी दिखाई पड़ रहा है कि प्रजा ही अत्याचारी है और जमींदार दुर्बल। इन्हीं सब कारणों से इतने दिनों तक मैंने यह प्रबंध पुनर्मुद्रित नहीं किया था। अब मैं इसे पुनर्मुद्रित कर रहा हूं तो उसके अनेक कारण हैं। (1) इससे देश (यानी बंगदेश यानी बंगाल—अनु.) की जो अवस्था पच्चीस वर्ष पहले थी, उसकी जानकारी मिलती है। भविष्य में यह इतिहास वेत्ताओं के काम आ सकती है। (2) इसके बाद कृषकों की अवस्था परिवर्तित होने लगी थी। अब कृषकों की जो उन्नति हुई है, उसका सूत्रपात इसके साथ हुआ था, इसीलिए यह प्रबंध पुनर्मुद्रित होने का दावेदार भी कहला सकता है। (3) इसमें कृषकों की जो अवस्था वर्णित है, वह कई प्रदेशों में अभी भी अपरिवर्तित है। उत्पात की जितनी कथाएं हैं वे सब कुछ स्थानों पर दबी नहीं हैं। (4) यह प्रबंध जब प्रकाशित हुआ था तब इसने कुछ यश लाभ किया था और (5) मैंने बंगदर्शन में 'साम्य' नामक एक रचना लिखी थी और उसे बाद में पुनर्मुद्रित कराया था। 'बंगदेशेर कृषक' को फिर पुनर्मुद्रित नहीं कराऊंगा, ऐसा सोचकर उसके कुछ अंश 'साम्य' में सम्मिलित कर लिये थे। अब 'साम्य' नाम की वह पुस्तक अनुपलब्ध है, इसीलिए 'बंगदेशेर कृषक' को पुनर्मुद्रित करने का यह भी एक कारण है।

इसमें अर्थशास्त्र की कई बातें हैं, जिन्हें अब मैं भ्रमशून्य नहीं मानता। लेकिन अर्थशास्त्र संबंधी कौन सी चीज भ्रांति भरी है और कौन सी चीज ध्रुवसत्य हैं, यह निश्चित करना दु:साध्य है। इसीलिए इसमें किसी तरह के संशोधन का प्रयत्न नहीं किया।

प्रथम परिच्छेद

देश की श्रीवृद्धि

आजकल यह शोर काफी सुनाई पड़ता है कि हमारे देश की श्रीवृद्धि हुई है। अब तक हमारा देश पतन की ओर जा रहा था और अब अंग्रेजों के शासन कौशल से हम सभ्य हो रहे हैं। हमारे देश का बहुत मंगल हो रहा है।

कैसा मंगल, देख नहीं पा रहे हैं? यह देखो, लौह पटरी पर लौह तुरंग करोड़ों उच्चैश्रवाओं की शक्ति का अतिक्रमण कर एक महीने में तय होने वाली दूरी एक दिन में तय कर रहा है। यह देखो, भागीरथी की जिन उत्ताल तरंगों में बड़े-बड़े दिग्गज डूब गये थे, उसमें हंस की नाईं क्रीड़ा करती हुई अग्निमयी नौका-व्यापार की वस्तुएं लादे बहती हुई जा रही है। काशी में आपके पिता आज सुबह एक सांघातिक रोग से ग्रस्त हो गये हैं— आकाश से उतरकर बिजली ने आपको यह संदेश दिया और रात में उनके पैरों के पास बैठकर आपने उनकी सुश्रुआ आरंभ कर दी। पहले इस रोग का कोई इलाज संभव नहीं था, अब नवीन चिकित्साशास्त्र के बल पर डाक्टरों ने इसका इलाज कर दिया। जो भूमिखंड नक्षत्रमय आकाश की भांति अट्टालिकामय होकर चमक रहे हैं, पहले वहां बाघ और उल्लुओं का निवास था। यह जो राजपथ देख रहे हैं, पचास वर्ष पहले इस स्थान पर कीचड़ में पैर फिसलने से पांव टूट सकता था या फिर दस्युओं के हाथ पड़ने पर प्राण त्यागने पड़ सकते थे; अब वहां गैस के प्रभाव से कोटियों चंद्र जगमगा रहे हैं। आपकी रक्षा के लिए पहरेदार हैं, आपको ले जाने के लिए गाड़ी खड़ी है। जहां आप बैठे हुए हैं, उस स्थान को भी देखिये। जहां पहले फटा हुआ टाट था या टूटी हुई चारपाई थी, अब वहां कालीन है, कोच है, मार्बल और अलाबांस्टर हैं— और क्या-क्या गिनायें? जो बाबू अब दूरबीन से वृहस्पति (गुरु) के उपग्रहों के ग्रहण को देख रहे हैं, अगर वे पचास वर्ष पहले पैदा हुए होते तो अब तक चावल, केले, धूप

दीप से ही वृहस्पति की पूजा कर रहे होते। और हतभाग्य मैं जो आज कुर्सी पर बैठकर फुलस्केप कागज पर बंगदर्शन के सामाजिक विषयों पर आलेख लिख रहा हूं, अगर मैं सौ वर्ष पहले पैदा हुआ होता तो फर्श पर पशुविशेष की तरह बैठकर, पोथी पर नाक गड़ाकर, खच-खच कर रहा होता। तब क्या देश का बड़ा मंगल होता? देश का बड़ा मंगल तो अब हुआ है—आप लोग इस मंगल के लिए एक बार जयध्वनि करें।

मंगल के इस शोर-शराबे के बीच मेरा एक सवाल है, किसका कितना मंगल हो रहा है। हासिम शेख और रामा केवट दोपहर की धूप में, खुले सिर, नंगे पांवों घुटनों तक कीचड़ में अपनी दो हड्डी पसली के साथ हल चलाते हैं, क्या उनका मंगल हुआ है? उनका इस कड़ी धूप में माथा फटा जा रहा है, प्यास से छाती फट रही है, उसे बुझाने के लिए वह मटमैला पानी पी रहे हैं, भूख से तड़प रहे हैं, लेकिन अभी घर जाकर वह खाना नहीं खा सकते, क्योंकि यह खेतों में हल चलाने का समय है। संध्याबेला घर जाकर वह पत्थर के टुकड़ों के रंग वाले बड़े-बड़े चावल नमक और मिर्च के साथ आधा पेट खायेंगे। उसके बाद टूटी हुई चारपाई पर, या जमीन पर, उसी जगह एक ओर सो रहेंगे जहां गाय-भैंसें भी बंधती हैं—उन्हें मच्छर नहीं काटते। फिर अगले दिन वह घुटनों तक कीचड़ में काम करने के लिए जायेंगे— जाते समय, जमींदार या महाजन उन्हें रास्ते से ही देनदारी के लिए पकड़कर मंगायेंगे, बैठा रखेंगे, काम नहीं होगा। या फिर फसल के समय जमींदार जमीन पर कब्जा कर लेंगे, ऐसा होने पर वह उस बरस क्या करेगा। उपवास ही न, सपरिवार उपवास! नाक पर चश्मा चढ़ाये हुए बाबू, बताओ तो इनका क्या मंगल हुआ है? आपने लिखना-पढ़ना सीखकर इनका कौन-सा मंगल किया है। और आप अंग्रेज बहादुर, जो मेज के ऊपर एक हंस-पंख पकड़कर सृष्टि को ही घुमा देने की कल्पना कर रहे हैं और दूसरे हाथ से भ्रमर-कृष्ण दाढ़ी को सहला रहे हैं—आप बतायें, आप के द्वारा इस हासिम शेख और रामा केवट का क्या उपकार हुआ है?

मैं बताऊं, अणु मात्र भी नहीं, कण मात्र भी नहीं। अगर यह नहीं हो रहा, तब मैं आपकी मंगल बेला की हुलूध्वनि नहीं करूंगा। देश का मंगल? देश का मंगल, किसका मंगल? हम अपना-अपना मंगल देख रहे हैं लेकिन क्या मैं और आप देश हैं? हम आप देश के कितने लोग हैं? और यह कृषिजीवी, ये कितने हैं? अगर उनको छोड़ दें तो देश में कितने जन

बचते हैं। हिसाब लगाकर देखें तो उन्हीं से तो यह देश बना है—देश के अधिकांश लोग कृषिजीवी ही हैं। आप और मेरे द्वारा कोई कार्य संभव है? लेकिन अगर समस्त कृषिजीवी अपना काम छोड़ दें तो कौन कहां रहेगा? फिर क्या होगा? जहां उनका मंगल नहीं है, वहां देश का भी मंगल नहीं है।

देश की श्रीवृद्धि हो रही है, यह स्वीकार करता हूं। हम इस प्रबंध में एक उदाहरण देकर शुरू में ही यह बतायेंगे कि देश की किस प्रकार की श्रीवृद्धि हो रही है। बाद में यह बतायेंगे कि उस श्रीवृद्धि में कृषकों को कोई हिस्सा नहीं मिल रहा है। फिर यह बतायेंगे कि इसमें किसका दोष है।

ब्रिटिश लोगों के कब्जे में राज्य सुशासित है। अब बाहर से आकर अन्य विदेशी जातियां लोगों को प्रताड़ित कर इस देश का धन धान्य लूटेंगी, ऐसी आशंका नहीं होती। स्वदेशीय और स्वजातीय भी इस मामले में काफी निश्चित हुए हैं कि उनका संचित धन अपने ही लोग अपहृत नहीं करेंगे। अब डकैती और चोरी का पहले जितना भय नहीं रहा और यह भय भी कम हुआ है कि दुर्बल की संपत्ति को कोई बलपूर्वक हथिया लेगा। अब वे दिन भी नहीं रहे जब राजा या राजपुरुष छल-बल-कौशल से प्रजा का सर्वस्व अपहरण कर लिया करते थे। यदि अब कोई अर्थ-संचय की इच्छा रखता है तो उसे यह भरोसा रहता है कि वह उसका उपभोग कर सकेगा, यही नहीं उसके उत्तराधिकारी भी उसका उपभोग कर सकेंगे। जहां लोगों को इस प्रकार का भरोसा रहता है, वहां लोग संसारी होते हैं। जहां परिवार के लालन-पालन के संबंध में अनिश्चितता रहती है, वहां लोग संसार-धर्म से अनासक्त हो जाते हैं। साधारण लोग विवाहादि में अगर रुचि लेते हैं तो जनसंख्या में वृद्धि होती है। इसीलिए ब्रिटिश शासन में जनसंख्या में वृद्धि हुई है। जनसंख्या में वृद्धि के कारण, कृषिकार्य का विस्तार हुआ है। जिस देश में मात्र लाख लोगों के लिए आहारोपयोगी अनाज की ज़रूरत हो, उसमें वाणिज्यिक प्रयोजनों के लिए उपजाये गये अन्न को छोड़कर, केवल उतनी ही भूमि गोड़ी-बोयी जायेगी, क्योंकि अनावश्यक अनाज, जिसे कोई खायेगा नहीं, फेंक देना पड़ेगा। तो फिर क्यों परिश्रम करके उसका उत्पादन किया जाय? ऐसी स्थिति में शेषभूमि बंजर या जंगल के रूप में, या किसी ऐसी ही अवस्था में पड़ी रहेगी। लेकिन प्रजावृद्धि (आशय जनसंख्या वृद्धि से है— अनु.) के साथ वही लाख लोग जब डेढ़ लाख हो जायेंगे तब

और अधिक भूमि को आबाद करना ही पड़ेगा। क्योंकि लाख लोगों के लिए उत्पन्न अनाज से जितने लोगों का भरण-पोषण हो पा रहा था, उतने अनाज से डेढ़ लाख लोगों का आजीवन भरण-पोषण हो ही नहीं सकता। इसीलिए जनसंख्या में वृद्धि होने से फसल में भी वृद्धि करनी होगी। जो जमीन पहले बंजर या जंगल थी, उसे क्रमश: आबाद करना होगा। ब्रिटिश शासन में जनसंख्या वृद्धि होने से यही हुआ है। बहुत दिनों से चले आ रहे भूमि बंदोबस्त की अपेक्षा अब अधिक भूमि गोड़ी-बोयी जा रही है।

एक और कारण से कृषि में वृद्धि हुई है। यह दूसरा कारण है—वाणिज्य वृद्धि। वाणिज्य विनिमय मात्र है। अगर हम इंग्लैंड से वस्त्रादि लेते हैं, तो उसके बदले में हमें कुछ सामग्री इंग्लैंड भेजनी होगी, नहीं तो हमें वस्त्र नहीं मिलेंगे। हम क्या भेज सकते हैं? कई लोग इसके जवाब में कहेंगे, 'रुपया', लेकिन वह चीज रुपया नहीं हो सकती। यह तो हमारे देश के लोगों का भ्रम है कि रुपया भेजने से काम चल जयेगा। यह सही है कि भारतवर्ष से कुछ रुपया-पैसा इंग्लैंड जाता है— यह वह रुपया है जो भारत से व्यापार करने पर इंग्लैंड को जो मुनाफा होता है वह रुपया इंग्लैंड से प्राप्त होने वाली सामग्री के किसी अंश का मूल्य नहीं है। अगर विवेचना करें तो वैसा होने पर भी कोई हानि न थी। ज्यादातर हम जो चीजें भेजते हैं वे कृषि उत्पादों से ही संबंधित है— यथा चावल, रेशम, कपास, पटसन, नील इत्यादि। यही कहना पर्याप्त होगा कि जिस परिमाण में वाणिज्य वृद्धि होगी, उसी परिमाण में इन सभी कृषि-उत्पादों की अधिक जरूरत हमें होगी। इसलिए देश की कृषि में भी बढ़ोतरी होगी। ब्रिटिश राज्य के बाद से इस देश का व्यापार बढ़ रहा है— इसीलिए साल दर साल विदेश भेजने के लिए कृषि-उत्पादों की जरूरत बढ़ रही है, इसी अनुपात में इस देश में प्रतिवर्ष खेती भी बढ़ रही है।

खेती बढ़ने के परिणाम क्या हैं? देश के धन में वृद्धि, उसकी श्रीवृद्धि। अगर पहले 100 बीघा जमीन में खेती करने पर वर्ष में 100 रुपए मिलते थे तो 200 बीघे में खेती करने पर न्यूनाधिक[1] 200 रुपए मिलेंगे, और 300 बीघे में खेती करने पर 300 रुपए प्राप्त होंगे। बंगदेश में दिन पर दिन खेती में वृद्धि होने से देश के कृषि-उत्पादों से अधिक धन मिल रहा है।

---

1. समाजशास्त्री इसे समझेंगे, यहां 'न्यूनाधिक' शब्द का व्यवहार करने का विशेष तात्पर्य है। लेकिन साधारणत: इस प्रबंध में इसकी व्याख्या करने का अवकाश नहीं है।

एक बात और है। सभी बहुत दु:ख के साथ कहते हुए मिलेंगे कि अब जिंदगी का बोझ बढ़ता जा रहा है— चीजें बड़ी महंगी हो गयी हैं। यह कहकर बहुत से लोग यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि, देश के लिए वर्तमान समय बहुत खराब है, अंग्रेजी राज प्रजापीड़क राज है, या कलियुग अत्यंत धर्मभ्रष्ट युग है— देश गर्त में जा रहा है। यह बहुत बड़ा भ्रम है। इसे सभी सुशिक्षित जानते हैं। वास्तव में आज चीजों की बढ़ी हुई कीमतें, देश के अमंगल का चिंह नहीं हैं बल्कि एक मंगल की ही सूचक हैं। यह सही है कि पहले जहां आठ आने में एक टन चावल मिलता था, वहां अब एक टन के लिए ढ़ाई रुपए लगते हैं, जहां एक रुपए में तीन सेर घी मिलता था वहां अब तीन पाव पाना मुश्किल है। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वस्तुत: चावल या घी महंगे हो गये हैं। रुपया सस्ता हुआ है, यही मानना चाहिए। बहरहाल, एक रुपए में मिलने वाला धन अब दो-तीन रुपए में मिलता है, इसमें संदेह नहीं।

इसका परिणाम यह है कि जिस भूमि से किसान एक रुपया पैदा करता था, उसी भूमि से दो तीन रुपए उत्पन्न कर रहा है। जिस भूमि से 10 रुपए मिलते थे उससे 20 या 30 रुपए मिल रहे हैं। बंगदेश में सर्वत्र ही या अधिकांश स्थानों में यही घटित हुआ है, इसीलिए इस कारण से बंगदेश के कृषि-उत्पादों की वार्षिक आय में वृद्धि हुई है।

यह तो पहले ही सप्रमाण बताया जा चुका है कि खेती योग्य भूमि में वृद्धि हुई। यानी दो प्रकार से कृषि जन्य आय में वृद्धि हुई है, पहला, खेती योग्य भूमि की अधिकता से, दूसरे फसल की मूल्य वृद्धि से। जहां पहले एक बीघा जमीन में तीन रुपए की फसल होती थी, वहीं उसी एक बीघे में छह रुपए की फसल हो रही है और, एक और बीघा बंजर भूमि के आबाद होने से और छह रुपए की फसल होने लगती है, यानी कुल मिलाकर तीन रुपए की जगह बारह रुपए मिल रहे हैं।

इस प्रकार चिरस्थायी भूमि बंदोबस्त के जमाने की तुलना में अब तीन चार गुना वृद्धि हो गयी है, यह कहें तो अत्युक्ति न होगी। यह जो अतिरिक्त धन है, वह किसके घर में जाता है। उसे कौन लेता है?

यह धन कृषिजन्य है—कृषकों का ही प्राप्य है—पाठक तत्काल यही सोचेंगे कि यह कृषकों को ही मिलता होगा। लेकिन वास्तव में वह उन्हें नहीं मिलता। तब किसे मिलता है, यही आपको बता रहा हूं।

कुछ राजभंडार में जाता है। सन् 1870-71 में कलकत्ता रेवेन्यू बोर्ड से जो विज्ञप्ति प्रचारित हुई है, उसमें कार्याध्यक्ष साहब ने लिखा है, सन 1793 में चिरस्थायी बंदोबस्त के समय जिस प्रदेश से 2,85,87,722 रुपए राजस्व की वसूली होती थी, उसी प्रदेश से अब 3,50,41,248 रुपए राजस्व की प्राप्ति हो रही है। अनेक लोग अवाक् होकर यह सवाल करेंगे कि जो कर बराबर के लिए निश्चित हो चुका था, उसमें वृद्धि कैसी? शॉक साहब ने वृद्धि के सब कारण बताये हैं— यथा, तौफी बंदोबस्त, 'कृषि योग्य' भूमि पर कर—कई लोग कहेंगे, यह सब वृद्धि जो होनी थी हो चुकी, अब और बहुत वृद्धि नहीं होगी। लेकिन शॉक साहब ने यह भी दर्शाया है कि यह वृद्धि नियमित रूप से हो रही है। अब गवर्नमेंट को पहले के निर्धारित करों से अधिक साढ़े बासठ लाख रुपए मिल रहे हैं, वे सब कृषि-जन्य धन से ही प्राप्त हो रहे हैं।

यह धन अन्यान्य रास्तों से भी राजभंडार में जाता है। अफीम से होने वाली आय भी अधिकांशत: कृषि जनित ही है। कस्टम हाउस के दरवाजे से भी राजभंडार में काफी कृषि-जनित धन जाता है।

शॉक साहब का कहना है, यह कृषि-जनित धन वृद्धि अधिकांशत: वणिकों एवं महाजनों के हाथों में पहुंचती है। वणिक एवं महाजन संप्रदाय इसका कुछ अंश हथिया लेता है, इसमें संदेह नहीं। कृषकों की संख्या बढ़ी है, इसलिए महाजनों का लाभ भी बढ़ा है। और जो वणिक खेतों से फसल लाकर बाजार में बेचते हैं, उन्हें कृषि-जनित धन का कुछ अंश लाभस्वरूप मिलता है, इसमें भी संदेह नहीं है। लेकिन कृषिजनित धन की बढ़ोतरी का अधिकांश वणिकों के हाथ में ही जाता है, यह तो शॉक साहेब का भ्रममात्र है। लेकिन यह भ्रम केवल शॉक साहेब को ही नहीं है। 'इकॉनामिस्ट' का भी यही मत है। 'इकॉनामिस्ट' का यह भ्रम 'इंडियन आब्जर्वर' ने तोड़ दिया है। उस तर्क को यहां दुहराने की जरूरत नहीं है।

अधिकांश रुपए भूस्वामी के हाथों में ही जाते हैं। भूमि पर अधिकांश कृषकों का अधिकार अस्थायी ही है; जमींदार चाहने पर उन्हें हटा सकते हैं। दखल का अधिकार अनेक स्थानों पर आकाश-कुसुम भर है। जहां पर कानून के तहत प्रजा का अधिकार है भी, वहां वह कार्यरूप में परिणत नहीं हो पाता। अधिकार हो चाहे नहीं, जमींदार जब भी उन्हें हटाना चाहें, कृषकों को हटना पड़ता है। प्रजा में से कितने ऐसे हैं जो जमींदार के साथ विवाद करके अपने घर में टिके रह सकते हैं। इसीलिए जिससे अधिक आय होगी, जमींदार उन्हें ही खेती करने देंगे। हम पहले ही कह चुके हैं

कि जनसंख्या में वृद्धि हो रही है। इसके कोई विशेष प्रमाण भले न हों[1] किंतु यह अनुभव द्वारा सिद्ध तथ्य है। जनसंख्या में वृद्धि होने से जमीन की वसूली भी बढ़ती है। जिस भूमि के लिए पहले एक प्रार्थी था, जनसंख्या में वृद्धि होने से उसी के लिए दो प्रार्थी खड़े हुए मिलेंगे। जो अधिक रकम देगा, उसी को जमींदार जमीन देगा। रामा केवट की जमीन अच्छी है, वह एक रुपए की दर से राजस्व दे रहा है। हासिम शेख को वह जमीन चाहिए— वह डेढ़ रुपए की दर पर उसे लेने को तैयार है। जमींदार रामा को जमीन छोड़ने के लिए कहेगा। अगर रामा के पास दखल का अधिकार नहीं है तो वह वैसे ही जमीन छोड़ देगा।

अधिकार है भी तो वह क्या करेगा? पानी में रहकर मगर से बैर किस प्रकार करेगा? अपने अधिकार को विसर्जित कर वह भी हट जायेगा। जमींदार को हर बीघे के पीछे आठ आने अधिक मिल जायेंगे।

इस तरह चिरस्थायी बंदोबस्त के बाद किसी न किसी समय पर, किसी न किसी सुयोग से देश की अधिकांश भूमि की दर में वृद्धि हुई है। कानून और अदालत द्वारा निर्धारित आवश्यक करों के कारण भूमि की दर में वृद्धि नहीं हुई है बल्कि जिस तरह ग्राहकों में वृद्धि होने के कारण झींगा-परवल की कीमत बढ़ जाती है, उसी तरह जनसंख्या में वृद्धि होने से जमीन की दर बढ़ गयी है। यह वृद्धि, जमींदार के पेट में ही गयी है।

बहुत से लोग तमतमा कर इन सारी बातों को अस्वीकार करेंगे। वे कहेंगे, कानून है, बाजार भाव है, कोई मनमानी नहीं है, जमींदार का दयाधर्म है। कानून— वह तो एक बड़ा तमाशा भर है— बड़े आदमी ही पैसा खर्च करके यह तमाशा देखते हैं। बाजार भाव किस प्रणाली से बढ़ गया है, यह हम बता ही चुके हैं। और जमींदार का दयाधर्म—जब स्क्रू और नहीं घूमता, तब लोगों में दया-धर्म का अविर्भाव होता है।[2] बंगदेश की जमीन से जो अतिरिक्त आय होनी शुरू हुई है, वह भूस्वामियों ने ही हथिया ली है। चिरस्थायी बंदोबस्त के समय जमींदारों की जो मोटी आय थी, वह अनेक जगहों पर तिगुनी-चौगुनी हो गयी है। कहीं-कहीं तो दसगुना हो गयी है। ऐसी जमींदारियां कम ही हैं, जहां यह आय बिलकुल न बढ़ी हो।

---

1. जब यह निबंध लिखा गया था तब तक जनगणना हुई नहीं थी।
2. हम मुक्तकंठ से यह स्वीकार करते हैं कि सभी भूस्वामियों का चरित्र ऐसा नहीं है। बहुत से लोगों में यथार्थ दया-धर्म है।

हमने यह दिखाया कि इस कृषि धन की वृद्धि का हिस्सा राजा को मिलता है, भूस्वामी को मिलता है, वणिक और महाजन को मिलता है—लेकिन किसान को क्या मिलता है?

हम यह नहीं कहते कि, उसे कुछ भी नहीं मिलता। बूंद बराबर उसे भी मिलता है। लेकिन उसे यह जो हिस्सा मिलता है, उससे उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता। आज भी फसल उगाकर भी वह दो जून का भोजन नहीं जुटा पाता। इसीलिए जो सामान्य भाग कृषक संप्रदाय को मिलता है, वह कुछ न पाने के बराबर ही है। जिसके पसीने से फसल लहलहाती है वह हिस्सा-बांट के समय एक तरफ कर दिया जाता है।

हमने यह बताया कि देश की अत्यंत श्रीवृद्धि हुई है। कृषि लक्ष्मी असाधारण रूप से प्रसन्न हैं। उन्हीं की कृपा से देश में अर्थ की वर्षा हो रही है। इस अर्थ को राजा, भूस्वामी, वणिक, महाजन—सभी बटोर रहे हैं। इस श्रीवृद्धि से राजा, भूस्वामी, वणिक, महाजन— सबकी श्रीवृद्धि हो रही है। केवल कृषक की श्रीवृद्धि नहीं हो रही। हजार लोगों में केवल नौ सौ निन्यानवे लोगों की श्रीवृद्धि नहीं हो रही। इस प्रकार की श्रीवृद्धि के लिए जिनको जयध्वनि करनी है करें, मैं नहीं करूंगा। इन नौ सौ निन्यानवे लोगों की श्रीवृद्धि देखे बिना, मैं किसी का भी जयगान नहीं करूंगा।

द्वितीय परिच्छेद

जमींदार

जीव का शत्रु जीव है; मनुष्य का शत्रु मनुष्य है; बंगाली कृषकों का शत्रु बंगाली भूस्वामी है। बाघादि बड़े जंतु है, बकरियों आदि छुद्र जंतुओं का वे भक्षण करते हैं, जमींदार नाम का बड़ा आदमी, कृषक नामक छोटे आदमी का भक्षण करता है। यह सही है कि वे वस्तुत: कृषकों का शिकार करके उन्हें उदरस्थ नहीं करते लेकिन जो कुछ वह उनके साथ करते हैं, उसकी अपेक्षा छाती का खून पीना तो दया का ही काम माना जायेगा। कृषकों की अन्यान्य विषयों में चाहे जैसी दुर्दशा हो, लेकिन ऐसा भी नहीं है कि इस सर्वरत्न प्रसविनी वसुमती को जोत-बोकर वे अपना भरण-पोषण नहीं कर सकते। किंतु वैसा हो नहीं पाता, कृषक अगर पेट भर खाने लगेगा तो जमींदार रुपयों के ऊपर रुपयों का ढेर कैसे लगा पायेगा। इसीलिए वह कृषकों को भर-पेट खाने नहीं देता।

हम जमींदार विद्वेषी नहीं हैं। किसी जमींदार ने कभी हमारा कोई अनिष्ट नहीं किया। बल्कि हम तो कई जमींदारों को प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं। जिन सुहृद्गणों की प्रीति की गिनती हम संसार के प्रमुख सुख के रूप में करते हैं, उनमें से कई जमींदार हैं। जमींदार बंगाली जाति के मुकुट हैं, उनका प्रीतिभाजन भला कौन नहीं होना चाहेगा। लेकिन हम जो कहने जा रहे हैं, उससे उनका प्रीतिभाजन होना तो दूर रहा, आशंका इसी बात की है कि जो मेरी बात को ठीक से नहीं समझेंगे, मैं कहीं उनके लिए अप्रिय न बन जाऊं। अगर ऐसा हुआ तो हमें बहुत दुख होगा। लेकिन कर्तव्यवश हमें उसे भी स्वीकार करने के लिए तैयार होना पड़ा है। बंगीय कृषक निस्सहाय हैं, मनुष्यों के बीच वे नितांत दुर्दशा-ग्रस्त हैं और उन्हें यह भी नहीं पता कि समाज के सामने अपने दुख को किस प्रकार रखें। यदि मूक व्यक्ति के दुख को देखकर उसके निवारण के लिए कुछ नहीं कहता तो महापाप का भागी होऊंगा। हो सकता है हम इस प्रबंध के लिए समाजश्रेष्ठ

भूस्वामियों के कोप के भाजन हो जाएं—बहुतों के निकट तिरस्कृत, उपेक्षित, हास्यास्पद बन जायें और उनकी भर्त्सनाओं का शिकार बनकर अमर्यादित कहलायें— बंधु वर्ग के मध्य अलोकप्रिय हो जायें। हो सकता है कोई हमें मूर्ख, कोई विद्वेषी, कोई मिथ्यावादी ठहराये। यह सब होता है तो हो। यदि इस भय से 'बंगदर्शन' कातर बनकर कातरों की बात सामने न रखे—पीड़ितों की पीड़ा को दूर करने का यत्न न करे, यदि किसी दबाव में आकर सच कहने से विमुख हो जाये, तो 'बंगदर्शन' बंगभूमि से जितनी जल्दी लुप्त हो जाये, उतना ही अच्छा हो। जिस कंठ से कातर के लिए कातर वाणी नहीं फूटती, वह कंठ अवरुद्ध हो जाये। जो लेखनी आर्तजनों के हित की बात नहीं लिखती, वह लेखनी निष्फल हो जाये। जो नीच हैं, वे जो चाहें कहें, हम आगे-पीछे नहीं देखेंगे। बस यही भीख मांगता हूं, कि जो बड़े हैं, वे हमें भ्रांत मानकर क्षमा कर देंगे। हम जान बूझकर कोई अयथार्थ बात नहीं कहेंगे, उल्टे जो हमें हमारी भूल दिखा देंगे, उसे कृतज्ञ होकर स्वीकार करेंगे। जब तक हमें अपनी बात में कोई भूल दिखाई नहीं देगी, तब तक जो कुछ कहेंगे, मुक्त कंठ से कहेंगे।

प्रमुख रूप से हमारा आशय यही है कि हम जो कुछ कह रहे हैं, वह 'जमींदार संप्रदाय' के संबंध में नहीं कह रहे हैं। अगर कोई यह कहे कि जमींदार होता ही दुरात्मा या अत्याचारी है तो वह निहायत झूठा है। कई जमींदार सदाशयी, प्रजावत्सल और सत्यनिष्ठ हैं। इसीलिए इस प्रबंध में कही बातें उन पर लागू ही नहीं होती हैं। कई जमींदार अत्याचारी हैं और इस प्रबंध का लक्ष्य वे ही हैं। अपनी बात को संक्षेप में कहने के लिए, हमने यह खुलासा पहले ही कर दिया है। जहां-जहां मैंने जमींदार शब्द का प्रयोग किया है या करूंगा, वहां आशय इसी अत्याचारी जमींदार से है। पाठक महोदय उसे 'जमींदार संप्रदाय' के अर्थ में न लें।

बंगाली कृषक भूमि से अपने लिए जो कुछ जुटा पाता है, वह ज्यादा नहीं होता। सबसे पहले तो उसे खेती का खर्च उठाना पड़ता है, यह कम नहीं है। बीजों का मूल्य चुकाना पड़ता है, भजदूरों को वेतन देना पड़ता है, बैलों को चारा देना पड़ता है, इसी प्रकार के अन्य खर्च उसे करने पड़ते हैं। इसके बाद जो कुछ बचता है, उसे सबसे पहले महाजन हड़पता है। वर्षाकाल में किसान् ने उससे ऋण लेकर पेट भरा था, अब वह महाजन को वापस करना होगा। केवल ऋण ही वापस नहीं करना होगा, ड्योढ़ा सूद भी देना पड़ेगा। श्रावण मास में उसने चालीस सेर धान लिया था तो

पांच मास में उसे साठ सेर वापस करना पड़ेगा। अब जो बचा, वह तो थोड़ा-सा ही है। इसी में से जमींदार को राजस्व देना पड़ेगा। वह दे दिया। फिर जो बाकी बचा— वह अत्यल्प ही है, थोड़े से बचे हुए अन्न का भी चूरा, छिलके के रस जितना, सूखे हुए गड्ढे की भीगी जमीन के पानी जैसा— इसमें से बड़ी मुश्किल से गुजारा हो सकता है, या फिर नहीं भी हो सकता। क्या केवल इतना ही कृषकों के घर में पहुंचता है? पाठक महोदय, देखिए।

पांच मास में धान काटकर, कृषकों ने पूस मास में ही लगान की किस्त दी। किसी की किस्त पूरी पड़ी, किसी की बाकी रह गयी। धान काटकर, दाने अलगकर, सिर पर ढोकर, समय पर बाजार ले जाकर, बिक्री करके, वर्ष भर का लगान देने के लिए किसान चैत मास में जमींदार की कचहरी में पहुंचा। परान मंडल की पूस की किस्त पांच रुपए हैं, चार रुपए दे चुका है, एक रुपया बाकी है। और चैत की किस्त है तीन रुपए। वह चार रुपए देने के लिए आया है। गुमाश्ता हिसाब करने बैठा। हिसाब करके बोला 'तुम्हारी पूस की किस्त के तीन रुपए बाकी हैं।' परान मंडल बहुत रोया— चिल्लाया— दुहाई दी— वह खाते में दर्ज अपना हिसाब शायद दिखा सका, शायद नहीं। हो सकता है गुमाश्ते ने किस्त दर्ज ही न की हो या फिर चार रुपए देकर, दो रुपए दर्ज कर दिये हों। जो भी हो जब तक वह यह स्वीकार न कर लें कि उसे तीन रुपए और भरने हैं, तब तक मुक्ति नहीं है। हो सकता है अगर वह ये तीन रुपए न दे तो गुमाश्ता तीन के तेरह बनाकर उसे परेशान करे। इसीलिए परान मंडल ने यह स्वीकार कर लिया कि उसे तीन रुपए देने हैं। मान लीजिए उसे तीन रुपए ही वास्तव में देने बाकी थे तो फिर गुमाश्ता उसमें सूद भी जोड़ देगा। जमींदारी की सूद दर रुपए पर चार आना है। परान ने तीन रुपए बारह आने दिये। बाद में चैत की किस्त के तीन रुपए दिये। और फिर गुमाश्ते का हिसाब-खर्च। वह रुपए में दो पैसे है। परान मंडल का 32 रुपए का हिसाब बना। उसे फिर हिसाब खर्च के रूप में एक रुपया देना पड़ा। इसके बाद भेंट-दक्षिणा। इसमें गुमाश्ता तहसीलदार, मुंशी, सिपाही— सभी हिस्सेदार हैं। कुल मिलाकर पड़ता ग्राम से इतने रुपए इकट्ठा हुए। सबने आपस में बांट लिये। परान मंडल को इसके लिये और दो रुपए देने पड़े।

हम यह स्वीकार करते है कि यह सारा उत्पीड़न जमींदार के इशारे पर नहीं हुआ। उनके हिस्से में तो लगान और सूद के अलावा इसमें से

कुछ और नहीं आया, बाकी सब तो नायब गुमाश्ता के पेट में ही गया। इसमें किसका दोष है। जमींदार जिस वेतन पर दरबान को रखते हैं, नायब का भी वही वेतन है, गुमाश्ते का वेतन खानसामें के वेतन की अपेक्षा कुछ कम है। इसीलिए यह सब न करने पर उनका गुजारा किस प्रकार होगा। यह सब जमींदार के आदेश पर नहीं होता, यह सही है, पर है तो उन्हीं की कंजूसी का परिणाम। उनके आदमी अपनी उदरपूर्ति के लिए प्रजा को लूटते हैं, इसमें उनका कोई नुकसान नहीं है। वह भला इसमें दखल क्यों देंगे।

इसके बाद आषाढ़ मास में नववर्ष का शुभ पर्व आ जाता है। परान शुभ पर्व के लिए दो रुपए की किस्त चुकाता है। वह तो उसने दिया ही, लेकिन वह तो केवल कर था। शुभ पर्व पर जमींदार को कुछ नजराना भी देना होगा। वह भी उसने दिया। हो सकता है जमींदारी के कई भागीदार हों, उनमें से प्रत्येक को अलग-अलग नजराना देना होगा। वह भी दिया। इसके बाद नायब महाशय हैं— उन्हें भी कुछ भेंट देनी होगी। वह भी दी। इसके बाद गुमाश्ते हैं, उन्हें भी उनका हिस्सा मिला। प्रजा का पैसा नजराना देते-देते खत्म हो गया—पर उसका हिसाब फिर भी चुकता नहीं हुआ। समय के साथ वह भी चुकता होगा।

परान मंडल सब दे-दिलाकर घर पहुंचा तो उसने पाया कि भोजन पानी के लिए कुछ नहीं है। उधर खेती का समय भी आ पहुंचा है। उसका खर्च अलग है। लेकिन परान इससे घबराया नहीं। यह तो हर वर्ष होता है। महाजन का भरोसा है। परान महाजन के पास गया। ड्योढ़े सूद पर धान ले आया, अगले वर्ष सूद समेत यह उधार चुकाना होगा। किसान बराबर उधार लेकर पेट भरता है और बराबर ड्योढ़ा सूद देता है। इससे राजा के निःस्व होने की संभावना है, किसान का क्या। हो सकता है जमींदार स्वयं महाजन हो। गांव के बीच में उसका धान का ढेर है और भंडार घर है। परान जाकर वहीं से धान ले आता है। इस तरह जमींदार का कारोबार कुछ मंदा नहीं है। स्वयं प्रजा के धान का अपहरण करके, उसको निःशेष करके, बाद में कर्ज देकर, वह ड्योढ़ा सूद वसूल करता है। ऐसी स्थिति में जितनी जल्दी वह प्रजा के धन का अपहरण कर सके, उतना वह फायदे में रहेगा।

सभी वर्ष एक समान नहीं होते। किसी साल अच्छी पैदावार होती है, किसी साल होती ही नहीं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकालवृष्टि, बाढ़, पाले, कीड़ा लगने आदि से वह नष्ट भी हो जाती है। अगर महाजन को लगता

है कि फसल अच्छी होने वाली है, तभी वह कर्ज देता है, नहीं तो देता ही नहीं। क्योंकि महाजन यह अच्छी तरह जानता है कि फसल न होने पर कृषक ऋण नहीं चुका पायेगा। तब तो कृषक निरूपाय हो जाता है। अन्नाभाव से उसे और उसके परिवार को प्राणों के लाले पड़ जाते हैं। कभी वह जीवन की आशा में जंगल के अखाद्य फल-मूल खाता है, कभी 'रिलीफ' का भरोसा करता है, कभी भिक्षा मांगता है और कभी अपने को जगदीश्वर के भरोसे छोड़ देता है। कुछ जमींदारों को अपवादस्वरूप छोड़ दें, तो ऐसे बुरे वक्त पर प्रजा किसी जमींदार का भरोसा नहीं कर सकती। परान मंडल को कर्ज लेकर ही गुजारा करना पड़ता है।

बाद में भादो की किस्त का समय आ पहुंचता है। परान के पास कुछ भी नहीं है, वह किस्त अदा नहीं कर सकता। कोई लठैत, सिपाही, लंबरदार, पहरेदार या इसी तरह का अन्य नामधारी महात्मा तगादे के लिए आता है। संभव है कुछ न कर पाने पर वह भलेमानुष की तरह लौट जाये। नहीं तो परान कर्ज लेकर रुपए देते हैं। या फिर परान पर दुर्बुद्धि सवार हुई— उसने प्यादे के साथ बहस की तो प्यादे ने लौटकर गुमाश्ते से कहा, 'परान मंडल ने आपको साला कहा है।' बस परान को पकड़ने के लिये तीन सिपाही दौड़ पड़े। वे परान को घसीटते हुए ले आये। कचहरी पहुंचने पर परान ने कुछ ऊंची-ऊंची गालियां सुनी— शरीर पर भी कुछ उत्तम मध्यम वार झेले। गुमाश्ते ने उस पर पांचगुना जुर्माना किया। उसके ऊपर प्यादे का हफ्ता। सिपाहियों को हुक्म हुआ कि उसे बिठाये रखकर रकम वसूल करो। यदि परान का कोई हितैषी हुआ तो वह रुपए देकर उसे छुड़ा लाया। नहीं तो परान एक दिन, दो दिन, तीन दिन, पांच दिन, सात दिन कचहरी में ही बैठा रहा। हुआ तो परान की मां या उसके भाई ने जाकर कचहरी में दरखास्त की। सब-इंस्पेक्टर महाशय ने उसकी रिहाई के लिए कांस्टेबल साहेब— दीन दुनिया के मालिक— को भेजा। वह कचहरी में आकर जम गये। परान ने उनके सामने कुछ रोना-धोना शुरू किया। कांस्टेबल साब उस पर कुछ नरम-गरम होने लगे— लेकिन कैद को खारिज करने की उन्होंने कोई चर्चा ही नहीं की। वे भी जमींदार के वेतनभोगी हैं— बरस में दो-तीन बार भेंट-दक्षिणा पाते हैं, ज्यादा उड़ने का साहस नहीं है। उस दिन भी सर्वसुखमय परमपवित्र मूर्ति रौप्यचक्र यानी रुपये के दर्शन उन्हें हुए। इस विस्मयकारी चक्र को देखते ही मनुष्य के हृदय में आनंद रस का संचार होता है—भक्ति प्रीति का उदय होता है। गुमाश्ते के प्रति उनमें प्रेम भाव

जागा और उन्होंने थाने में जाकर कहा, 'कोई कैद-वैद नहीं थी। परान मंडल बड़ा धोखेबाज आदमी है— वह तालाब के किनारे छिपकर बैठा था— मैंने पुकारा तो वहां से निकलकर मेरे सामने आया।' मुकद्दमा फंस गया।

प्रजा को पकड़ ले जाकर, कचहरी में अटका रखना, उससे मारपीट करना, जुर्माना करना केवल लगान वसूली के लिए ही नहीं होता। ऐसा तो किसी भी बहाने से हो सकता है। आज गोपाल मंडल ने गुमाश्ता महाशय की कुछ भेंट-पूजा करके उनसे नालिश की, 'परान हमारे साथ ठीक व्यवहार नहीं करता'— बस परान को गिरफ्तार हुआ समझिए। आज नेपाल मंडल ने कुछ इस प्रकार नालिश की—'परान ने हमारी बहन के साथ प्रेमालाप किया है।'— बस परान को बुलाया गया। आज वह समाचार आया कि परान की विधवा भ्रातृवधू गर्भवती हो गयी है— इसी वजह से परान को पकड़ने के लिए आदमी दौड़े। आज परान ने जमींदार की ओर से झूठी गवाही देने के प्रति नाराजगी जाहिर की, इसीलिए उसे पकड़कर मंगाया गया।

परान के रुपए अदा कर देने के कारण हो या जमानत देने के कारण, किस्त बांधने के कारण हो या समयांतर में वसूली की आशा की वजह से हो, या फिर पुलिस के आने की आशंका के कारण हो या फिर इस वजह से हो कि बहुत दिनों तक उसे घेरे में रखने के बावजूद कोई नतीजा नहीं निकला— गुमाश्ता महाशय ने परान को छोड़ दिया। परान घर जाकर फसल की तैयारी करने लगा। अच्छी फसल पैदा हुई। अगहन के महीने में जमींदार की दौहित्री का विवाह है या भतीजे के बेटे का अन्नप्राशन है। कुल खर्चा जोड़ा गया दो हजार रुपया, जमींदारी भर में खबर की गई— सभी प्रजा प्रत्येक रुपए के ऊपर 10 आना देगी। इससे पांच हजार रुपए इकट्ठा होंगे, दो हजार अन्न प्राशन में खर्च होंगे— शेष तीन हजार जमींदार की तिजौरी में गये।

जिस भी प्रजा से बन पड़ा, उसने दिया— परान मंडल के पास कुछ भी नहीं है— वह नहीं दे पाया। जमींदारी से पूरे पांच हजार रुपए इकट्ठा नहीं हो सके। यह सुनकर जमींदार ने निश्चय किया, कि वह एक बार स्वयं तालुके में पदार्पण करेंगे। उनका आगमन हुआ— ग्राम पवित्र हुआ।

तब बड़े-बड़े लकड़ी के काले खंभे लाकर मंडल आदि ने कचहरी के द्वार पर खड़े किये। बड़ी-बड़ी जीवंत रोई, कातला, मृगाल मछलियों को पकड़कर ढेर लगा दिये। बड़े-बड़े काले काले चुकंदरों, गोल आलुओं, गोभी

आदि से भंडार भर दिया। दही, दूध, घी और मक्खन के तो कहने ही क्या। प्रजाजनों की भक्ति अटल है, लेकिन बाबू का उदर वैसा नहीं है। बाबू की तो बात ही क्या करें, प्यादे-सिपाहियों के पेट में भी बड़ी हलचल होने लगी।

लेकिन ये सब तो बेकार की बातें हैं। असली बात तो यह है कि जमींदार को 'आगमनी', 'नजर' या 'सलामी' देनी पड़ेगी। अब फिर सबको अठन्नी देनी होगी। लेकिन सब तो इतना दे नहीं सकते, जिनसे बन पड़ा उन्होंने दिया। जिससे देते नहीं बना, वह कचहरी में कैद कर लिया गया, या फिर उसके हिसाब में इतनी राशि और जोड़ दी गयी।

परान मंडल भी यह राशि नहीं दे सका। लेकिन उसके खेतों में फसल अच्छी हुई है। यह फसल गुमाश्ते की नजरों से छिपी नहीं रह सकी। उन्होंने आठ आने स्टाम्प पर खर्च किये और उपयुक्त अदालत में 'कुर्की' की सहायता के लिए दरखास्त की। दरखास्त का तात्पर्य यहीं कि 'परान मंडल देनदार है, हम उसके धान की कुर्की करेंगे। लेकिन परान मंडल बड़ा दंगाबाज आदमी है, कुर्की होने पर वह लोगों को इकट्ठा कर दंगा फसाद, खून-खराबा कर सकता है। इसीलिए कुर्की के वक्त अदालत की ओर से सिपाही मुकर्रर होना चाहिए। गुमाश्ता तो निरीह, भला प्राणी है, जितने अत्याचार करता है, वह सब परान मंडल। इसीलिए अदालत की ओर से सिपाही नियुक्त हुआ। खेत में पहुंचते ही सिपाही चांदी के सिक्के की माया से अभिभूत हो गया। उसने खड़े होकर परान मंडल के धान कटाये और उन्हें जमींदार की कचहरी में भिजवा दिया। इसी का नाम है 'कुर्की' सहायता'।

परान ने देखा कि उसका सर्वस्व चला गया। अब वह महाजन का ऋण भी नहीं चुका पायेगा, जमींदार को लगान भी नहीं दे पायेगा और अपना पेट भी नहीं भर पायेगा। अब तक परान सब कुछ सहता आया था— नदी में रहकर मगर से भला बैर कैसे मोल ले। परान मंडल ने सुना कि उसके साथ जो कुछ हुआ, उसके लिए नालिश की जा सकती है। परान नालिश करके देखेगा। लेकिन यह कोई आसान बात तो है नहीं। अदालत और वारांगना का घर एक जैसे हैं— अगर पास में पैसा नहीं है तो वहां प्रवेश संभव नहीं है। स्टाम्प की कीमत चाहिए, वकील की फीस चाहिए, मुजरिम की हाजिरी के समन के लिए खर्च चाहिए, गवाह की खुराक चाहिए, गवाहों को कुछ रुपया-पैसा भी देना पड़ेगा, हो सकता है

आवेदन-पत्र से पहले भी कुछ खर्च लगे, और अदालत के सिपाही और कर्मचारी भी कुछ न कुछ पाने की आशा तो रखते ही हैं। परान के पास कुछ नहीं है, फिर भी हल-बैल, बर्तन-भांडे बेच कर उसने अदालत में नालिश की। इसकी अपेक्षा गले में फांसी लगाकर मरना अच्छा था।

अब जमींदार की ओर से बदले में एक नालिश आयी कि परान मंडल ने 'कुर्की' की उपेक्षा की और सारा धान स्वयं काटकर उसने बेच लिया। गवाह सभी जमींदार की प्रजा हैं— इसीलिए जमींदार के वश में हैं— प्रेम के कारण नहीं, डर से वशीभूत हैं। इसीलिए उन्होंने जमींदार के पक्ष में भी गवाही दी। सिपाही तो रुपए की चमक देखकर उसी की राह पर चलने वाले हैं ही। सभी ने कहा कि परान ने कुर्की की उपेक्षा करके, धान बेच दिया है। जमींदार की नालिश की डिक्री हुई, परान की नालिश डिसमिस हुई। इससे परान को पहला लाभ यह हुआ कि जमींदार को मुआवजा देना पड़ा, दूसरा यह कि दोनों ही मुकद्दमों में उसे जमींदार का खर्च देना पड़ा, तीसरा यह कि दोनों ही मुकद्दमों का अपना खर्च तो उसने उठाया ही।

परान के पास अब एक भी पैसा नहीं है, वह कहां से इतने रुपए देगा। अगर वह जमीन बेच सका तब तो उसने रुपए दिये, नहीं तो फिर जेल गया या फिर गांव छोड़कर चला गया।

हम यह नहीं कह रहे हैं कि ये सारे अत्याचार प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति पर होते रहते हैं और सभी जमींदार इसी तरह का व्यवहार करते हैं। वैसा होने पर यह देश बचता ही नहीं। परान मंडल कल्पित व्यक्ति है— एक कल्पित प्रजाजन के बहाने हमने यही बताने की चेष्टा की है कि अत्याचार करने वाले जमींदार दरअसल कितनी तरह के अत्याचार प्रजा पर करते रहते हैं। आज एक व्यक्ति पर एक तरह का अत्याचार और कल दूसरे व्यक्ति पर दूसरी तरह का अत्याचार, होता रहता है।

ऐसी बात नहीं कि जमींदारों में जितनी प्रकार की बुराइयां हैं, हम उन सबका वर्णन करें ही। किसी खास जमींदार के यहां, किसी खास प्रदेश में, किसी खास समय में, कितनी तरह से रुपयों की वसूली की जाती है, उसकी सूची तो अंतहीन हो सकती है। हर जगह सबके लिए एक जैसा नियम नहीं है, कहीं-कहीं तो कोई नियम ही नहीं है, जब जिससे जितना बन पड़ता है वसूल करता है। उदाहरण के लिए हम एक यथार्थ घटना का वर्णन करके एक तालिका उद्धत करेंगे।

जो प्रदेश पिछले साल की भयानक बाढ़ में डूब गया था, उसी प्रदेश के एक गांव में यह घटना घटित हुई थी। जो पाठक गांव का नाम जानना चाहते हैं वे पिछले 31 अगस्त के 'आब्जर्वर' के 131 पृष्ठ को देख सकते हैं। बाढ़ में जल-स्तर काफी बढ़ गया था। गांव समुद्र के किसी द्वीप की तरह पानी से घिर गया। गांववासियों के खेतों का सारा धान डूब गया। बिना चारे के पशु मरने लगे। प्रजा त्रस्त थी। उस समय जमींदार का यह कर्त्तव्य था कि वह पैसे-रुपए और खाने-पीने की चीजों से प्रजाजनों की सहायता करता। पर यह तो दूर की बात हुई, लगान माफ करने से भी बड़ा उपकार होता। चलिए यह भी न सही, कुछ दिन ठहर कर लगान वसूल करने से भी बड़ा भला होता। लेकिन ठहर कर लगान लेने की बात तो दूर रही, ठीक उसी गाढ़े समय में गुमाश्ता महाशय सिपाहियों-कारिंदों के दल-बल के साथ आ धमके। गांव में कुल मिलाकर 12/14 लोग ऐसे थे जो काश्तकार थे, और 12/14 लोग खेत मजूर आदि थे। एक सूची बनाकर इनसे 54 रुपए वसूल करने की कार्रवाई शुरू हुई। सूची इस प्रकार है:

नायब का नजराना	6 रुपए
जमींदारों के पांच भागीदारों का नजराना	5 रुपए
गुमाश्ताओं का नजराना	2 रुपए
प्यादा से बुलवाने का खर्च	1 रुपया
गोपाल नगर में बांस ढुलाई का खर्च	1 रुपया
आषाढ़ किस्त के लिए प्यादा का खर्च	13 आना
भादो की किस्त के लिए प्यादा का खर्च	1 रुपया पांच आना
नौका भाड़ा	1 रुपया आठ आना
सदर के कर्मचारियों को पूजा की भेंट	6 रुपए आठ आना
कचहरी के जमादार को	1 रुपया
कचहरी इलशहाना	1 रुपया
पांच भागीदारों को पूजा-भेंट	5 रुपए
श्रीराम सेन, हेड मुंशी	1 रुपया
जमींदार के पुरोहितों की भिक्षा	2 रुपए

गुमाश्ताओं की भिक्षा	12 रुपए
मुंशियों को भेंट	3 रुपए
पहरेदारों को होली की भेंट	1 रुपया
डाक टैक्स	3 रुपए
कुल	54 रुपए दो आने

इस दु:ख के समय में प्रजाजनों के ऊपर रुपए में तीन आने के हिसाब से अतिरिक्त वसूली का बोझ भी बढ़ा। वसूली मुश्किल थी पर गुमाश्ता लोग तो असंभव को भी संभव कर दिखाते हैं। प्रजा ने बड़े कष्ट से, मांग-मूंग कर, बेच-बाचकर, ये रुपए अदा किये। लोगों को लगेगा कि मनुष्य की देह जितने अत्याचार सह सकती है, यह उसका चरमरूप था। लेकिन गुमाश्ता महाश्य को ऐसा नहीं लगा। वे जानते हैं कि प्रत्येक प्रजा एक कुबेर है। जिस दिन वे रुपए पर तीन आने की दर से 54 वसूल कर ले गये, उसके 4-5 दिनों के भीतर ही फिर हाजिर हो गये। बाबू लोगों की कन्या का विवाह है और 40 रुपए इकट्ठे करके देने होंगे।

प्रजाजन निरूपाय है। वे एक नाव का जुगाड़ करके नील कोठी पहुंचे और कर्ज मांगा। कर्ज मिला नहीं। महाजन के आगे हाथ फैलाये, महाजन ने मुंह फेर लिया। तब लाचार प्रजा ने अंतिम उपाय का सहारा लिया— फौजदारी में पहुंचकर उसने नालिश कर दी। मजिस्ट्रेट साहब ने आसामियों को बरी कर दिया। आसामियों ने अपील की, जज साहब ने कहा, 'प्रजाजनों पर अत्याचार जरूर हुआ है, लेकिन कानून के अनुसार मैंने आसामियों को बरी किया है।' यही सुविचार हुआ। कौन नहीं जानता कि सुनवाई का उद्देश्य ही आसामियों को बरी करना होता है।

यह उपन्यास नहीं है। हमने ये तथ्य 'इंडियन आब्जर्वर' से उद्धृत किये हैं। दुष्ट लोग सभी संप्रदायों में होते हैं, दो-एक दुष्ट लोगों के दुष्कर्मो का उल्लेख उदाहरण-स्वरूप करके संप्रदाय-विशेष पर दोषारोपण करना अतिचार है। यदि यह उदाहरण-स्वरूप होता तो हम इसका उपयोग नहीं करते। वह यह नहीं है— इस तरह की घटना आम है। जो इसे अस्वीकार करते हैं, वे गांवों की अवस्था के बारे में कुछ भी नहीं जानते।

उपरोक्त तालिका के अंतिम विषय पर पाठक एक बार दृष्टिपात करें— 'डाक टैक्स'। सरकार ने कई तरह के टैक्स लगाये हैं, जमींदार इन्हें लेकर महाकोलाहल करते रहते हैं। लेकिन क्या उनमें से सभी अपने घर से ये

टैक्स देते हैं? 'डाक टैक्स' इसी बात का प्रमाण है। सरकार ने नियम बनाया कि मुफ्फसिल में डाक चलेगी, जमींदार इसका खर्च उठायेंगे। जमींदारों ने मन ही मन में कहा, 'ठीक है, देना पड़ा तो देंगे, लेकिन घर से नहीं देंगे। हम भी प्रजा के ऊपर टैक्स लगायेंगे। और जब उस पर टैक्स लगाना ही है तो जरा जमकर लगायें, जिससे कि कुछ मुनाफा भी हो सके।' यही उन्होंने किया भी। प्रजा के खर्च से डाक चलनी शुरू हुई— जमींदारों ने इसमें से भी कुछ लाभ कमा लिया। सरकार ने जब टैक्स लगाया तो जरा एक बार यह भी सोचकर देखें कि वह सचमुच किसके ऊपर लग रहा है।

इनकम टैक्स का भी यही हाल है। और जमींदार इसमें से भी कुछ मुनाफा पा जाते हैं।

जो लोग कोई तालुका लेते हैं, उन लोगों को रोडफंड देना पड़ता है। इस रोड फंड को भी हमने जमींदारों के खाते में ही जाते हुए देखा है।

'रोडसेस', यह व्यवस्था लिपिबद्ध होने तक सरकार ने इसकी वसूली कहीं से नहीं की। लेकिन जमींदारों में से कुछ इसकी करते रहे हैं। वसूली का अधिकार है, लेकिन ये रुपए पर एक पैसे से अधिक का नहीं हो सकता। एक जिले में एक जमींदार ने इसमें से रुपए पर चार आने तक की वसूली शुरू कर दी। प्रजा ने फरियाद की, इस बार 'कानून के अनुसार मुजरिम की रिहाई नहीं हुई। जमींदार महाशय इस वक्त जेल में हैं।

सबसे अधिक विस्मय पैदा करने वाला तो निम्नलिखित अस्पताल का वृत्तांत है। सबडिवीजन के अधिकारी स्कूल और डिस्पेंसरी खोलने में बड़े माहिर हैं। 24 परगना के एक असिस्टेंट मजिस्ट्रेट ने अपने सबडिवीजन में एक डिस्पेंसरी खोलने के उद्देश्य से वहां के जमींदारों को बुलाकर एक सभा की। सबने इसके लिए कुछ मासिक चंदा देने की बात स्वीकार कर ली। उनमें से एक ने घर जाकर यह फरमान निकाला कि हमें हर महीने अस्पताल के लिए इतना चंदा देना है, इसलिए आज से प्रजाजनों से रुपए में एक आना इसके लिए वसूल करता रहूंगा। इसी हिसाब से गुमाश्ता लोग वसूली करने लगे। उधर डिस्पेंसरी के लिए सभी चीजों का जुगाड़ हुआ नहीं— और वह स्थापित ही नहीं हुई। नतीजा यह हुआ कि जमींदार से कभी एक पैसे का भी चंदा नहीं लिया गया। लेकिन प्रजाजनों से बराबर रुपए में एक आने की वसूली अस्पताल के लिए की जाने लगी। कई बरस बाद जमींदार ने प्रजा से वसूल किये जाने वाले राजस्व की दर बढ़ाने के लिए 1859 वर्ष के कानून के अनुसार अपील की। प्रजा ने जवाब दिया

कि "हम चिरस्थायी बंदोबस्त के समय से एक दर से राजस्व देते आ रहे हैं, उसकी दर कभी घटी-बढ़ी नहीं है—इसलिए वह बढ़ाई नहीं जा सकती।" जमींदार ने इसके प्रत्युत्तर में यही कहा कि प्रजा अमुक सन् से अस्पताल के नाम पर एक आना राजस्व अधिक देती आ रही है। इसीलिए मैं राजस्व की दर में वृद्धि करना चाहता हूं।

अब यहां जमींदारों के पक्ष में भी कुछ बातें कहने की जरूरत है।

पहली बात तो यही, जिसे हम पहले भी कह चुके हैं, कि सभी जमींदार अत्याचारी नहीं हैं। दिनोंदिन अत्याचार में विश्वास करने वाले जमींदारों की संख्या कम हो रही है। कलकत्ता के सुशिक्षित भूस्वामी कोई अत्याचार नहीं करते— जो अत्याचार होता भी है, वह उनके अनजाने में और उनकी इच्छा के विरुद्ध नायब-गुमाश्ताओं द्वारा होता है। मुफ्फसिल में भी अनेक सुशिक्षित जमींदार इसी तरह के हैं। बड़े-बड़े जमींदारों के यहां उतना अत्याचार नहीं है— कई बड़े-बड़े जमींदार घरों में तो बिलकुल ही अत्याचार नहीं है। सामान्य- सामान्य घरों में ही अत्याचार ज्यादा है। जिन्हें जमींदारी से एक लाख रुपए मिल रहे हैं, उनके मन में अधर्म करके प्रजा से २५ हजार और वसूल लेने की प्रवृत्ति की संभावना हो सकती है, लेकिन जिनकी जमींदारी से बारह महीनों में बारह सौ रुपए नहीं मिलते, वे अपनी जमींदारी को मनमाने ढंग से चलाना चाहते हैं, मारपीट करके कुछ और संग्रह करने की उनकी इच्छा बलवती हो उठती है। और जो स्वयं जमींदार हैं, अपनी प्रजा से राजस्व स्वयं वसूल करते हैं, उनकी अपेक्षा पट्टीदार, दर पट्टीदार, हजारेदार आदि अधिक निर्दयी होते हैं। हमने ऊपर केवल सुविधा के लिए जमींदार शब्द का इस्तेमाल किया है। जमींदार से यहां आशय उन लोगों से भी है जो जमींदार की तरह ही प्रजा से कर वसूलते हैं। ये लोग जमींदार को उसके लाभ का हिस्सा देकर, उसके ऊपर और लाभ कमाने के लिए पट्टा लेते हैं। जाहिर है कि प्रजा से ही यह अतिरिक्त लाभ ये लोग किसी तरह कमाते हैं। बीच में इन तालुकेदारों का आना प्रजा के लिए बहुत अनिष्टकारी है।

दूसरे, हमने जिन सभी अत्याचारों का वर्णन किया है, उनमें से बहुतेरे जमींदारों की जानकारी में नहीं किये जाते, कभी-कभी तो वे उनकी इच्छा के विरुद्ध नायब-गुमाश्ताओं द्वारा कर डाले जाते हैं— कई जमींदारों को तो यह भी नहीं मालूम कि प्रजा उनके नाम पर किस-किस रूप में पीड़ित की जाती है।

तीसरे, कई जमींदारियों की प्रजा भी अच्छी नहीं है। उत्पीड़ित किये बिना वह राजस्व नहीं देती। अगर सबके ऊपर नालिश करके रुपए वसूलने पड़े तो जमींदार का सर्वनाश हो जाता है। लेकिन इसी के साथ यह कहना भी जरूरी है कि प्रजा, विरोधी-भाव तभी अपनाती है, जब उस पर पहले अत्याचार किया जाता है।

जो लोग केवल जमींदारों की निंदा करते हैं मैं उनका विरोधी हूं। जमींदारों द्वारा बहुत से सत्कार्य भी हुए हैं। अब गांव-गांव में जो विद्यालय स्थापित हुए हैं और छोटे-बड़े सभी अपने-अपने गांव में बैठकर विद्यार्जन कर पा रहे हैं, यह जमींदारों के कारण ही संभव हुआ है। जमींदारों ने अनेक स्थानों में चिकित्सालय, सड़कें, धर्मशालाएं आदि बनवाकर जनसाधारण का उपकार किया है। हमारे देश के लोगों की भलाई के लिए विभिन्न राजपुरुषों से जो दो शब्द कहता है— वह केवल जमींदारों का ब्रिटिश इंडियन एसोशिएशन ही है— जमींदारों की बिरादरी या संगठन। उसके द्वारा देश का जो मंगल हो रहा है, वैसा किसी और संप्रदाय या संगठन द्वारा होना संभव नहीं लगता। इसलिए जमींदारों की केवल निंदा करना तो बहुत अन्यायपूर्ण काम होगा। इस संप्रदाय के कुछ लोगों द्वारा जो प्रजापीड़न होता है, बस वही इसके लिए लज्जाजनक कलंक है। इस कलंक को धोना जमींदारों का ही काम है। यदि किसी परिवार में पांच भाई हों, और उनमें से दो दुश्चरित्र हों तो बाकी तीन भाई, दुश्चरित्र भाइयों को सुधारने का यत्न करते हैं। जमींदारों से हमें यही कहना है कि वे भी कुछ ऐसा ही करें। उन तक यह बात पहुंचे इसीलिए हमने यह लेख लिखा है। हम राजपुरुषों और जनसमाज की ओर मुखातिब नहीं हैं, हमारी नालिश तो जमींदारों से है। यह काम उनके लिए असाध्य नहीं है। सभी दंडों की अपेक्षा, अपने संप्रदाय, अपनी बिरादरी से मिली अवहेलना, अपनी बिरादरी से मिला अपमान, गुरुतर हैं और वे कहीं ज्यादा असर डालते हैं। जो बुरे लोग चोरी करने के इच्छुक होने के बावजूद चोरी नहीं करते, उनमें से अधिकांश ऐसा इस भय से नहीं करते कि चोरी करने पर उन्हें उनका ही समाज 'चोर' कहकर उनसे घृणा करने लगेगा। यह दंड जितना असरदार है, उतना कानून की ओर से मिलने वाला दंड भी नहीं है। जमींदारों के लिए ऐसा दंड जमींदारों के ही वश की बात है। अन्य जमींदारों के निकट घृणा और अपमान का पात्र बनने के डर से, अपने समाज द्वारा बहिष्कृत किये जाने की आशंका से, बहुतेरे जमींदार बुरा काम करने से कतरायेंगे और अपनी

बुरी प्रवृत्तियों का त्याग भी करेंगे। हम ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन से यह अनुरोध करते हैं कि वह गंभीरतापूर्वक इस बात पर विचार करे। यदि वे बुरे जमींदारों को इस प्रकार दंडित कर सकें तो इससे देश का जो मंगल सिद्ध होगा, उसके लिए उनकी कीर्ति अनंतकाल तक दुहराई जायेगी। उनके महात्म्य का बखान किया जायेगा और देश उन्हें सभ्य-सुसंस्कृतों के सर्वोच्च आसन पर बैठायेगा! ऐसा न होने पर बंगाल के मंगल का कोई भरोसा नहीं है। जिनके द्वारा इस काम का सूत्रपात होगा, उनकी अभ्यर्थना बंगालियों के बीच श्रेष्ठ जनों के रूप में की जायेगी। किन उपायों से यह काम सिद्ध हो सकता है, इसकी कल्पना करना कठिन है, और इसे हम स्वीकार करते हैं। पर यह कठिन ही है, असाध्य नहीं है। जमींदार-समाज के कर्त्ता-धर्ता इस विषय में अक्षम हैं, हम ऐसा नहीं मानते। वे तीव्र बुद्धि वाले, बहुदर्शी और समर्थ हैं। अगर वे एकाग्र होकर इस पर विचार करेंगे तो जरूर ही कुछ उपाय ढूंढ निकालेंगे। हम इस विषय में जो कुछ कह सकते हैं उसकी तुलना में स्वयं जमींदारों द्वारा जो सोचा जायेगा वह कहीं अधिक बेहतर होगा, हम ऐसा मानकर चलते हैं, इसीलिए इस विषय में और कुछ नहीं कह रहे हैं। हां, अगर आवश्यकता पड़े तो हमारी सामान्य बुद्धि जो सुझा सकेगी, वह सुझाने के लिए हम प्रस्तुत हैं। इस समय तो हम यही कहेंगे कि अगर इस विषय में उन्होंने उदासीनता दिखाई तो इससे उन्हीं को बदनामी मिलेगी।

तृतीय परिच्छेद

प्राकृतिक नियम

हम जमींदार को दोष देते हैं, राजा को दोष देते है लेकिन यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि बंगदेश के कृषकों की दुर्दशा केवल वर्तमान काल की ही घटना नहीं है। भारतवर्ष के साधारण जनों की अवनति धारावाहिक है, जब से भारतवर्ष में सभ्यता की सृष्टि हुई है, मानो तभी से कृषकों की दुर्दशा का सूत्रपात भी हो गया था। पश्चिम के लोगों के बीच यह एक मुहावरे की तरह प्रचलित है कि 'रोम एक दिन में नहीं बना था'। हम पूर्व परिच्छेद में कह आये हैं कि हिंदू राजा के राज्यकाल में राजा द्वारा प्रजापीड़न नहीं होता था, लेकिन हम इससे यह न मान बैठें कि उस प्रजा की दशा बड़ी अच्छी थी। अब राजा के प्रतिनिधि बनकर अनेक जमींदार प्रजापीड़न करते हैं, उस वक्त एक और श्रेणी के लोग प्रजापीड़न करते थे। वे कौन लोग थे, इसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। किस कारण से भारतवर्ष की प्रजा चिरकाल से उन्नतिहीन है, अब हम इस विषय पर कुछ प्रकाश डालेंगे। बंगदेश के कृषकों की वास्तविक अवस्था के बारे में पता चलाना ही हमारा मुख्य उद्देश्य है। लेकिन यहां जिन समस्त ऐतिहासिक विवरणों की ओर हम मुड़ेंगे, वे जितनी दूर तक बंगदेश के कृषकों पर घटित होते हैं, शेष भारत के कृषकों पर भी उतनी ही दूर तक घटित होते हैं। बंगदेश में उस समुदाय को जो झेलना पड़ा है, समग्र भारत के कृषकों को भी वही झेलना पड़ा है। बंगदेश भारत का एक खंडमात्र है, इसलिए वह शेष भारत से अलग नहीं है। और जो कुछ कृषकों को झेलना पड़ा है, वह केवल उन्हीं के भाग्य का विधान नहीं है, श्रमजीवी मात्र को वही सब झेलना पड़ा है। इसीलिए हम जोर देकर यह कहना चाहते हैं कि हमें समूची भारतीय श्रमजीवी प्रजा की स्थिति की गहरी विवेचना करनी होगी। लेकिन भारतीय श्रमजीवियों के बीच कृषि जीवी इतने अधिक हैं कि ऐसी किसी विवेचना के समय अगर हम अन्य श्रमजीवियों का स्मरण न करें तो भी कोई विशेष अंतर नहीं पड़ेगा।

ज्ञानवृद्धि ही सभ्यता का मूल और उसकी उपलब्धि है, यह बकल सप्रमाण कह चुके हैं। बकल का कहना है कि ज्ञान की उन्नति से अलग कोई नैतिक उन्नति नहीं है। हम इस बात का अनुमोदन नहीं करते। लेकिन ज्ञान की उन्नति से सभ्यता की उन्नति होती है, यह बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी। अगर ज्ञान की उन्नति नहीं होगी तो सभ्यता की भी उन्नति नहीं होगी। ज्ञान अपने आप पैदा नहीं होता, उसे बड़े परिश्रम से अर्जित करना पड़ता है। अगर कोई विद्यालोचना में रत नहीं होगा तो समाज में ज्ञान का प्रकाश भी नहीं फैलेगा। लेकिन विद्यालोचना के लिए अवकाश चाहिए। विद्यालोचना से पहले उदर का पोषण होना चाहिए, बिना खाये-पिये कोई ज्ञानालोचना नहीं कर सकता। यदि सभी को आहार की ही खोज में व्यस्त रहना पड़े तो फिर ज्ञानालोचना के लिए किसी के पास समय ही नहीं रहेगा। इसीलिए सभ्यता की सृष्टि के लिए सबसे पहली आवश्यकता यह है कि समाज में एक ऐसी बिरादरी, ऐसा समुदाय हो, जिसे अपने भरण-पोषण के लिए शारीरिक श्रम न करना पड़े। अन्य लोग परिश्रम करेंगे, ये लोग बैठकर विद्यालोचना करेंगे। यदि श्रमरीवी लोग अपने भरण-पोषण मात्र का ही खाद्यान्न उत्पन्न करेंगे, तो फिर ऐसा संभव नहीं होगा। क्योंकि फिर तो जो कुछ पैदा होगा, वह केवल श्रमजीवियों के ही काम आयेगा, अन्य लोगों के लिए कुछ बचेगा ही नहीं। पर अगर वे अपने भरण-पोषण से अतिरिक्त अन्न उत्पादित करेंगे, तो उनके भरण-पोषण के बाद भी कुछ संचित होकर बच रहेगा। और इसके द्वारा श्रमविरत व्यक्ति प्रतिपालित होकर विद्यानुशीलन कर सकेंगे। तब ज्ञान का उदय संभव होगा। उत्पादन करने वालों के खाने पहनने के बाद जो बचता है, उसे हम संचय कह सकते हैं। अतएव सभ्यता के उदय के पूर्व पहली आवश्यकता सामाजिक धन संचय की है।

किसी देश में सामाजिक धन संचय होता है, किसी देश में नहीं होता। जहां होता है, वह देश सभ्य बनता है। जिस देश में यह संचय नहीं होता, वह असभ्य रह जाता है। किन-किन कारणों से किसी देश विशेष में आदिकाल से धन संचय होता रहता है? दो कारण संक्षेप में गिनाये जा सकते हैं। पहला कारण है, भूमि की उर्वरता। जिस देश की भूमि उर्वर है, उस देश में सहज ही अधिक अन्न उत्पादित किया जा सकता है। इसीलिए श्रमजीवियों के भरण-पोषण के बाद भी कुछ अवशिष्ट संचित होगा। दूसरा कारण, देश की ऊष्णता या शीतलता है। शीतोष्णता के नतीजे विविध हैं।

प्रथमत: जो देश ऊष्ण है, उस देश के लोगों के लिए अल्पाहार की आवश्यकता है, शीतल देश में अधिक आहार की आवश्यकता होती है। यह बात कई स्वाभाविक नियमों पर निर्भर करती है, जिन्हें इस साधारण से निबंध में लिखने का स्थान नहीं है। हम यहां तक जो लिख रहे हैं वह बकल के ग्रंथ के हिसाब से ही लिख रहे हैं, उत्सुक पाठक इस ग्रंथ में देख सकेंगे कि जिस देश में लोगों का काम साधारणत: थोड़े से खाद्यान्न से चल जाता है, उस देश में शीघ्र ही धन-संचय संभव है। इसमें संदेह नहीं। बकल कहते हैं, उष्णता का दूसरा नतीजा यह है कि, तापाधिक्य के कारण लोगों के लिए तापजनक खाद्य की ज्यादा जरूरत नहीं पड़ती। जो देश शीतल है, उस देश में शारीरिक तापजनक खाद्य की अधिक जरूरत होती है। शारीरिक ताप, श्वासगत वायु जनित अम्ल के साथ, शरीरस्थ द्रव्य के कार्बन के रासायनिक संयोग का फल है। इसलिए जिस खाद्य में कार्बन अधिक होता है, वही तापजनक भोज्य है। मांसादि में ही कार्बन अधिक होता है। अतएव शीतप्रधान देश के लोगों के लिए मांसादि का विशेष प्रयोजन होता है। उष्ण देश में मांसादि अपेक्षाकृत अनावश्यक है। वनस्पतियां अधिक आवश्यक हैं। यहां वनस्पतियां सहज प्राप्त होती हैं— लेकिन पशुहनन कष्ट साध्य है और भोज्य पशु दुर्लभ हैं। अतएव ऊष्णदेश के खाद्य अपेक्षाकृत सुलभ हैं। खाद्य सुलभ हैं, इसीलिए धनसंचय भी शीघ्र होता है।

भारतवर्ष उष्णदेश है और उसकी भूमि भी उर्वर है। इसीलिए भारतवर्ष में अतिशीघ्र धनसंचय संभव है। यही कारण है कि भारतवर्ष में बहुत पहले ही सभ्यता का अभ्युदय हुआ था। धनाधिक्य के कारण एक संप्रदाय कायिक परिश्रम से अवकाश लेकर ज्ञानालोचना में तत्पर हो सका था। उनके द्वारा अर्जित और प्रचारित ज्ञान के कारण ही भारतवर्ष की सभ्यता का स्वरूप बना। पाठक समझ ही गये होंगे कि हम ब्राह्मण लोगों की बात कर रहे हैं।

लेकिन इस तरह जन्मी प्रथमकालिक सभ्यता ही भारतीय प्रजा की दुरवस्था का मूल है। जिन नियमों के कारण से असमय ही सभ्यता का जन्म हुआ था, उन्हीं नियमों के कारण उसकी अधिक उन्नति किसी काल में नहीं हो सकी, उन्हीं नियमों के कारण साधारण प्रजा की दुर्दशा हुई। प्रभात ही मेघाच्छन्न हो गया। बालतरु का फलवान होना अच्छा नहीं होता।

जब जनसमाज में धन का संचय हुआ, तभी अलग-अलग कार्यों में समाज दो भागों में बंट गया। एक भाग श्रम करता है, दूसरा भाग श्रम

नहीं करता। इस द्वितीय भाग को श्रम करने की आवश्यकता नहीं है, यही सोचकर वह श्रम नहीं करता । प्रथम भाग जो अतिरिक्त अन्न उत्पादित करता है, उसी से दूसरे भाग का भरण पोषण होता है। जो श्रम नहीं करते, केवल उन्हीं के पास अवकाश है, समय है, इसीलिए विचार, शिक्षा आदि पर उन्हीं का एकाधिकार है। जो विचार करता है, शिक्षा पाता है, अर्थात् जिसकी बुद्धि मार्जित होती है, वह अन्यों की अपेक्षा योग्य एवं क्षमताशाली होता है। इसीलिए समाज में इन्हीं को प्रमुख स्थान मिलता है। जो श्रमजीवी हैं, वे इन्हीं के वश में रहकर श्रम करते हैं। इनके श्रम और बुद्धि से श्रमजीवी लोग उपकृत होते हैं, पुरस्कार स्वरूप ये लोग श्रमजीवियों द्वारा अर्जित धन का अंश ग्रहण करते हैं, श्रमजीवियों के भरण-पोषण के लिए जितना जरूरी है, उसके अतिरिक्त जो कुछ पैदा होता है, वह इन्हीं लोगों के हाथों में जाता है। अतएव समाज का जो अतिरिक्त धन है, वह इन्हीं के हाथ में जमा होता रहता है। इस तरह देश में उत्पन्न होने वाला धन दो भागों में विभक्त हो जाता है— एक भाग श्रमजीवियों का है, दूसरा भाग बुद्धिजीवियों का है। प्रथम भाग 'मजूरी का वेतन' है, दूसरा भाग व्यवसाय में होने वाला मुनाफा है।[1] हम 'वेतन' और 'मुनाफा'— इन दो शब्दों का प्रयोग आगे करते रहेंगे। 'मुनाफा' बुद्धिजीवियों के घर में ही रह जाता है। श्रमजीवियों को 'वेतन' के अतिरिक्त 'मुनाफे' का कोई अंश नहीं मिलता है। श्रमजीवी संख्या में चाहे जितने अधिक हों, उत्पन्न धन में से 'वेतन' वाला अंश भर उनमें बंटता रहेगा, 'मुनाफे' में से एक पैसा भी उन्हें नहीं मिलेगा।

मान लीजिए, देश करोड़ मुद्राएं उत्पन्न करता है। उसमें से पचास लाख 'वेतन' है, पचास लाख 'मुनाफा'। मान लीजिए देश में पच्चीस लाख श्रमजीवी हैं। ऐसा होने पर यह पचास लाख मुद्रा 'वेतन' के रूप में पच्चीस लाख लोगों के बीच में बंट जायेगी और प्रत्येक श्रमजीवी के हिस्से में दो मुद्राएं आयेंगी। मान लीजिए, हठात् इन पच्चीस लाख श्रमजीवियों के बीच और पच्चीस लाख लोग कहीं से आ मिलते हैं। ऐसी स्थिति में पचास लाख श्रमजीवी हो गये। तब यह पचास लाख मुद्रा इन्हीं पचास लाख लोगों के बीच विभक्त हो जायेगी। जो 'मुनाफा' है, उसका एक पैसा भी इन्हें प्राप्त नहीं होगा, इसलिए उन्हें मिलने वाली जो पचास लाख मुद्रा है, उससे

---

1. भूमिकर और सूद इसमें संलग्न है। सारांशतः हम 'कर' या 'सूद' का उल्लेख अलग से नहीं कर रहे हैं।

एक भी पैसा ज्यादा उनके बीच नहीं बंटेगा। इसलिए प्रत्येक श्रमजीवी को दो मुद्राओं की जगह अब एक ही मुद्रा प्राप्त होगी, जबकि दो मुद्राएं उनके भरण-पोषण के लिए आवश्यक मानकर ही तय की गयी थीं। इसलिए अब जरूरी दो कौर जुटाने में उनकी दुर्दशा होगी।

अगर अतिरिक्त लोगों के आ जाने के साथ-साथ एक कोटि मुद्राओं की वृद्धि देश के धन में और हो जाती, तब फिर यह कष्ट नहीं होता। पचास लाख मुद्राओं की जगह, एक करोड़ मुद्राएं 'वेतन' के रूप में बंटती। तब लोगों की संख्या बढ़ जाने के बावजूद, सबको दो रुपए की प्राप्ति होती।

अतएव, देखने में यही आता है कि जनसंख्या में वृद्धि श्रमजीवियों के लिए अनिष्टकर होती है। जिस परिमाण में जनसंख्या में वृद्धि होती है, यदि उसी परिमाण में देश के धन की भी वृद्धि हो, तो श्रमजीवियों का कोई अनिष्ट नहीं होता। यदि जनसंख्या में वृद्धि की अपेक्षा धनवृद्धि और ज्यादा हो तो श्रमजीवियों की श्री वृद्धि होती है, जैसे कि इंग्लैंड और अमेरिका में हुई है। और यदि इन दोनों में से कोई भी घटना न घटित हो और धनवृद्धि की अपेक्षा जनसंख्या में ही अधिक वृद्धि हो तो श्रमजीवियों की दुर्दशा होती है। भारतवर्ष में शुरू से यही चीज घटित हुई है।

जनसंख्या में वृद्धि, एक स्वाभाविक नियम है। एक पुरुष और एक स्त्री से कई संतानों का जन्म होता है। उनकी हर संतान से फिर कई संतानों का जन्म होता है। इसलिए मनुष्य की यह दुर्दशा एक प्रकार से प्राकृतिक नियम जैसी है। सभी समाजों में इसके घटित होने की आशंका रहती है। लेकिन इसका सदुपाय है। इस प्राकृतिक नियम के साथ-साथ धन की वृद्धि करना। लेकिन जिस परिमाण में जनसंख्या वृद्धि होती है, उस परिमाण में प्राय: धनवृद्धि नहीं होती। इसमें कई तरह के विघ्न उपस्थित होते हैं। इसीलिए उपायों का सहारा लेना पड़ता है। उपाय दो ही हैं। एक उपाय तो यही है कि किसी देश विशेष के लोग किसी अन्य देश में चले जायें। किसी देश में लोगों के लिए अन्न पूरा नहीं पड़ता, जबकि किसी देश में अन्न तो है पर उसे खाने वाले नहीं है। अक्सर कम अन्न वाले देश के लोग ज्यादा अन्न वाले देश में चले जाएं तो कम अन्न वाले देश की जनसंख्या घट जायेगी और ज्यादा अन्न वाले देश में उनके पहुंचने के बावजूद उस देश का कोई अनिष्ट नहीं होगा। इसी तरह से इंग्लैंड का बड़ा उपकार हुआ है। इंग्लैड के लोग अमेरिका, आस्ट्रेलिया एवं पृथ्वी के

अन्यान्य हिस्सों में रह रहे हैं। इससे इंग्लैड की श्रीवृद्धि हुई है और सभी उपनिवेशों का भी मंगल हुआ है।

दूसरा उपाय है, विवाह करने की इच्छा या प्रवृत्ति का दमन। यही प्रमुख उपाय है। अगर सभी लोग विवाह करेंगे तो जनसंख्या वृद्धि की कोई सीमा नहीं रहेगी। लेकिन यदि कई लोग अविवाहित रहें तो जनसंख्या वृद्धि को रोका जा सकेगा। जिस देश के लोग स्वच्छंद जीवन जीने के अभ्यस्त हैं, जिस देश में जीवन-निर्वाह की सामग्री काफी मात्रा में चाहिए और जिसे अतिरिक्त कष्ट से ही अर्जित किया जा सकता है, वहां लोग विवाह-प्रवृत्ति का दमन करते हैं। परिवार के प्रतिपालन के उपाय अगर सुलभ न हों तो लोग विवाह नहीं करते।

भारतवर्ष में इन दोनों उपायों में से एक भी उपाय का सहारा नहीं लिया गया। उष्णता शरीर में शिथिलता उत्पन्न करती है और परिश्रम से विमुख करती है। किसी दूसरे देश में जाने के लिए उत्साह, उद्यम एवं परिश्रम चाहिए। मुख्य बात यह भी है कि स्वयं प्रकृति ने भी आहार के मामले में उसके साथ प्रतिकूल आचरण किया है। भारतवर्ष असंख्य पर्वतों और समुद्रों से घिरा हुआ है। जावा द्वीप एवं बाली को छोड़कर और किसी हिंदू उपनिवेश का उल्लेख नहीं मिलता। भारतवर्ष बहुत बड़ा है और एक प्राचीन देश की यह सामान्य औपनिवेशिक क्रिया किसी गिनती में नहीं आती।

विवाह-प्रवृत्ति के दमन के मामले में भारतवर्ष की स्थिति और भी खराब है। यहां मिट्टी का स्पर्श करते ही अन्न पैदा होता है, तिस पर थोड़ा-बहुत भोजन कर लेने पर शरीर का उपकार चाहे न हो, पर भूख मिट जाती है और जीवन संभव होता है। जलवायु की उष्णता के कारण ज्यादा चीजों की जरूरत भी नहीं पड़ती। इसलिए कामचलाऊ जीविका भी संतोषप्रद होती है। ऐसी स्थिति में परिवार पालने की अक्षमता की आशंका से कोई भयभीत नहीं होता। इसीलिए विवाह की इच्छा के दमन से लोग विमुख ही रहे हैं। जनसंख्या वृद्धि को रोकने के किसी भी उपाय का सहारा न लेने के कारण यह वृद्धि निरंतर होती रही है। नतीजा यह हुआ कि सभ्यता के प्रथम अभ्युदय के बाद से ही भारतीय श्रमजीवी की दुर्दशा आरंभ हो गयी। भूमि की जिस उर्वरता और जलवायु की जिस उष्णता के कारण सभ्यता का उदय हुआ, वही जनसाधारण की दुरवस्था का कारण भी बन गयी। दोनों ही अकाट्य प्राकृतिक नियमों का परिणाम हैं।

इसी कारण से श्रमजीवियों की दुर्दशा आरंभ हुई। लेकिन एक बार अवनति शुरू होने पर, उस अवनति के परिणामस्वरूप और अधिक अवनति घटित होती है। जिस परिमाण में श्रमजीवियों की दुरवस्था में वृद्धि होने लगी, उसी परिमाण में समाज के अन्य वर्गों द्वारा उनका शोषण भी बढ़ने लगा। जिनके पास उनसे ज्यादा धन था, वह उन पर और अधिक अधिकार जमाने लगे। श्रमजीवियों के कमजोर पड़ने के साथ बुद्धिजीवियों का प्रभुत्व भी उन पर बढ़ने लगा। अधिक प्रभुत्व का फल है अधिक अत्याचार। यह प्रभुत्व ही शूद्रपीड़क स्मृतिशास्त्र का मूल है।

हमने जिन चीजों की चर्चा की है, उनसे तीन गंभीर आशय निकलते हैं:

1. श्रमजीवियों की अवनति के जितने कारण हमने गिनाये हैं, उनके परिणाम त्रिविध हैं।

पहला फल, श्रम के लिए मेहनताने की अल्पता। इसी का दूसरा नाम दरिद्रता है।

दूसरा परिणाम, वेतन की अल्पता होने से अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है, क्योंकि जो अभाव रह जाता है, उसे खटकर पूरा करना पड़ता। इससे अवकाश मिलता ही नहीं है। अवकाश के अभाव में विद्यालोचना का अभाव हो जाता है। अतएव द्वितीय फल है मूर्खता।

तृतीय परिणाम है बुद्धिजीवियों का प्रभुत्व और अत्याचार में वृद्धि । इसी का दूसरा नाम है गुलामी।

दरिद्रता, मूर्खता, गुलामी।

ये सभी परिणाम होने पर भारतवर्ष जैसे देश में प्राकृतिक नियम और अधिक स्थायी होने लगते हैं।

देखा गया है कि धनसंचय ही सभ्यता का आदिम कारण है। अगर यह कहें कि धनलिप्सा ही सभ्यता में वृद्धि का चिरंतन कारण है तो अतिरंजना न होगी। सामाजिक उन्नति चाहने के पीछे दो ही वृत्तियां होती है; एक ज्ञानलिप्सा दूसरी धनलिप्सा। पहली वृत्ति महत्व की और आदरयोग्य है, दूसरी स्वार्थपरक और नीच वृत्ति की तरह जानी जाती है। लेकिन 'History of Rationalism in Europe' नामक ग्रंथ में लेकि साहेब कहते हैं कि दोनों वृत्तियों में से धनलिप्सा ही मनुष्य जाति के लिए मंगलकारी है। वस्तुत: ज्ञानलिप्सा कुछ में ही पायी जाती है जबकि धनलिप्सा आम चीज है, इसीलिए वह अपेक्षाकृत ज्यादा फलोत्पादक मानी जाती है। देश

में उत्पन्न धन से जनसाधारण का पेट भर जाने से, सामाजिक धनलिप्सा कम नहीं हो जाती। बराबर नए-नए सुखों की आकांक्षा जन्म लेती रहती है। पहले जो चीज किसी काम की नहीं लगती, वही बाद में अनिवार्य लगने लगती है। यह मिल जाने पर, दूसरी सामग्री आवश्यक लगने लगती है। आकांक्षा से चेष्टा जन्म लेती है और चेष्टा से सफलता का स्वाद मिलता है। इससे सुख और समृद्धि की वृद्धि होती रहती है। अतएव सुख-स्वछंदता की आकांक्षा में वृद्धि होना, सभ्यता के विकास के लिए नितांत आवश्यक है। बाह्य सुखों की आकांक्षा की परितृप्ति के बाद, ज्ञान की आकांक्षा, सौंदर्य की आकांक्षा की बारी आती है, इसी के साथ काव्य-साहित्य आदि में रुचि बढ़ती है और विभिन्न विधाओं की उत्पत्ति होती है। जब लोगों में सुख की लालसा का अभाव रहता है, तब परिश्रम की प्रवृत्ति दुर्बल रहती है। उत्कर्ष लाभ करने की इच्छा नहीं रहती है, इसीलिए उसके लिए प्रयत्न भी नहीं हो पाता। जिस देश में खाद्य सुलभ रहता है, उस देश की प्रजा के उत्कर्ष की बात भला किसके ध्यान में आती है। अतएव कविगण जिस 'संतोष' की प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते, वह 'संतोष' समाज की उन्नति में बहुत बड़ी बाधा साबित होता है, काव्य-भंडार की यह प्रवृत्ति सामाजिक जीवन के लिए हलाहल के समान है।

भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थितियों-नियमों के कारण, लोगों में यह अनिष्टकारी संतुष्टि-भाव सहज ही पैदा हो गया। इस देश में तापाधिक्य के कारण बहुत लंबे अरसे से लोगों को एकाग्र भाव से परिश्रम करना असह्य लगता है। इसीलिए परिश्रम के प्रति अनिच्छा यहां आदत में शुमार हो गयी है। इस आदत के और भी कारण हैं। ऊष्णदेश में शरीर के भीतर अधिक ताप की जरूरत महसूस नहीं होती, वहां के लोग शिकार आदि की ओर इसीलिए प्रवृत्त नहीं होते, यह हम पहले ही कह आये हैं। वन्य पशुओं को मारकर खाना पड़े तो परिश्रम, साहस, बल और कार्यतत्परता को आजमाना पड़ता है। यूरोपीय सभ्यता के मूल में ये चीजें रही हैं। पर जहां श्रम की आवश्यकता हो, वहां श्रम के प्रति अनिच्छा पैदा होगी ही और इसका परिणाम आलस्य एवं अनुत्साह ही होगा। आलस्य एवं अनुत्साह का ही दूसरा नाम संतोष है। अतएव भारतीय प्रजा की जो दुर्दशा पहले से थी, उसी में वह संतुष्ट रही। उद्यम के अभाव में और उन्नति नहीं हुई। सोते हुए सिंह के मुंह में उसका आहार अपने आप प्रवेश नहीं कर जाता।

भारतवर्ष के पुरावृत्तों का विश्लेषण करें तो संतोष संबंधी अनेक विचित्र तत्व उनमें मिलते हैं। ऐहिक सुखों के प्रति निष्पृहता के लिए हिंदू और

बौद्ध, दोनों ही धर्म ख्यात हैं। क्या ब्राह्मण, क्या बौद्ध, क्या स्मार्त, क्या दार्शनिक— सभी प्राणपण से भारतवासियों को यही सिखाते रहे कि ऐहिक सुख अनादरणीय है। यूरोप में धर्मयोजकों द्वारा ऐहिक सुखों को अवांछनीय कहकर प्रचारित किया गया था। यूरोप में रोमन सभ्यता के लोप के सैकड़ों वर्षों बाद मनुष्य की ऐहिक अवस्था के अनुन्नत रहने का कारण यही शिक्षा थी। लेकिन जब इटली में यूनानी साहित्य, यूनानी दर्शन का पुनरोदय हुआ तब उसके द्वारा प्रदत्त शिक्षा के फलस्वरूप यूरोप में ऐहिक सुखों के प्रति विरक्ति क्रमशः मंद पड़ी। साथ ही साथ सभ्यता में भी वृद्धि हुई। यूरोप में यह प्रवृत्ति बद्धमूल नहीं हो पायी। भारतवर्ष में तो यह मनुष्य के द्वितीय स्वभाव के रूप में परिणत हो गयी है। जिस वृक्ष के लिये जो भूमि उपयुक्त होती है, वह वृक्ष वहीं बद्धमूल होता है। इस देश में धर्मशास्त्रियों द्वारा जो निवृत्तिजनक शिक्षा प्रचारित हुई, उसके मूल में इस देश की अवस्था ही है। यही नहीं धर्मशास्त्रों द्वारा प्रदत्त शिक्षा के साथ मिलकर प्राकृतिक अवस्था जन्म-निवृत्ति मानो और भी दृढ़ हो गयी।

3. केवल यही नहीं कि इन सब कारणों से श्रमोपजीवियों की दुरवस्था चिरस्थायी बनती है, होता यह भी है कि समाज के अन्य वर्गों के लोगों का गौरव भी इन कारणों से ध्वंस होता है। जिस तरह से एक भांड (कुल्हड़) दूध में दो-एक बिंदु अम्ल पड़ने से सारा दूध दही बन जाता है, उसी तरह से समाज की एक निचली श्रेणी की दुर्दशा से सभी श्रेणियों की दुर्दशा का जन्म होता है।

(क) जीविका के अनुसार प्राचीन आर्य लोग चार श्रेणियों में विभक्त हुए थे— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शूद्र सबसे निचली श्रेणी है, उन्हीं की दुर्दशा की कहानी अब तक सुना रहा था। वैश्य व्यवसायी है। और वाणिज्य श्रमोपजीवियों के श्रम से उत्पन्न द्रव्य की प्रचुरता पर निर्भर करता है। जिस देश में, देश भर के लिए आवश्यक सामग्री के अतिरिक्त उत्पादन नहीं होता, उस देश में वाणिज्य की उन्नति नहीं होती। वाणिज्य की उन्नति न होने पर, वाणिज्य-व्यवसाय करने वालों के सौष्ठव की हानि होती है। लोगों में जब खरीदने की इच्छा पैदा होती है, तभी वाणिज्य की तरक्की होती है। अगर लोगों में अन्य देश में उत्पन्न सामग्री को ग्रहण करने की इच्छा न हो, तब कौन अन्य देश में उत्पन्न सामग्री लाकर हमें बेचने की बात सोचेगा अतएव जिस देश के लोगों में अभाव का एहसास नहीं होता, जो अपने श्रम से उत्पन्न सामग्री से संतुष्ट रहते हैं, उस देश

में वणिकों की श्रीहानि अवश्य होगी। कोई यह पूछ सकता है कि क्या तब भारतवर्ष में वाणिज्य था ही नहीं। था, लेकिन भारतवर्ष जैसे विस्तृत उर्वर भूमि वाले, कई स्रोतों के देश में जिस तरह के वाणिज्य बाहुल्य की संभावना थी— अति प्राचीन काल से ही जो संभावना थी— वह कोई आकार नहीं ले सकी। हाल के कुछ वर्षों में उसका सूत्रपात भर हुआ है। वाणिज्य में हानि के अन्य कारण भी थे, यथा— धर्मशास्त्रों की जकड़न, समाज का अनुत्साह इत्यादि। इस प्रबंध में उन सबका उल्लेख आवश्यक नहीं है।

(ख) क्षत्रिय ही राजा या राजपुरुष थे। पृथ्वी के पुरावृत्तों से यह तथ्य पक्की तरह प्रमाणित होता है कि अगर प्रजा राजपुरुषों के स्वेच्छाचार का विरोध नहीं करती और निस्तेज बनी रहती है तो राजपुरुष और अधिक स्वेच्छाचारी बन जाते हैं। स्वेच्छाचारी होने से वे आत्मसुख में ही रत रहते हैं, निष्क्रिय बन जाते हैं और दुष्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। अतएव जिस देश की प्रजा निस्तेज, नम्र, अनुत्साही, अविरोधी होगी, वहां के राजपुरुषों का स्वभाव इसी तरह का होगा, जिसका कि ऊपर उल्लेख हुआ है। जहां प्रजा दुःखी, अन्न-वस्त्र से लाचार, आहार जुटाने में ही व्यग्र और आत्मसंतोषी होगी, वहीं वह निस्तेज, नम्र, अनुत्साही और अविरोधी स्वभाव की होगी। भारतवर्ष में ठीक यही स्थिति रही है। इसीलिए भारतवर्ष के जो राजपुरुष महाभारत-काल तक बलशाली, धर्मिष्ठ, इंद्रियजयी नजर आते हैं, वही मध्य काल के काव्य नाटकों में बलहीन, इंद्रियों के परवश, स्त्रैण, अकर्मण्य लगने लगते हैं और बाद में मुसलमानों के हाथों 'लुप्त' होते हैं। जिस देश में साधारण जनों की अवस्था अच्छी होती है, उस देश में राजपुरुषों की ऐसी दुर्गति नहीं होती। वे राजाओं की दुर्गति देखकर, उनके प्रतिद्वंदी बनते हैं यानी उनका प्रतिरोध करते हैं। विरोध में ही उभयपक्षों की उन्नति होती है। राजपुरुष विरोध के भय से सतर्क रहते हैं। लेकिन विरोध या प्रतिरोध का केवल इतना ही लाभ नहीं है। दरअसल जोर आजमाइश से बल बढ़ता है। विरोध से सभी के मानसिक गुणों में वृद्धि होती है, वे और पुष्ट होते हैं। निर्विरोध स्थिति में किसी का भला नहीं होता। शूद्रों के दासत्व में क्षत्रियों के धन एवं धर्म का लोप हुआ था। रोम के प्लीबियनों के विवाद में, इंग्लैंड के कामनर विवाद में, प्रभु वर्ग का स्वाभाविक उत्कर्ष हुआ था।

(ग) ब्राह्मण : जिस प्रकार निम्नजातियों की अवनति से क्षत्रियों का प्रभुत्व बढ़ा था और फिर लुप्त हुआ था, ब्राह्मणों के साथ भी ठीक यही

हुआ। ऊपर उल्लिखित तीन वर्णों की अनुन्नति से, पहले ब्राह्मणों के प्रभुत्व में वृद्धि हुई। इन वर्णों की जो मानसिक क्षति हुई, उससे वे उपधर्म के वशीभूत होने लगे। दौर्बल्य आने पर भय भी अधिक होता है। उपधर्म का उदय ही भय से हुआ, इस संसार में बलशाली देवता ही अनिष्टकारक हो सकते हैं, यही विश्वास उपधर्म है। इसीलिए ये तीनों वर्ण, मानसिक शक्ति से हीन होकर, प्राय: उपधर्म के शिकार हुए। ब्राह्मण ही इस उपधर्म के नियंता बने, इसीलिए उनके प्रभुत्व में वृद्धि हुई। ब्राह्मण केवल शास्त्रजाल, व्यवस्था जाल फैलाकर क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों को इनमें लपेटने लगे। मछलियां इनके जाल में फंस गयीं— भागने का कोई उपाय भी नहीं रहा।

विधि-विधान का कोई अंत नहीं रहा। राजशासन प्रणाली, न्याय और दंड के विधान से लेकर उठने-बैठने, सोने-खाने, बोलने-बतियाने, हंसने-रोने आदि के कार्य-व्यापार ब्राह्मणों की बतायी हुई विधि से नियमित होने लगे। 'हम जिस तरह कहेंगे उसी तरह सोना होगा, उसी तरह खाना होगा, उसी तरह बैठना होगा, उसी तरह चलना होगा, उसी तरह बोलना होगा, उसी तरह हंसना होगा, उसी तरह रोना होगा, जन्म-मृत्यु पर्यंत तुम हमारी बतायी हुई व्यवस्था से अलग नहीं हो सकोगे, अगर हुए तो प्रायश्चित करना होगा, हमें दक्षिणा देनी होगी।' जाल का सूत्र यही था।[1] लेकिन दूसरे को भ्रांत करने पर, खुद को भी भ्रमित होना ही पड़ता है, क्योंकि भ्रांति फैलाने से उसी की तो आदत पड़ेगी। जिस चीज पर दूसरों को विश्वास दिलाना चाहते हैं, उसी पर स्वयं विश्वास प्रकट करने का यह खेल एक दिन यथार्थरूप धारण कर लेता है। जिस जाल में ब्राह्मणों ने भारतवर्ष को फंसाया, उसमें वह खुद भी फंस गये। यह बात अनेक प्रमाणों से पुष्ट हुई है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर पाबंदी लगाने से समाज की अवनति होती है। हिंदू समाज की अवनति के जितने कारण मैंने गिनाये हैं, उनमें से यही प्रधान है, यही सर्वाधिक दिखायी पड़ता है।

इसमें बाधित और बाधक को एक जैसा फल भुगतना पड़ता है। नियम-जाल में फंसकर ब्राह्मणों की बुद्धि कुंठित हो गयी। जिन ब्राह्मणों ने रामायण, महाभारत, पाणिनि, व्याकरण, सांख्यदर्शन आदि की अवतारणा की थी वही वासवदत्ता, कादंबरी आदि के प्रणयन में गौरव-बोध करने लगे। बाद में यह क्षमता भी चली गयी। ब्राह्मणों की मानस-भूमि बंजर हो गयी।

1. सिक्के का दूसरा पहलू मैंने धर्मतत्व में दिखाया है।

हमने यह दिखाया कि दो प्राकृतिक कारणों से भारतवर्ष के श्रमजीवियों की चिरदुर्दशा रही है। प्रथम, भूमि का अत्यधिक उर्वर होना, दूसरा, जलवायु में ताप का आधिक्य। इन्हीं दो कारणों से अत्यंत प्राचीन काल में भी भारतवर्ष की सभ्यता का उदय हुआ था। किंतु इन्हीं सब कारणों से वेतन अल्प होता चला गया। और गुरुतर सामाजिक समस्याएं पैदा हुई। इसका पहला परिणाम यह हुआ कि श्रमजीवी (1) दारिद्र्य (2) मूर्खता और (3) दासत्व के घेरे में आ गये। दूसरा, यह कि एक बार यह स्थिति बन जाने पर वह मानो प्राकृतिक नियम की तरह स्थायी हो गयी। तीसरा परिणाम यह कि इस दुर्दशा की चपेट में समाज के अन्य वर्गों के लोग भी आ गये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, एक साथ ही मानो एक ढलान पर फिसलने लगे।

यहां यह सवाल उठ सकता है कि अगर ये सारे परिणाम अनुल्लंघ्य प्राकृतिक नियमों की ही देन हैं तो बंगदेश के कृषकों के लिए चीत्कार करने से लाभ क्या है? अगर राजा अच्छे कानून बना दे तो क्या भारतवर्ष शीतल जलवायु वाले देश में परिवर्तित हो जायेगा या जमींदार प्रजा को प्रताड़ित करना बंद कर देगा तो जमीन अनुर्वरा हो उठेगी? इसका उत्तर यही होगा कि हमने जिन परिणामों की ओर इशारा किया है, वे बराबर के लिए सत्य नहीं हैं। ये मात्र इस कारण लगातार घटित होते हैं कि उन्हें दूसरे प्रकार के नियमों की ओर से कोई शक्तिशाली प्रतिरोध नहीं मिलता। लेकिन इन सभी कारणों और परिणामों की दिशा बदली जा सकती है। क्योंकि बहुत कुछ राजा और समाज के हाथों में भी है। अगर तेरहवीं शताब्दी या उसके बाद इटली पर यूनानी विचारों का गहरा प्रभाव न पड़ता तो यूरोप जैसा आज है, वैसा नहीं हो सकता था— इसमें संदेह नहीं। लेकिन जलवायु के शीतोष्ण होने या भूमि की उर्वरता पर या प्रकृति के अन्य बाहरी कारणों पर तब भी कोई परिवर्तन नहीं होता।

चतुर्थ परिच्छेद

कानून

बंगदेश के कृषक दरिद्र हैं, अन्न-वस्त्र उनको दुर्लभ है तो इसके लिए सिर्फ जमींदार ही दोषी नहीं हैं। राज्य की विधि-व्यवस्था, जमींदारों के दोषों और प्राकृतिक नियमों के नतीजों पर काबू पा सकती है— उनका नियमन कर सकती है। जो बलशाली है वह स्वभावत: दुर्बल को उत्पीड़ित करता है, लेकिन इसी का निवारण करने के लिए तो राज्य-व्यवस्था है। राजा शक्तिशाली हो तो वह दुर्बल की रक्षा कर सकता है, इसीलिए मनुष्य ने राज-शासन की शृंखला में बंधने की जरूरत महसूस की। यदि किसी राज्य में बलवान, दुर्बल को उत्पीड़ित करते हैं तो इसमें दोष राजा का ही माना जायेगा। उस राज्य में राजा अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रहा है या फिर वह कर्त्तव्य-पालन से विमुख है। अगर यह सच है कि इस देश में जमींदार, कृषकों को पीड़ित करते हैं तब तो अंग्रेज राज-पुरुषों को इसके लिए अवश्य दोषी माना जायेगा। देखें कि उन्होंने अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए अब तक क्या किया है।

प्राचीन हिंदू राज्य में जमींदार नहीं थे। राजा को आय का छठा हिस्सा देकर प्रजा निश्चिंत हो जाती थी, कोई उससे तगादा कर-करके उसे परेशान नहीं किया करता था। यह सही है कि हिंदू अपने स्वजातीय राज्य-काल का वृत्तांत लिखकर नहीं छोड़ गये हैं, लेकिन अन्य विषयों पर असंख्य ग्रंथ वह रख गये हैं। उन सब ग्रंथों से हम भारतवर्ष की प्राचीन अवस्था से अवगत हो सकते हैं। इन्हीं ग्रंथों से यह जानकारी मिलती है कि हिंदुओं के राज्य-काल में प्रजा-पीड़न नहीं था। जो लोग मुसलमानों और मराठों के समय के प्रजापीड़न और विशृंखल जन-जीवन से उदाहरण देकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्राचीन हिंदू राज्यों में भी इसी प्रकार का प्रजापीड़न था, वे विशेष रूप से भ्रांत हैं। अनेक संस्कृत ग्रंथों में प्रजा-पीड़न का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। अगर प्रजा-पीड़न की प्रचुरता होती तो हमारे प्राचीन

साहित्य में इसके जिक्र कहीं न कहीं जरूर दिखाई पड़ते; क्योंकि साहित्य और स्मृति (संस्मरण) समाज की प्रतिकृति ही तो होते हैं। प्रजा को पीड़ित करने की बात तो दूर रही, जो प्राचीन साहित्य मिलता है, उसमें यही दिखाई पड़ता है कि हिंदू राजा अत्यंत प्रजावत्सल थे। संस्कृत ग्रंथों में यही उल्लेख बार-बार मिलता है कि राजागण, पिता की भावना और न्यास से प्रजा का पालन करते थे। इसीलिए अन्य जातियों के राजाओं की तुलना में वह अधिक गौरवशाली थे। यूनानी राजाओं को तो कहा ही जाता था, 'टाइरैंट'— इस शब्द का आधुनिक अर्थ प्रजापीड़क ही है। इंग्लैंड के राजाओं का प्रजा से संघर्ष होता ही इसलिए था कि वे प्रजापीड़क थे; एक राजा को तो प्रजा ने पदच्युत ही कर दिया था, एक दूसरा राजा प्रजा के हाथों मारा गया था। फ्रांस तो प्रजापीड़न के लिए बदनाम रहा है, और प्रजा को असह्य रूप से सताये जाने के कारण ही फ्रांसीसी क्रांति की सृष्टि हुई थी। भारतवर्ष के उत्तर में और महाराष्ट्रीय इलाकों में मुसलमानों के प्रजापीड़न का तो उल्लेख मात्र ही यथेष्ट होगा। केवल प्राचीन हिंदू राजाओं को ही यह श्रेय जाता है कि वे प्रजापीड़क नहीं थे। और बस छठा हिस्सा पाकर ही वे संतुष्ट रहते थे।

मुसलमानों के काल में ही पहली बार जमींदार अस्तित्व में आये। वे राज्य-शासन में सुयोग्य न थे। जहां पर हिंदू-राजा सहज ही प्रजा से कर प्राप्त कर लेते थे, वहीं मुसलमान कर संग्रह करने में असमर्थ सिद्ध हुए। उन्होंने हर परगने में संग्रह के लिए एक व्यक्ति नियुक्त किया। ये व्यक्ति एक प्रकार से कर-संग्रह के कांट्रैक्टर (ठेकेदार) बन गये। राजा के राजस्व की अदायगी के बाद, जो भी वह अतिरिक्त वसूल कर सकते थे, वह उनके मुनाफे में शामिल हो गया। इसी से जमींदारी की सृष्टि हुई और यहीं से बंगदेश में प्रजापीड़न की शुरुआत हुई। यहीं कांट्रैक्टर जमींदार बन गये। राजा के राजस्व की अदायगी के अलावा वह जितना और वसूल कर पाते थे, वह उनके हिस्से में आता था। इसीलिए वह प्रजा को भयाक्रांत करके और अधिक वसूली करने लगे। इससे प्रजा का जो सर्वनाश होना शुरू हुआ, उसका अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है।

इसके बाद अंग्रेज राजा हुए। जब उन्होंने राज्य ग्रहण किया तब उनकी वही अवस्था थी। उनकी दुरवस्था समाप्त करने की इच्छा अंग्रेजों में थी जरूर, लेकिन लॉर्ड कार्नवालिस अपने मतिभ्रम में प्रजा का और अधिक सर्वनाश करने पर तुल गये। उन्होंने कहा, जमींदारी में जमींदारों का चिरस्थायी

अधिकार न होने के कारण वे जमींदारी अच्छी तरह नहीं चला पा रहे हैं। जमींदारी में उनका स्थायी अधिकार हो जाने पर वे उसे अच्छी तरह चलाने का पूरा यत्न करेंगे। ऐसा होने पर वे प्रजापीड़क न रहकर, प्रजापालक बन जायेंगे। यही सोचकर उन्होंने चिरस्थायी बंदोबस्त की शुरुआत की। जो कांट्रैक्टर पहले राजस्व वसूलते थे उन्हें कार्नवालिस ने भूस्वामी बना दिया।

इससे हुआ क्या? जो जमींदार पहले ही प्रजापीड़क थे, वे प्रजापीड़क ही बने रहे। लाभ के मोह में, प्रजा का सदा से भूमि पर जो स्वामित्व था, उसे हर लिया गया। प्रजा ही सदा से भूस्वामी थी, जमींदार किसी भी काल में कुछ नहीं थे— थे बस सरकारी तहसीलदार। कार्नवालिस ने वास्तविक भूस्वामियों से जमीन छीनकर तहसीलदारों को दे दी। इससे प्रजा को भला क्या लाभ हुआ? अंग्रेजों के राज्य में बंगदेश के कृषकों पर यह पहली भारी चोट थी। यह 'चिरस्थायी बंदोबस्त' बंगदेश के अध:पतन का चिरस्थायी बंदोबस्त भर है— किसी काल में यह बदलेगा नहीं। अंग्रेजों के लिए भी यह कलंक चिरस्थायी है, क्योंकि यह बंदोबस्त चिरस्थायी है।

कार्नवालिस ने प्रजा के हाथ-पांव बांधकर उसे जमींदारों के आगे फेंक दिया— जमींदार प्रजा पर अत्याचार न कर सकें इसके लिए उन्होंने विधि-सम्मत कोई व्यवस्था नहीं की। केवल यही कहा कि ''प्रजा की रक्षा और उसके कल्याण के लिए गवर्नर जनरल जब जैसा उचित समझेंगे नियम बनायेंगे और उन्हें कानूनी जामा पहनायेंगे। जमींदार, खजाने में अदायगी के लिए, इन नियमों को लेकर कोई आपत्ति खड़ी नहीं कर सकेंगे।[1]

'कानूनी जामा पहनायेंगे'; यह कहा भर, कानून नहीं बनाये। नतीजा यह हुआ कि प्रजा क्रमश: जमींदारों के हाथों पीड़ित होने लगी, लेकिन फिर भी अंग्रेजों ने कुछ किया नहीं। प्रजा के लिए यह दूसरी अशुभ घटना थी। सन् 1819 में कोर्ट ऑफ डिरेक्टर्स ने लिखा: ''हालांकि उस बंदोबस्त के बाद कई वर्ष बीत चुके हैं लेकिन हमने उस वक्त प्रजा की सुरक्षा का जो वादा किया था, उसके अनुरूप आज तक कुछ भी नहीं किया गया।'' वे केवल ऐसा आक्षेप करके रह गये। सन् 1832 में कान्वेल नाम के एक विलक्षण कर्मचारी ने लिखा : ''हालांकि राजकीय व्यवस्था में यह स्वीकृति (कि कुछ किया नहीं गया) सबसे ऊपर रखी गयी है, लेकिन सरकार ने

1. 1793 वर्ष के कानून की 8वीं धारा

प्रजा के आगे जमींदारों को खड़ा करके, प्रजा के साथ सीधे संबंध को ही समाप्त कर दिया है। इसीलिए इस स्वीकृति के अनुरूप सरकार ने कोई कार्रवाई की नहीं— यानी वह करती भी तो कैसे।''

सरकार ने जो कुछ किया भी, वह इसके विपरीत ही किया। दुर्बल को और दुर्बल किया तथा बलवान को और ज्यादा बलवान बनाया। सन् 1812 में 5 ऐसे कानून बनाये कि प्रजा का भूमि पर जो भी थोड़ा बहुत दावा रह गया था, उसका भी लोप हो गया। इस विधि के अनुसार जमींदार प्रजा को जिस जमीन का चाहे पट्टा दे सकते थे। इसका अर्थ यही हुआ कि जमींदार किसी को किसी भी प्रकार की जमीन देकर, उससे लगान या खजाना वसूल कर सकते थे।

डिरेक्टर्स ने स्वयं इसका यही अर्थ किया। नतीजा यह हुआ कि कृषक को कोई जमीन देना न देना जमींदार की इच्छा पर निर्भर हो गया। भूमि के साथ कृषक का कोई संबंध नहीं रह गया। कृषक, मजूर बन गया। यह तीसरी अशुभ घटना थी।

सन् 1812 के ये पांच कानून पूर्वकाल के 'पंचम' ही हैं। अगर कोई प्रजा का सर्वस्व लूट लेना चाहता था तो 'पंचम' का प्रयोग करता था। इस वक्त भी कानून वही है, केवल नाम वह नहीं है। 'कुड़की' कितनी चमत्कारी चीज है, यह हम द्वितीय परिच्छेद में लिख चुके हैं। सन् 1812 में कुड़की के लिए बनाये गये पांच कानून भी पहले कानून नहीं हैं। जिस वर्ष जमींदार पहली बार भूस्वामी हुए, उसी वर्ष कुड़की के कानून भी अस्तित्व में आये।[1] जमींदार तो सदा से प्रजा की फसल लूटते चले आये थे, लेकिन अंग्रेजों ने पहली बार उस दस्युवृत्ति को कानूनी जामा पहनाया। तभी से यह दस्युवृत्ति विधि-सम्मत हो गयी है। इस तरह चौथी बार प्रजा का भाग्य फूटा।

बाद में सन् 1812 में 18 और कानून बने। इन्हीं के द्वारा 5 कानूनों का मंतव्य प्रकट हुआ। डिरेक्टर्स ने लिखा कि इन कानूनों के मुताबिक जमींदारों का अगर अपने अधीन प्रजा से कर उगाही पर कोई विवाद हो तो वह उनकी पैतृक संपत्ति का अधिग्रहण कर सकते हैं।[2]

इसके बाद सन् 1859 तक और किसी ओर से कुछ नहीं हुआ। सन् 1859 में दस विख्यात कानूनों की सृष्टि हुई। अंग्रेजों की ओर से प्रजा के

---

1. 1793 वर्ष के कानून की 5वीं धारा।
2. सन् 1793 वर्ष के 18 कानून की 2 धारा।

उपकारार्थ पहली बार कुछ नियमों की स्थापना हुई। सन् 1793 में कार्नवालिस ने जो अंगीकार किया था प्राय: 70 वर्षों बाद प्रात:स्मरणीय लॉर्ड कैनिंग द्वारा उसकी कुछ क्षतिपूर्ति हुई। वह क्षतिपूर्ति पहली थी और वही अंतिम भी सिद्ध हुई।[3] इसके बाद और कुछ नहीं हुआ। सन् 1869 के 8 कानून, दस कानूनों की अनुलिपि मात्र थे।[4]

सन् 1859 के दस कानून भी प्रजा के लिए मंगलकारी थे, हम ऐसा नहीं मानते। प्रजा के पास जो कुछ था, वह उसे फिर वापस नहीं मिला। उनके ऊपर जो अत्याचार होते रहते हैं, उसके निवारण के कोई उपाय इन कानूनों से या किन्हीं अन्य कानूनों के द्वारा नहीं हुए। कुर्की-लूट की विधि पहले की तरह चली आ रही है। ज्यादातर तो खजाना बढ़ाना ही सुगम हुआ है। इन कानूनों की सहायता से जिन्हें लूटना संभव न हो, ऐसे कृषक बंगदेश में कम ही हैं।

फिर भी मात्र इतने में ही प्रजा के प्रति पक्षपात देखने वाले प्रजाद्वेषी और स्वार्थी जमींदारों ने कितना कोलाहल मचाया था और अभी भी मचाये हुए हैं!

हमने यह बताया कि ब्रिटिश राज्य काल में भूमि संबंधी जो सभी कानून बने, उनसे पग-पग पर प्रजा का अनिष्ट हुआ है। हर बार दुर्बल प्रजा का बल हरण करके कानून बनाने वालों ने बलवान जमींदारों की बलवृद्धि की है। फिर जमींदार प्रजापीड़न क्यों नहीं करते?

ब्रिटिश राजपुरुषों ने इच्छापूर्वक प्रजा का अनिष्ट नहीं किया। कर-वसूली की अवधि तक साधारण प्रजा का किस प्रकार हित हो, यही उनका अभिप्राय रहा है, यही उनकी चेष्टा रही है। दुर्भाग्यवश वे विदेशी हैं, इस देश की अवस्था से विशेष रूप से अवगत नहीं हैं। क्रमश: पतित होकर इन सभी बेहद अनिष्टकारी विधियों को उन्होंने प्रचारित किया है। लेकिन भ्रमवश हो, या जिन कारणों से भी हो, प्रजापीड़न होने पर राजा को दोष देना पड़ता है।

पर इसकी अपेक्षा एक और गंभीर बात है। अंग्रेजों का प्रताप दुर्दांत है, इस प्रताप से समस्त एशिया-खंड संकुचित है; फिर जमींदारों की दुर्जनता

3. Revenue Letter, 9th May, 1821, para 54.
4. जब यह प्रबंध लिखा गया था तब नया Tenancy Act प्रचारित नहीं हुआ था।

का निवारण होता क्यों नहीं हैं? बहुदूर वासी अबीसीनिया के राजा ने कुछेक अंग्रेजों को पीड़ित किया था। बस इसी के चलते उनके राज्य का लोप हुआ। और राज प्रतिनिधियों की अट्टालिका के नीचे जब लाख-लाख प्रजाजनों का पीड़न हो रहा है, फिर उसका प्रतिकार क्यों नहीं हो रहा? जमींदार प्रजा को पकड़ मंगा रहे हैं, कैद कर रहे हैं, मार-मारकर रुपये वसूल कर रहे हैं, उनकी फसल लूट रहे हैं, भूमि छीन ले रहे हैं, सर्वस्व हरण कर रहे हैं, फिर भी प्रतिकार होता क्यों नहीं है? कुछ लोग कहेंगे, इसके लिए राजपुरुषों ने कानून बनाये हैं, अदालतें बनायी हैं, फिर सरकार की इसमें क्या त्रुटि? हम भी यही सवाल पूछ रहे हैं? कानून हैं — पर उस कानून से अपराधी जमींदार दंडित क्यों नहीं होते? अदालत है — पर उस अदालत में दोषी जमींदार ही बराबर क्यों जीत जाता है? क्या इसका कोई उपाय नहीं है? जिस कानून से केवल दुर्बल दंडित हो, जो बलवान पर लागू ही न हो पाये— वह कानून है कैसा? जिस अदालत का बल केवल दुर्बल पर चलता हो, बलवान के ऊपर नहीं, वह अदालत, अदालत क्यों कर है? शासन-दक्ष अंग्रेज क्या इसकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं कर सकते? अगर नहीं कर सकते, तो फिर क्यों अपनी शासन-दक्षता पर गर्व करते हैं? यदि कर सकते हैं तो फिर अपना मुख्य कर्त्तव्य निबाहने की अवहेलना क्यों करते हैं? हम इन दीन-हीन छह करोड़ बंगालियों, बंगाली कृषकों के लिए, उनसे हाथ जोड़कर यह विनती करते हैं— उनका मंगल हो। अंग्रेजों का राज्य अक्षय रहे। वे निस्सहाय कृषकों की ओर दृष्टिपात करें।

अदालत में कानून से कृषकों का उपकार क्यों नहीं होता, इसका एक कारण संक्षेप में हम यहां बताते हैं।

प्रथम, मुकद्दमा अतिशय व्ययसाध्य हो गया है। किस प्रकार का व्यय, इसका उदाहरण हमने द्वितीय परिच्छेद में दिया है, उसका पुन: उल्लेख आवश्यक नहीं है। जो व्ययसाध्य है, वह दरिद्र कृषकों के वश का नहीं है। इसलिए सब समय उसके द्वारा वह उपकृत नहीं हो पाते, बल्कि जो कुछ घटित होता है वह इसके विपरीत ही होता है। जमींदार धनी हैं, अदालत का खेल वह खेल सकते हैं। दोष हो या न हो, वे इच्छा करने मात्र से कृषक को अदालत में घसीट लाते हैं। इसमें धनवानों की ही विजय होती है, इसलिए कृषकों की दुर्दशा होती है, अतएव कानून अदालत, कृषकों को पीड़ित करने के लिए, धनवानों के हाथ में एक और उपाय भर है।

द्वितीय, अदालतें प्राय: दूरस्थ हैं। जो दूरस्थ है, वह कृषकों के पक्ष में उपकारी नहीं हो सकता। कृषक घर-मकान किसानी प्रभृत्ति छोड़कर, दूर जाकर मुकद्दमा नहीं लड़ सकता। व्यय की बात तो दूर की है, इससे उनके कामकाज में बड़ी क्षति होती है एवं अनेक अनिष्टों की संभावना रहती है। कृषक गुमाश्ता के नाम पर नालिश करने के लिए जाता है, तो उसी मौके पर गुमाश्ता के दबाव में लोग उसका धान चुरा ले जाते हैं, यही नहीं कोई एक और कृषक गुमाश्ता से पट्टा लेकर उसकी जमीन पर दखल कर लेता है। फिर, हमारे देश में लोग, अपवादों को छोड़ दें, तो आलस्य के वशीभूत हैं। शीघ्रता नहीं करते, सहज ही उठ नहीं खड़े होते, किसी कार्य में तत्परता नहीं दिखाते। दूर नहीं जाना चाहते। कृषक बल्कि जमींदार का अत्याचार चुपचाप सह लेगा, पर दूर जाकर उसका प्रतिकार नहीं करना चाहेगा। जो न्याय-कार्य के लिए नियुक्त हैं वे जानते हैं कि उनके न्यायालय में निकटवर्ती स्थानों के मुकद्दमे कई होते हैं, दूर के मुकद्दमे प्राय: नहीं आते। अतएव न्याय के निकट रहने पर, अत्याचार पर जिस तरह का शासन संभव है, वह दूर रहने पर संभव नहीं होता। इसका एक परिणाम यह भी हुआ है कि गुमाश्ते ही न्यायाधीश का काम करने लगे हैं। जब कोई कृषक, किसी दूसरे पर अन्याय करता है, तब उसकी नालिश जमींदार के गुमाश्ता के निकट की जाती है। जब गुमाश्ता स्वयं अत्याचार करता है तो उसकी नालिश नहीं होती। जो व्यक्ति स्वयं परपीड़क है, और चार पैसों के लोभ में हर प्रकार का अत्याचार करने को प्रस्तुत है, उसके हाथों में न्याय का काम रहने पर देश का कितना अनिष्ट हो रहा है, इसे बुद्धिमान लोग समझ सकते हैं।

तृतीय है— विलंब। सभी अदालतों में मुकद्दमों का निपटारा विलंब से होता है। विलंब में जो प्रतिकार है, उसे प्रतिकार नहीं कह सकते। गुमाश्ता ही कृषक का धान उठाकर ले गया है, इस पर कृषक ने क्षतिपूर्ति के लिए अदालत में नालिश की। अगर भाग्य के बड़े जोर से उसे डिक्री मिली भी तो एक वर्ष में। अपील में एक और बरस चला गया। अगर अत्यंत सौभाग्य से अपील में डिक्री टिकी तो, और डिक्री के जारी होने पर रुपयों की वसूली हुई तो, इसमें भी एक वर्ष लग गया। वादी के बीस रुपये के धान की क्षति हुई थी, डिक्री जारी होने का खर्च बाद में देने पर पांच रुपये की अदायगी हुई। इस तरह के प्रतिकार की आशा में कौन कृषक जमींदार के नाम पर नालिश करेगा?

विलंब में न्यायाधीशों का दोष नहीं है। अदालतों की संख्या थोड़ी है— जहां पर तीन न्यायाधीशों का होना अच्छा होता, वहां पर एक भी नहीं है। इसलिए मुकद्दमा निपटाने में विलंब हो जाता है और प्रचलित क़ानून अत्यंत जटिल है। विचार प्रणाली में और अधिक लिपिबद्धता की एवं अत्यंत कार्य बहुलता की आवश्यकता है। आज इस मुकद्दमे में प्रतिपक्ष के वकील की भयंकर जिरह के कारण एक मुकद्दमे में एक ही गवाह मात्र की गवाही हो सकी, इसलिए और पांच मुकद्दमों के विषय में और कुछ नहीं हुआ, और एक मास के बाद की उनकी तारीख पड़ी। कल एक निपटारे के योग्य मुकद्दमे में एक निष्प्रयोजनीय साक्षी अनुपस्थित रहा, उसके लिए दस्तक देनी पड़ी। इसलिए मुकद्दमा एक और मास के लिए टल गया। यह सब न करने पर न्याय-निर्णय संगत नहीं होता। निष्पत्ति अपील में ठहरती, टिकती नहीं। विचार में विलंब होता है, यह भी स्वीकार है— अविचार होता है, यह भी स्वीकार है, तथापि कलकत्ता में तैयार हुए कानून के सूक्ष्म शब्दों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी कानून का मर्म यही है।

हम जो सभ्य हो रहे हैं, दिन पर दिन देश की श्रीवृद्धि हो रही है, यह उसका एक परिचय है। हमारे देश में अच्छे कानून नहीं थे, विलायत से अब अच्छे कानून आये हैं। जहाजों से आने पर, बंदरगाह में ढुलाई होने पर, फिर कलकत्ता में उन कल-पुर्जों के जोड़े जाने पर देश-देश में ऊंचे दामों पर वे बिक रहे हैं। इससे वकालत, डाक्टरी, अफसरी प्रभृत्ति अनेक पेशों की सृष्टि हुई है। व्यापारी अपने-अपने माल की प्रशंसा करते-करते अधीर हो रहे हैं। जो पहले अन्न नहीं जुटा पाते थे, अब गल्लेबाजी के जोर पर बड़े आदमी बन गये हैं। देश की श्रीवृद्धि की और कोई सीमा नहीं है। सर्वत्र कानूनन न्याय हो रहा है। अब कोई गैरकानूनी ढंग से न्याय-निर्णय नहीं कर सकता। इससे दीन-दुखी लोगों को कुछ कष्ट उठाना पड़ रहा है, पर वे कानून के गौरव को समझे बिना, न्याय चाहते हैं। यह केवल उनका मूर्खताजनित भ्रम ही तो है।

मान लें, गुमाश्ता ने किसी दुःखी प्रजा पर, कोई गंभीर अन्याय किया है। गुमाश्ता को सेशन अदालत के हवाले किया गया। सेशन में मुकद्दमे की गवाहियों के बयान पर प्रतिवादी का अपराध प्रमाणित हुआ। लेकिन निर्णय जूरी के हाथ में है। जूरी महाशय इस कार्य के नये व्रती हैं, प्रमाण-अप्रमाण कुछ भी नहीं समझते। जब गवाहियों के बयान लिये जा रहे

थे, तब उनमें से कोई पता नहीं कौन-सी गिनती कर रहा था, कोई दुकान की आमदनी-देनदारी का मन ही मन हिसाब लगा रहा था, कोई अल्पतंद्रा की अवस्था में था। वकील जब सफाई पेश कर रहे थे, तब वे कुछ क्षुधातुर थे, यही सोच रहे थे कि गृहिणी ने घर पर खाने-पीने की कौन-सी चीजें तैयार करके रखी हैं। जज महाशय जब दुर्बोध बांग्ला में अपना 'फैसला' सुना रहे थे, तब वे मन ही मन जज साहब की दाढ़ी के पके हुए बाल गिन रहे थे। जज साहब ने जब अंत में कहा, 'संदेह का लाभ प्रतिवादी को मिलेगा', वही केवल कानों तक पहुंचा। जूरर महाशयों में सभी को संदेह है— कुछ सुना नहीं, कुछ समझा नहीं, सुन कर समझकर कुछ स्थिर करने का अभ्यास नहीं है, हो सकता है वह क्षमता भी न हो, इसलिए उन्होंने संदेह का लाभ प्रतिवादी को दिया। गुमाश्ता महाशय छूटकर, फिर से कचहरी में जाकर जम गये। भय से वादी सपरिवार फरार हो गया। जिन्होंने दोषी के विरुद्ध गवाही दी थी, उनकी जर-जमीन गुमाश्ता ने मिटा दी। हम बड़े संतुष्ट हुए— क्योंकि जूरी का निर्णय हुआ है— विलायती प्रथा के अनुसार न्याय हुआ है— हम बड़े सभ्य हो गये हैं, ऐसा भान हुआ।

इस प्रकार की अतार्किकता, जटिलता और अन्याय वर्तमान कानून का चतुर्थ कारण है।

पंचम कारण है, विचार करने वाले वर्ग की अयोग्यता। इस देश के प्रधानतम न्यायाधीश सभी अंग्रेज हैं। अंग्रेज हर प्रकार से कार्यदक्ष, सुशिक्षित एवं सद्भावी हैं। लेकिन ऐसा होने पर भी न्याय-कार्य में उनकी वैसी योग्यता नहीं है। क्योंकि वे विदेशी हैं, इस देश की अवस्था से ठीक से अवगत नहीं हैं, इस देश के लोगों का चरित्र नहीं समझते, उनके प्रति सहृदयता नहीं है, और उनमें से अनेक इस देश की भाषा भी ठीक से समझते नहीं हैं। इसलिए ठीक से न्याय नहीं कर सकते, न्याय कार्य के लिए जो शिक्षा आवश्यक है, वह भी बहुतों के पास नहीं है।

कुछ लोग कह सकते हैं, अधिकांश मुकद्दमे ही दूसरे दरजे के न्यायाधीशों द्वारा निपटाये जाते हैं, और अधिकांश दूसरे दरजे के विचारक-न्यायाधीश— इसी देश के हैं, तो फिर ऊपर बैठे हुए कुछ अंग्रेज न्यायाधीशों द्वारा न्याय-निर्णय की हानि संभव नहीं हैं। दूसरा उत्तर यह है कि प्रथमतः सभी बंगाली न्यायाधीश न्याय-कार्य के योग्य नहीं हैं। बंगाली न्यायाधीशों के मध्य अनेक मूर्ख, स्थूलबुद्धि, अशिक्षित, अथवा सच पर न चलने वाले हैं। इस

संप्रदाय के न्यायाधीश सौभाग्य से दिन पर दिन अल्पसंख्यक होते जा रहे हैं। तथापि विशेष सुयोग्य बंगाली न्यायाधीश श्रेणी युक्त नहीं हैं। इसका कारण यही है कि इन देशी विचारकों की उन्नति नहीं है, पदवृद्धि नहीं है, जो वकालत करके अधिक उपार्जन करने में सक्षम हैं, वे सभी क्षमतावान लोग न्यायाधीश-पद के प्रार्थी नहीं होते। इसलिए बराबर मध्यम श्रेणी के लोग एवं अधम श्रेणी के लोग ही इसमें प्रवृत्त होते हैं। दूसरी बात यह कि मंझले या दूसरे दर्जे के विचारकों के सुविचार करने से क्या होगा? अपील में आखिरी विचार तो अंग्रेजों के हाथों में ही रहता है। नीचे सुविचार होने पर भी ऊपर अविचार होता है, और यही अविचार अंतिम होता है। अनेक न्यायाधीश सुविचार— न्याय— कर सकते हैं पर अपील के भय से नहीं करते, जो अपील में टिकेगा, वही करते हैं। इस विषय में हाई कोर्ट कई बार विशेष रूप से अनिष्टकर होता है। वे नीचे के, बीच के न्यायाधीश वर्ग को न्याय-पद्धति की सीख देते हैं, कानून समझा देते हैं; कहते हैं, इस प्रकार विचार करना सीखो, इस कानून का अर्थ इस रूप में समझो। कई बार ये सारे कानून भ्रमात्मक होते हैं— कभी-कभी तो हास्यास्पद हो उठते हैं। लेकिन नीचे के विचारकों को उन्हीं के अनुरूप चलना पड़ता है। ऐसे सबॉर्डिनेट जज, मुंसिफ और डिप्टी मजिस्ट्रेट कई हैं जो हाईकोर्ट के जजों की अपेक्षा मामलों को बेहतर ढंग से समझते हैं, किंतु उन्हें अपेक्षाकृत अविज्ञ लोगों के निर्देशों के अनुसार चलना पड़ता है।

इस प्रबंध को लिपिबद्ध कर लेने के बाद 'समाज दर्पण' नाम के एक अभिनव संवाद-पत्र पर नजर पड़ी। उसमें 'बंगदर्शन और जमींदारगण' शीर्षक से एक टिप्पणी है, हमारे इस प्रबंध के पूर्व परिच्छेद के संदर्भ में वह लिखी गयी है। उससे दो-एक बातें उद्धृत करने की इच्छा है, क्योंकि लेखक ने जिस रूप में विवेचना की है, बहुतेरे उसी रूप में विवेचना करते हैं या कर सकते हैं। वे कहते हैं—

''ऐसे में जबकि दसमाला बंदोबस्त का गर्त चतुर्दिक खनन किया जा रहा है, तब बंगदर्शन जैसे दो-एक संभ्रांत विचक्षण बंगाली भी उस ध्वंस का अनुमोदन करते दिखाई पड़ रहे हैं—तो भला रक्षा कहां है?''

हम स्पष्ट रूप से यह कह सकते हैं, कि दसमाला बंदोबस्त का ध्वंस हमारी कामना नहीं है, और हम उसका अनुमोदन भी नहीं करते। सन् 1793 में जो भ्रम घटित हुआ था, अब उसका संशोधन संभव नहीं है। उसी भ्रांति पर आधुनिक बंगसमाज निर्मित हुआ है। चिरस्थायी बंदोबस्त के ध्वंस से

बंगसमाज के अत्यंत विशृंखलित होने की संभावना है। हम सामाजिक विप्लव के अनुमोदक नहीं हैं। जिस विशेष बंदोबस्त का अंग्रेजों ने सत्य-प्रतिष्ठा करके चिरस्थायी किया है, उसका ध्वंस करके वे इस भारत मंडल में मिथ्यावादी के रूप में परिचित हों, प्रजावर्ग के चिरकाल तक अविश्वासभाजन बनें, इस प्रकार का कुपरामर्श हम अंग्रेजों को नहीं देते। जिस दिन अंग्रेज अमंगलाकांक्षी होंगे, समाज के अमंगलाकांक्षी होंगे, उस दिन यह परामर्श देंगे। और अंग्रेज भी इतने निर्बोध नहीं हैं कि इस तरह के गर्हित और अनिष्टजनक कार्य में प्रवृत्त हों। हम केवल यही चाहते हैं कि उस बंदोबस्त के कारण जो समस्त अनिष्ट घटित हुआ है, उसे इस समय सुनियमित करके जितनी दूर तक इसका प्रतिकार हो सकता हो, वह हो। कथित लेखक ने लिखा है कि, 'जिससे, दसमाला बंदोबस्त में बिना किसी प्रकार के व्याघात के जमींदार और प्रजा—दोनों के अनुरूप सारी सुव्यवस्थाएं स्थापित हो, जिसके द्वारा दोनों की उन्नति से देश की श्रीवृद्धि हो सकती हो, उसी विषय में परामर्श देना कर्त्तव्य है।'' हम भी यही चाहते हैं।

ध्यातव्य यह भी है कि, हमने कार्नवालिस के बंदोबस्त को भ्रमात्मक, अन्यायपूर्ण, एवं अनिष्टकारक जरूर कहा है, लेकिन अंग्रेजों ने जिस भूमि से स्वत्व त्याग कर इस देश के लोगों को उसका स्वत्व प्रदान किया है एवं करवृद्धि का अधिकार त्याग किया है, उसकी आलोचना हम नहीं करते। यह तो उन्होंने अच्छा ही किया है। और यह तो सुविवेचना का कार्य है, न्यायसंगत है, और समाज के लिए मंगलजनक है। हम यह कहते हैं कि वह चिरस्थायी बंदोबस्त जमींदारों के साथ न करे, इसे प्रजा के साथ करना उचित था। तब यह निर्दोष होता। वैसा न होने पर ही भ्रमात्मक है, अन्यायपूर्ण और अनिष्टजनक बना है।

लेखक ने यह भी कहा है,—

''हम देख रहे हैं कि बांग्ला देश नितांत निर्धन हो गया है। सभी कहते हैं कि हमारे देश का धन हमारे देश में नहीं रह पा रहा है, विदेशी वणिक और राजपुरुष उसे प्राय: लिये जा रहे हैं, यदि महात्मा कार्नवालिस जमींदारों की श्री के लिए यह उपाय न करते, तब यह देश इतने दिनों में और भी दरिद्र हो गया होता। देश में जो कुछ भी अर्थ संपत्ति है, वह इन्हीं कई जमींदारों के घरों में दिखाई पड़ती है।''

साधारणत: बहुतेरे यही बात कहते हैं, इसलिए इसकी विवेचना में जो कई भ्रम हैं, उन्हें दर्शाने के लिए बाध्य हुआ हूं।

1. यूरोप के किसी राज्य से तुलना करने पर, बांग्ला देश निर्धन जरूर है, लेकिन पूर्वापेक्षा बांग्ला देश अभी भी निर्धन है, इस प्रकार की विवेचना करने का कोई कारण नहीं है। बल्कि इस समय पूर्वापेक्षा देश के धन में जो वृद्धि हुई है, उसके अनेक प्रमाण मौजूद हैं। 'बंगदेश का कृषक' के प्रथम परिच्छेद में हमने किसी-किसी प्रमाण का उल्लेख किया भी है। इस वक्त उन्हें दुहराना जरूरी नहीं है।
2. विदेशी वणिक और राजपुरुष देश का धन बटोर कर ले जा रहे हैं, इसलिए देश में धन नहीं रह पा रहा है। इस प्रसंग में पहले विदेशी वणिकों के विषय में चर्चा कर लें।

जो यह बात कहते हैं, उनमें से सबके कहने का अर्थ यही लगता है कि वणिक इस देश में आकर अर्थ उपार्जन कर रहे हैं, इसलिए इस देश का रुपया लिये जा रहे हैं। जिस रुपये में उनका लाभ है, वह रुपया इस देश का है। लगता है यही उनके कहने का उद्देश्य है।

विदेशी वणिक जो लाभ कमा रहे हैं, वह दो प्रकार का है, एक आमदनी से, दूसरा इस देश की चीजें ले जाकर वे देशांतर में बिक्री करते हैं, इसमें उनका कुछ मुनाफा रहता है। देशांतर से चीजें लाकर इस देश में बिक्री करते हैं, इसमें भी उनका कुछ मुनाफा रहता है। इसके अलावा उनको और किसी प्रकार का लाभ नहीं है।

इस देश से चीजें ले जाकर विदेश में बिक्री करने से जो मुनाफा वे कमाते हैं, वह मुनाफा इस देश के लोगों से नहीं लेते। जिस देश में वे बिक्री करते हैं, उस देश के रुपये से वे मुनाफा पाते हैं। यहां से तीन रुपये टन चावल खरीद कर उन्होंने विलायत में पांच रुपये टन चावल बेचा, जो दो रुपये का मुनाफा उन्होंने किया, वह इस देश के लोगों को नहीं देना पड़ा, विलायत के लोगों ने दिया। बल्कि इस देश में ढाई रुपये में चावल खरीद कर, उन्होंने इस देश के लोगों को तीन रुपये में बेचकर, कुछ मुनाफा किया। अतएव विदेशी वणिक, इस देश की सामग्री विदेशों में बेचकर, इस देश का रुपया घर नहीं ले जा सके। बल्कि कुछ दे ही गये।

तब यही स्थिर हुआ कि, अगर वे इस देश का कुछ रुपया घर ले जा पाते हैं तो विदेश से लायी हुई चीजों को इस देश में बेचकर जो मुनाफा कमाते हैं, उसी के माध्यम से। विलायत से चार रुपये में थान खरीद कर, इस देश में छः रुपये में बेचा, इससे दो रुपये का मुनाफा

हुआ, वह इस देश के लोगों ने दिया। इसलिए अंतत: यह बोध होता है कि इस देश का रुपया उनके हाथों विदेश गया। देश का रुपया कम हुआ। यह भ्रम केवल इस देश के लोगों में नहीं है। यूरोप के सभी देशों में यह अनेक दिनों तक लोगों के मन में बना रहा है, और यह कुछ विद्वान लोगों को छोड़कर, साधारण लोगों के मन से आज भी दूर नहीं हुआ है। इसका यथार्थ तत्व इतना दुरूह है कि कुछ दिनों पहले तक महामहोपाध्याय पंडित (विद्वान) भी इसे समझ नहीं पाते थे। राजागण और मंत्रीगण इस भ्रम से पतित होकर, देश में विदेश की सामग्री न आ पाने के उपाय ढूंढ़ने में लग गये। और इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर विदेश से लायी हुई सामग्री पर काफी शुल्क लगाने लगे। इस महाभ्रमात्मक समाज नीति के सूत्र से यूरोप में इसे Protection के नाम से पुकारा जाने लगा। इसी पर आधारित आधुनिक अनर्गल वाणिज्य प्रणाली (Free Trade) संस्थापित कर ब्राइट और कवडेन चिरस्मरणीय बने हैं। फ्रांस में वे विशेष रूप से, नेपोलियन तृतीय के भी प्रतिष्ठाभाजन बने। तथापि यूरोप में अब तक अनेकों का भ्रम दूर नहीं हुआ है। हमारे देश के साधारण लोगों में वह भ्रम रहे तो इसमें आश्चर्य क्या है? Protection से यूरोप का क्या अनिष्ट हुआ— जो यह जानने की इच्छा रखते हों, वे बकल के ग्रंथ का पाठ करें। जो उसकी असत्यता समझना चाहेंगे वे मिल् का पाठ करेंगे। इस प्रकार के दुरूह तत्व को समझाने का सामर्थ्य, इस क्षुद्र प्रबंध के शेष भाग में नहीं किया जा सकता। हम केवल कुछ देशी बातें कहकर विराम लेंगे।

हमने छ: रुपये देकर विलायत का थान खरीदा। क्या ये छ: रुपये हमने यों ही दिये? ऐसे ही नहीं दिये— उसके बदले में हमें एक सामग्री मिली। वह सामग्री हम यदि उसके उचित मूल्य से एक पैसा अधिक देकर खरीदें तो वह पैसा हमारी क्षति हुई। लेकिन अगर हम एक पैसा भी अधिक न दे रहे हों, तो हमारी कोई क्षति नहीं हुई। अब यह विवेचना करके देखिये छ: रुपये का थान खरीद कर एक भी पैसा अधिक मूल्य उसका चुकाया है या नहीं? इस से एक पैसे कम में वह थान हम कहीं नहीं पाते, पाने पर साधारण लोग उसे छ: रुपये में क्यों खरीदेंगे? यदि छ: रुपये से एक पैसा कम पर यह थान हमें कहीं नहीं मिलता, तो यह मूल्य अनुचित नहीं है। जिसने छ: रुपये का थान खरीदा, उसने उचित मूल्य पर ही खरीदा। यदि उचित मूल्य में सामग्री खरीदी गयी तो क्रेताओं का नुकसान क्या है? किस प्रकार उनका रुपया विदेशी वणिकों द्वारा अपहृत करके,

विदेश ले जाया गया? उन्होंने दो रुपये का मुनाफा अवश्य कमाया, लेकिन क्रेताओं की कोई क्षति करके नहीं, क्योंकि उचित मूल्य ही लिया है। यदि किसी की क्षति न करके वे मुनाफा कमा रहे हैं, तो इसमें हमारा अनिष्ट कहां है? जिस प्रसंग में किसी की क्षति नहीं है, उस प्रसंग में देश का अनिष्ट कैसा?

आपत्ति की मीमांसा अभी भी हुई नहीं है। आपत्ति करने वाले कहेंगे, देशी बुनकर से थान खरीदने पर छः रुपये देश में ही रहते। यह ठीक है। लेकिन देशी बुनकर के पास थान कहां है? वह यदि थान बुन सकता, इस मूल्य में ऐसा थान दे पाता, तो हम उसी से थान खरीदते— विदेशी से नहीं खरीदते। क्योंकि, तब विदेशी भी थान लाकर हमारे पास बेचने नहीं आता। कारण देशी विक्रेता जहां समान दर में वह चीज बेच रहा हो, वहां उनका लाभ नहीं होता। यह बात समाज नीति के एक और दुर्बोध्य नियम पर निर्भर करती है, वह इस वक्त रहने दें। मोटी बात यह है कि देशी बुनकर को जो ये छः रुपये नहीं मिले, उससे किसी की क्षति नहीं हुई। क्रेताओं को क्षति नहीं है, यह हम दिखा चुके हैं। देशी बुनकर की भी क्षति नहीं है। वह थान नहीं बुन रहा, पर अन्य कपड़ा बुन रहा है। जिस समय में वह छः रुपये के लिए यह थान बुनता, उस समय में वह अन्य कपड़ा बुन रहा है। वह सब कपड़ा बिक्री हो रहा है। अतएव उसका जो उपार्जन होना था, वह हो रहा है। थान बुनकर वह और अधिक उपार्जन नहीं कर सकता था, थान बुनने पर अन्य कपड़ों का बुना जाना स्थगित रहता। जिस प्रकार थान का छः रुपये मूल्य वह पाता, उसी प्रकार छः रुपये मूल्य का अन्य कपड़ा नहीं बुना जाता, इसलिए लाभ नुकसान बराबर हो जाता। अतएव बुनकर की इसमें कोई क्षति नहीं है।

तार्किक कहेंगे, बुनकर की क्षति है। इस थान की आमदनी के कारण बुनकर का व्यवसाय मारा गया। बुनकर थान नहीं बुनता, धोती बुनता है। धोती की अपेक्षा थान सस्ता है, इसलिए लोग थान पहनते हैं, धोती अब नहीं पहनते। इसलिए अनेक बुनकरों का व्यवसाय लुप्त हुआ है।

कपड़ा बुनने के उनके व्यवसाय का लोप जरूर हुआ है, लेकिन वे अन्य व्यवसाय क्यों न करें। अन्य व्यवसायों का पथ अवरुद्ध नहीं हुआ। कपड़ा बुनकर उसे खाने को नहीं मिल रहा, लेकिन धान 'बुनकर' खाने पर कोई बाधा नहीं है, यह समाजवेत्ताओं ने प्रमाणित किया है। यदि कपड़ा बुनकर महीने में पांच रुपये का लाभ होता, तो वह धान बुनकर वही पांच

रुपये का लाभ कमा लेगा। धान या धोती से उसे छः रुपये मिलते, धान से उसे वही छः रुपये मिलेंगे। तब फिर बुनकर की क्षति कहां हुई?

इस पर भी एक सवाल उठ सकता है। आप कहते हैं, कपड़ा बुनकर को खाने को न मिले तो वह धान बुनकर खायेगा, किंतु धान रोपकर खाने वाले अनेक लोग हैं। अन्य लोगों के भी उस व्यवसाय में उतरने पर लाभ कम हो जायेगा; क्योंकि अत्यधिक लोगों के उस क्षेत्र में जाने पर अधिक धान होगा, इसलिए धान सस्ता हो जायेगा। यदि धान्यकारक कृषकों का लाभ कम हुआ तो देश के रुपयों में कमी होगी ही।

इसके जवाब में कहूंगा कि वाणिज्य विनिमय मात्र है। यह एकतरफा वाणिज्य नहीं होता। जैसे हम विलायत से कई प्रकार की सामग्री लेते हैं, वैसे ही विलायत के लोग हमसे कई प्रकार की सामग्री लेते हैं। जिस प्रकार, हमारे कई प्रकार की विलायती सामग्री लेने से, हमारे देश में प्रस्तुत उस तरह की सामग्री का प्रयोजन कम हो जाता है, उसी रूप में विलायती लोगों द्वारा हमारे देश की कई तरह की सामग्री लेने पर, हमारे देश की उस तरह की सामग्री का प्रयोजन बढ़ता है। जैसे धोती का प्रयोजन कम हो रहा है, पर चावल का प्रयोजन बढ़ रहा है। अतएव जहां बुनकरों के व्यवसाय की हानि हो रही है, वहीं कृषि व्यवसाय बढ़ रहा है, ज्यादा लोगों की खेती में जरूरत बढ़ रही है। इसलिए खेतिहरों की संख्या बढ़ने से उनका लाभ कम नहीं होगा।

अतएव वाणिज्य के हेतु जिनके पूर्व व्यवसाय की हानि हो रही है, नूतन व्यवसाय के अवलंबन से उनकी क्षति-पूर्ति होती है। ऐसा होने पर विलायती थान खरीदने पर बुनकर की क्षति नहीं होती। बुनकर की भी क्षति नहीं है, क्रेताओं की भी क्षति नहीं है। फिर क्षति है किसकी? किसी की नहीं। यदि वणिक ने थान बेचकर जो लाभ कमाया, उससे इस देश में किसी की अर्थक्षति नहीं हुई, तो उन्होंने इस देश के अर्थ भंडार की लूट कैसे की? उनके लाभ से इस देश का अर्थ कम कैसे हो रहा है?

हमने बुनकर के उदाहरण की सहायता से अपने वक्तव्य के समर्थन की चेष्टा की है। लेकिन इस उदाहरण में एक दोष है। बुनकर के व्यवसाय का लोप हो रहा है, तथापि अनेक बुनकर अल्प व्यवसायों का अवलंबन नहीं कर रहे हैं। हमारे देश के लोग जातीय व्यवसाय को छोड़कर सहज ही अन्य किसी व्यवसाय का अवलंबन नहीं करना चाहते। यह बुनकरों का दुर्भाग्य जरूर है, लेकिन इससे देश के धन की क्षति नहीं होती, क्योंकि

धान के बदले जो चावल जाता है, तद्नुरूप उसके उत्पादन से कृषि जगत की आय में जो वृद्धि होती है, वह होगी ही होगी। हां, बुनकर को वह धन न मिलकर, किसी और को मिलेगा। बुनकर को खाने को न मिलने से देश का धन नहीं कम हो रहा।

कई लोगों को यह लगता है, विदेशी वणिक इस देश में अर्थ संचय करके, नगद रुपयों का बंदोबस्त करके, जहाज में रखकर पलायन कर जाते हैं। जो ऐसा मानते हैं, उनसे हमें कहना है—

प्रथमत:, नगद रुपये ले जाने भर से देश की अर्थहानि नहीं हुई। नगद रुपया ही धन नहीं है। जितने प्रकार की संपत्ति है, वह सभी धन है। नगद रुपया एक प्रकार का धन मात्र है। अगर उसके विनिमय से हमें अन्य प्रकार का धन मिलता है, तो नगद रुपयों के जाने भर से हम निर्धन नहीं हो जाते।

नगद रुपया ही धन नहीं है, यह बात समझना कठिन नहीं है। एक आदमी के पास सौ रुपये नगद हैं, उसने इन्हीं एक सौ रुपयों का धान खरीदकर रख लिया। उसके पास और नगद रुपये नहीं हैं, लेकिन एक सौ रुपयों का धन जमा है। क्या वह पूर्वापेक्षा गरीब हो गया?

द्वितीय, वास्तव में विदेशी वणिक इस देश से नगद रुपये जहाज में भरकर नहीं ले जाते। वाणिज्य का मूल्य हुंडी से चलता है। संचित अर्थ दलील में रहता है। अत्यल्प नगद रुपये विलायत जाते हैं।

तृतीय, अगर नगद रुपये जाने से ही धन हानि होती तो उस कारण विदेशी वाणिज्य से हमारी धन हानि नहीं है, बल्कि वृद्धि हो रही है। क्योंकि जिस परिमाण में नगद रुपया या रूपा हमारे देश से विदेश में जाता है, उससे अधिक गुना रूपा अन्य देश से हमारे देश में आ रहा है, और उस रूपा से नगद रुपये मिल रहे हैं। अगर नगद रुपया ही धन होता तो फिर हम अन्य देश को निर्धन करके निज के धन में वृद्धि कर रहे हैं, स्वयं निर्धन नहीं हो रहे हैं।

जो इन सभी तत्वों को समझने का यत्न करेंगे, वे यह देखेंगे कि क्या आयात से या कि निर्यात से, विदेशी वणिक हमारा धन ले नहीं जा रहे हैं और उस कारण हमारे देश का धन कम नहीं हो रहा है। बल्कि विदेशी वाणिज्य के कारण हमारे देश की धनवृद्धि हो रही है। जो मोटी बातों के अलावा और कुछ नहीं समझेंगे, वे एक बार विचार करके देखेंगे, विदेश से आकर कितना धन इस देश में व्यय हो रहा है। जो विपुल रेलवे-जाल प्रस्तुत हुआ है, वह धन किसका है?

अंत में विदेशी वणिकों के संबंध में जो कुछ कहा है, राजपुरुषों के संबंध में भी कुछ-कुछ वही लागू होता है। लेकिन यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि राजकर्मचारियों के लिए, इस देश का कुछ धन विलायत जाता है, और उसके विनिमय से हमें किसी प्रकार का धन नहीं मिलता। किंतु यह सामान्य मात्र है।[1] वाणिज्य के लिए इस देश में जो धनवृद्धि हो रही है, और प्रथम परिच्छेद में दी गयी बातों के अनुसार कृषि में जिस धन की वृद्धि हो रही है, उससे होने वाली क्षतिपूर्ति के अलावा भी कुछ बच ही जा रहा है। अतएव हमारा धन साल-दर-साल बढ़ ही रहा है, कम नहीं हो रहा।

3. लेखक कहते हैं, "यदि महात्मा कार्नवालिस जमींदारों की वर्तमान श्री के लिए उपाय न कर जाते, तो देश इतने दिनों में और दरिद्र हो जाता। देश में जो कुछ अर्थ संपत्ति है, वह इन्हीं कुछेक जमींदारों के घर में दिखाई पड़ती है।"

यह बात भी सभी कहते हैं, यह भी साधारण लोगों का भ्रम है। हमारी जिज्ञासा यही है कि, अगर जमींदारी के बंदोबस्त से देश में धन है, तो प्रजावादी बंदोबस्त होने से धन क्यों नहीं रहता? जो धन इस वक्त जमींदारों के हाथ में है, वह धन तब देश में न रहता तो कहां जाता?

जमींदारों के घर में धन है, इसका एकमात्र कारण यह है कि वह भूमि से उत्पन्न होने वाली चीजों का भोग करते हैं। प्रजावादी बंदोबस्त होने से प्रजा इस उत्पादन का भोग करती, इसलिए वह धन उनके हाथों में रहता। इस विषय में देश की कोई क्षति नहीं होती। केवल दो-चार घरों में वह जमा न रहकर लाखों लोगों के घरों में पहुंचता। यही इन भ्रांत विवेचकों की आशंका का कारण है। धन दो-एक जगह इकट्ठा रहने पर, वह सोचते हैं कि धन है, पर भंडार न देख पाने पर भी धन है, ऐसी विवेचना वह नहीं करते। लाखों लाख रुपया एक जगह रख देने पर, इकट्ठा बहुत ज्यादा दिखाई पड़ता है, लेकिन आध-आध कोस पर वही रुपया छितरा देने पर रुपया दिखाई नहीं पड़ता। लेकिन दोनों ही अवस्थाओं में रुपये के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ेगा। अब यह विवेचना करना कर्त्तव्य है कि धन की कौन-सी अवस्था देश के लिए अच्छी है, दो-एक जगह का भंडार

---

1. यह बात बड़ी गलत है। इन सभी विचारों में मूल है। यह शुरू से ही स्वीकार किया है।

अच्छा है या घर-घर में उसका होना अच्छा है; पूर्व पंडितों ने कहा है, धन गोबर की तरह है, एक स्थान पर अधिक जमा होने से दुर्गंध देता है, खेतों में छितराने से उर्वरताजनक है, इसलिए मंगलकारी होता है। समाजवेत्ता भी इस तत्व की परख कर इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। और उनके विश्लेषण के अनुसार धन की साधारणता ही समाज उन्नति का लक्षण है। यही न्यायसंगत है। पांच सात लोग धन पर कुंडली मार कर बैठे रहेंगे और छ: करोड़ लोग अन्नाभाव से मारे जायेंगे, इसकी अपेक्षा कोई दूसरा अन्याय संसार में है क्या? इसीलिए कार्नवालिस का बंदोबस्त अत्यंत दूषित है। प्रजावारी बंदोबस्त होने पर, हम दो-चार अति धनवान लोगों की जगह पर छ: करोड़ सुखी प्रजा को देखते। समूचे देश में अन्न का अभाव है, और पांच-सात जन चाहे जितना रुपया खर्च करें फिर भी उनके पास वह कम नहीं होता, वह अच्छा है—या सब सुखी स्वच्छंद हैं, किसी के पास गैरजरूरी धन नहीं है, वह अच्छा है? द्वितीय अवस्था, प्रथमोक्त अवस्था से सौगुनी अच्छी है, इसे बुद्धिमान अस्वीकार नहीं करेंगे। प्रथमोक्त अवस्था में किसी का मंगल नहीं है। जो धन के ऊपर बैठ जाते हैं, इस देश में उनका प्राय: गर्दभजन्म ही घटित होता है। जौर जो अन्नवस्त्र के अभाव में जीते हैं, उनकी कोई शक्ति नहीं होती। किसी के ज्यादा धनी न होने पर, जनसाधारण की स्वच्छंद अवस्था में सभी मनुष्य-प्रकृति के होते है। देश की उन्नति की सीमा नहीं रहती। इस समय जो पांच-छ: लोग बाबुओं की तरह ब्रिटिश इंडियन एसोशिएशन में बैठकर मीठी-मीठी बातें करते हैं, उसके बदले में इस छ: करोड़ प्रजा का समुद्र गर्जन-सा गंभीर महानिनाद सुनाई पड़ता।

हमने यह दर्शाया कि जो यह विवेचना करते हैं कि जमींदार देश के लिए प्रयोजनीय और उपकारी है, उनके ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है।

(1279 भाद्र-कार्तिक-पौष फाल्गुन। ''विविध प्रबंध'')/

भारतवर्ष की स्वाधीनता एवं पराधीनता

मनुष्य की ऐसी दुरवस्था कभी नहीं हो सकती कि उसमें शुभ कुछ बचे ही नहीं। हमारे भंयकर दुर्भाग्य में भी मंगल की कोई न कोई बात खोजी जा सकती है। जो अशुभ के मध्य भी शुभ का अनुसंधान करके उसकी विवेचना करता है, वही विज्ञ है। दु:ख भी केवल दु:ख नहीं लाता, दु:ख के दिनों में भी इस बात की विवेचना में कुछ सुख है।

भारतवर्ष पहले स्वाधीन था— अब कई सौ वर्षों से पराधीन है। नव्य भारतवासी इसे घोरतर दु:ख मानते हैं। हमारी इच्छा है कि, उस प्राचीन स्वाधीनता और आधुनिक पराधीनता की तुलना करके एक बार देखें। देखें कि दु:ख क्या है, और सुख क्या है।

लेकिन स्वाधीनता और पराधीनता, इन सारी बातों का तात्पर्य क्या है, एक बार इसकी विवेचना करना आवश्यक है। हम प्राचीन भारतवर्ष के साथ आधुनिक भारतवर्ष की तुलना की ओर प्रवृत्त हुए हैं। तुलना का उद्देश्य किसी तारतम्य का निर्देश करना है। लेकिन किस विषय में तारतम्य का अनुसंधान करना हमारा उद्देश्य है? प्राचीन भारत स्वाधीन था, आधुनिक भारत पराधीन है, इस बात को कहकर क्या लाभ है? हमारी विवेचना में इस प्रकार की तुलना का एकमात्र उद्देश्य यही होना आवश्यक है कि मनुष्य प्राचीन भारत में सुखी था या आधुनिक भारतवर्ष में अधिक सुखी है।

अब तक (यह पढ़कर) हमारे प्रति अनेक लोग खड्गहस्त हो गये होंगे। स्वाधीनता में जो सुख है, उसके बारे में संशय कहां है? जो इसमें संशय रखता है वह पाखंडी है, नराधम है, इत्यादि। ऐसा स्वीकार करता हूं। लेकिन स्वाधीनता, पराधीनता से किस रूप में अच्छी है, इसकी जिज्ञासा करने पर, इसका सदुत्तर मिलना कठिन है।

बंगालियों ने अंग्रेजी पढ़कर इस विषय में दो बातें सीखी है— 'Liberty' 'Independence' इनके अनुवाद से हमें दो शब्द मिले हैं

स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता। बहुतों को यह बोध है, ये दो शब्द, एक ही अर्थ वाले हैं। इससे स्वजातीय शासनावस्था का ही पता चलता है, यही सामान्य प्रतीति है। राजा अगर भिन्न देश के हों तो उनकी प्रजा पराधीन है और वह राज्य परतंत्र है। इसी कारण, इस समय अंग्रेजों द्वारा शासित भारत पराधीन और परतंत्र कहा जाता है। इसी कारण मुगलों के शासित भारतवर्ष को या सिराजुद्दौला शासित बंगाल को पराधीन और परतंत्र कहा जाता है। इस प्रकार के संस्कारों की समूल विवेचना की जाये।

महारानी विक्टोरिया को अंग्रेज कन्या कहा जा सकता है, लेकिन उनके पुरखे प्रथम और द्वितीय जार्ज अंग्रेज नहीं थे। वे जर्मन थे। विलियम तृतीय हालैंड के थे। बोनापार्ट कार्सिका इतालवी थे। स्पेन के भूतपूर्व प्राचीन पूर्ववंशीय राजा फ्रांसीसी थे। रोम साम्राज्य के सिंहासन पर अनेकों बर्बर जातीय सम्राटों ने आरोहण किया था। इसी प्रकार की शत-शत घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। देखा जाता है कि ये सभी राज्य तद्वस्था में भिन्न जातीय राजाओं से शासित थे। ये सभी राज्य उस समय पराधीन या परतंत्र थे, यह कहा जा सकता है या नहीं? कई कहेंगे, कहा जा सकता है। यदि जार्ज प्रथम शासित इंग्लैंड को या त्रेजान शासित रोम को पराधीन नहीं कहा गया तो शाहजहां शासित भारतवर्ष को या अलीवर्दी शासित बंगाल को पराधीन क्यों कहें?

इससे यही तो दिखाई पड़ा कि परदेशी शासनकर्ता होने पर भी राज्य परतंत्र नहीं हुआ। दूसरी ओर, शासनकर्ता स्वजातीय होने पर भी राज्य स्वतंत्र नहीं होता, इसके भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। वाशिंगटन कृत युद्ध के पहले अमेरिका के शासनकर्ता स्वजातीय थे। उपनिवेश मात्र की प्रथमावस्था में शासनकर्ता स्वजातीय होते हैं, किंतु उस अवस्था में उपनिवेश में सभी को कदापि स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता।

फिर परतंत्र किसे कहेंगे?

यह निश्चित है, अंग्रेजों के अधीन आधुनिक भारत परतंत्र राज्य है जरूर। रोम विजित, ब्रिटेन से लेकर सीरिया पर्यंत सभी राष्ट्र परतंत्र जरूर थे। आल्जियर्स और जमैका परतंत्र राज्य जरूर हैं। ये सब राष्ट्र किस बात में परतंत्र हैं? ये सब एक-एक पृथक राज्य नहीं हैं, भिन्न देशवासी राजा के राज्य के अंश मात्र हैं। भारतेश्वरी भारतवर्ष में नहीं रहतीं— भारतवर्ष का राजा भारतवर्ष में नहीं है। अन्य देश में है। जिस देश का राजा अन्य देश में सिंहासनारूढ़ है एवं अन्य देशवासी है, वही देश परतंत्र है।

दो राज्यों का एक राजा होने पर एक परतंत्र रहता है, दूसरा स्वतंत्र। जिस देश में राजा निवास करता है, वही स्वतंत्र है, जिस देश में निवास नहीं करता, वही परतंत्र है।

इस प्रकार की परिभाषा को लेकर, कई प्रकार की आपत्तियां उठायी जा सकती हैं। इंग्लैंड के जेम्स प्रथम, स्काटलैंड और इंग्लैंड दो राज्यों के अधीश्वर होकर, स्कॉटलैंड का त्याग करके, इंग्लैंड में जा बसे। स्कॉटलैंड क्या इंग्लैंड को राजा देकर परतंत्र हो गया? बाबर शाह, भारत जय करके, दिल्ली में शासन की स्थापना कर, वहीं से पैतृक राज्य शासित करने लगे— क्या उनका स्वदेश भारतवर्ष के अधीन हो गया? इंग्लैंड का शासन प्राप्त होने पर जार्ज प्रथम वहीं अधीष्ठित होकर, पैतृक राज्य हनोवर का शासन संभालने लगे; क्या तब हनोवर परतंत्र हो गया था?

परिभाषा के आग्रह से हमें कहना पड़ेगा कि जेम्स प्रथम या जार्ज प्रथम या प्रथम मुगल के पूर्व राज्य में परतंत्रता थी। लेकिन पारतंत्र्य मात्र घटित हुआ था। पराधीनता नहीं थी। हम Independence के बदले स्वतंत्रता और Liberty के स्थान पर स्वाधीनता शब्द एवं इसी भाव से ऐसे स्थानों पर वैसे ही अर्थ-सूचक शब्द व्यवहार करते रहे हैं।

फिर पारतंत्र्य और स्वाधीनता में भेद क्या है? अथवा स्वातंत्र्य और स्वाधीनता में क्या प्रभेद है?

इंग्लैंड में राजनीतिक स्वाधीनता का एक विशेष प्रयोग प्रचलित है, हम उसी अर्थ में उसका अवलंबन करने के लिए बाध्य नहीं हैं। क्योंकि उसी अर्थ में हमारे सवालों के संदर्भ में वह उपयोगी नहीं है। जिस अर्थ में भारतवर्ष के लोग स्वाधीनता का अर्थ समझते हैं, हम उसी अर्थ में उसे समझायेंगे।

किसी देश में अगर राजा विदेशी हो तो अनेक अत्याचार घटित होते हैं। देश के लोगों की अपेक्षा जो राजा के स्वजातीय होते हैं उन्हें प्रधानता मिलती है। इससे प्रजा परजाति से पीड़ित होती है। जिस देश में स्वदेशी प्रजा पर विदेशी राजा के स्वजातीय लोगों का वर्चस्व रहता है, उसी देश को पराधीन कहते हैं। जो राज्य परजाति पीड़न से शून्य है, वही स्वाधीन है।

इसलिए परतंत्र राज्य को भी कभी स्वाधीन नहीं कहा जा सकता। यथा, जार्ज प्रथम के समय हनोवर, मुगलों के समय काबुल। दूसरी ओर कभी-कभी स्वतंत्र राज्य को भी पराधीन कहा जा सकता है; यथा नार्मन लोगों के

समय का इंग्लैंड, औरंगजेब के समय का भारत। हम कुतुबुद्दीन शासित उत्तर भारतवर्ष को पराधीन कहते हैं, अकबर शासित स्वतंत्र भारतवर्ष को स्वतंत्र और स्वाधीन कहते हैं।

जो भी हो, प्राचीन भारत स्वतंत्र और स्वाधीन; आधुनिक भारतवर्ष परतंत्र और पराधीन ही माना जाता है। स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य के बीच जो वैषम्य है, वह किन कारणों से घटित होता है, पहले तो उसी की विवेचना की जाये— बाद में स्वाधीनता और पराधीनता की बात की विवेचना की जायेगी। राजा के किसी अन्य देश का होने पर, दो अनिष्ट होने की संभावना रहती है; पहला तो यह कि राजा के दूर रहने पर सुशासन में विघ्न पड़ता है। दूसरा, राजा जिस देश में निवास करता है, उस देश के प्रति उसका अधिक प्रेम रहता है, उसके मंगल के लिए, वह दूरस्थ राज्य का अमंगल होने देता है। ये दोनों दोष आधुनिक भारतवर्ष में घटित न हो रहे हों, ऐसी बात नहीं है। महारानी विक्टोरिया का सिंहासन दिल्ली या कलकत्ता में स्थापित होने से, भारतवर्ष की शासन प्रणाली उत्कृष्टतर होती, इसमें संदेह नहीं है; क्योंकि जो राजा के निकटवर्ती होते हैं, उनके प्रति राजपुरुषों का अधिक मनोयोग रहता है। दूसरा दोष भी घटित हो रहा है। इंग्लैंड के गौरवार्थ अबीसीनिया का युद्ध हुआ, इसका व्यय-वहन भारतवर्ष को करना पड़ा। 'होम चार्जेज' नाम से बजट में जो व्यय दिखाये जाते हैं, उनमें से कई इसी प्रकार इंग्लैंड के मंगल के लिए भारतवर्ष से वसूल किये जाते हैं। ऐसे कई हैं।

राजा के दूर रहने से, आधुनिक भारतवर्ष के सुशासन में विघ्न जरूर घटित होता है, लेकिन राजा के स्वेच्छाचारी होने से सुशासन में जिन सब विघ्नों के घटित होने की संभावना रहती है, वह नहीं घटित होती। कोई राजा इंद्रियों के वशीभूत होकर— अंतःपुर में ही वास करे तो समझिए राज्य की दुर्दशा हुई। कोई राजा निष्ठुर हो सकता है, कोई अर्थलोलुप। प्राचीन भारतवर्ष में इन स्थितियों के कारण गंभीर क्षति हुई है। आधुनिक भारतवर्ष में दूर रहने वाले किसी राजा या रानी के दोषपूर्ण जीवन से, उस दोष के फलित होने की संभावना भारतवर्ष में नहीं है।

दूसरे, जिस प्रकार आधुनिक भारतवर्ष में, इंग्लैंड के लिए किये जाने वाले मंगल के कारण भारतवर्ष का मंगल कभी-कभी नष्ट होता है, उसी प्रकार प्राचीन भारत में राजा के आत्मसुख के कारण राज्य का मंगल नष्ट होता था। पृथ्वीराज ने जयचंद की कन्या के हरण से आत्मसुख का विधान

किया, उसके कारण दोनों के बीच समराग्नि प्रज्ज्वलित हुई, दोनों में अप्रीति बढ़ी और उनके तेज का क्षय होने लगा। इसी के कारण दोनों का मुसलमानों द्वारा पतन हुआ। आधुनिक भारतवर्ष में दूरवासी राजा के आत्मसुख के कारण किसी अनिष्ट की संभावना नहीं है।

लेकिन यह केवल परतंत्रता के संदर्भ में विचार हुआ, हमने पराधीनता और परतंत्रता में प्रभेद किया है। भारतवर्ष में अंग्रेजों का प्राधान्य है, और देश के सभी प्रजाजन उनके सामने अवनत हैं, उनके सुख के लिए किन्हीं अंशों में भारतवासियों के अपने सुखों में कटौती होती है, इसे इस देश का कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं करेगा। इस रूप में जाति के ऊपर जाति का प्राधान्य प्राचीन भारतवर्ष में नहीं था। यह तो जरूर नहीं था पर अतुलनीय वर्णभेद था इसे कोई अस्वीकार नहीं करेगा कि चिरकाल से भारतवर्ष की प्रजा शूद्र रही है, उत्कृष्ट माने जाने वाले तीनों वर्णों के लोग अल्पसंख्यक रहे हैं। इस वर्णत्रयी में से ब्राह्मण और क्षत्रिय देश के शासनकर्त्ता रहे हैं। लेकिन ये सभी बातें कुछ विस्तार से लिखनी जरूरी लगीं।

लोगों का विश्वास है कि प्राचीन भारत में केवल क्षत्रिय ही राजा थे। वास्तविकता यह नहीं है, राज-काज दो अंशों में विभक्त था। युद्धादि का भार क्षत्रिय जाति पर था। राज्य-व्यवस्था के निर्धारण, विचार इत्यादि का कार्य ब्राह्मणों के जिम्मे था। अब जैसे सिविल और मिलिटरी, इन दो अंशों में राजकार्य विभक्त था, उस समय का कर्म-भाग बहुत कुछ इसी प्रकार का था। ब्राह्मण सिविल कर्मचारी थे, क्षत्रिय मिलिटरी। इस समय भी जैसे मिलिटरी की अपेक्षा सिविल कर्मचारियों का प्राधान्य है, तब भी ऐसा ही था। राजपुरुषों में से क्षत्रिय ही राजा होते थे, लेकिन व्यवहारत: उनके ऊपर ब्राह्मणों का ही प्राधान्य था। प्राचीन भारत में सदा ही क्षत्रिय राजा थे, ऐसा नहीं है। लगता है आदिकाल में क्षत्रिय ही राजा थे, लेकिन बौद्ध काल में मौर्य प्रभृति संकर जातियों का राजवंश दिखलाई पड़ता है। चीनी परिव्राजक ह्वेन सांग ने सिंधु के पार एक राज्य देखा था जहां का राजा ब्राह्मण था। अन्यत्र भी ब्राह्मणों ने राजा की उपाधि धारण की थी। मध्यकाल में अधिकांश राजा राजपूत थे। राजपूत, क्षत्रिय वंश से ही उद्‌भूत संकर जाति हैं। क्षत्रियों का प्राधान्य प्राचीन भारत में चिरकाल से अप्रतिहत नहीं था, ब्राह्मणों का गौरव एक दिन के लिए भी कम नहीं हुआ। वेदद्वेषी बौद्धों के समय में भी राजकार्य ब्राह्मणों के हाथ से अन्य हाथों में नहीं गया— क्योंकि वही पंडित, सुशिक्षित और कार्यक्षम हैं। अतएव ब्राह्मण ही यथार्थ रूप में

राजपुरुषों के पद पर विराजमान थे। सुविज्ञ लेखक बाबू तारापद चट्टोपाध्याय ने 'बंगाल मैगजीन' में एक प्रबंध में ठीक ही लिखा है कि ब्राह्मण ही प्राचीन भारत के अंग्रेज थे।

अब यह पूछ सकते हैं कि आधुनिक भारतवर्ष में देशी और विलायती के बीच जो वैषम्य है, वह क्या प्राचीन भारत में ब्राह्मण-शूद्र वैषम्य की अपेक्षा ज्यादा गंभीर है?

राजा के भिन्न देश का होने पर जो जाति-पीड़ा जनमती है, वह दो प्रकार की होती है। एक तो राज्य व्यवस्था जनित होती है, नियम कानूनों के रूप में रहती है, राजा के स्वजाताय लोगों के पक्षपात में यह व्यवस्था अलग प्रकार का आचरण-व्यवहार करती है, और देशी लोगों के प्रति अलग प्रकार का। दूसरी, स्वजाति के पक्षपाती राजा की इच्छाजनित होती है; राजा, राजप्रासाद को स्वजाति को सौंपे रहते हैं और स्वजाति के पक्षपाती होने के कारण राज्य के कार्यों में स्वजाति के लोगों को ही नियुक्त करते हैं। अंग्रेज-शासित भारत में, और ब्राह्मण शासित भारत में, ये दो दोष किस प्रकार वर्तमान रहे हैं, यह देखा जाय।

प्रथम कि अंग्रेजों की बनायी हुई राज्य-व्यवस्था के अनुसार देशी अपराधियों के लिए एक न्यायालय है, विलायती अपराधियों के लिए दूसरा। देशी लोग अंग्रेज से दंडित हो सकते हैं, लेकिन अंग्रेज, देशी न्यायाधीश द्वारा दंडित नहीं किये जा सकते। इससे बड़ा व्यवस्थागत वैषम्य दूसरा नहीं हो सकता। लेकिन इसकी अपेक्षा ब्राह्मण राज्य में और कितना गंभीर वैषम्य दिखाई पड़ता है। अंग्रेजों के लिए पृथक न्यायालय भले हो, लेकिन कानून पृथक नहीं है। जिस प्रकार एक देशी आदमी, अंग्रेज का वध करने पर हत्यारा माना जायेगा, और अंग्रेज, देशी आदमी का वध करे तो कानून के अनुसार वह भी उसी प्रकार हत्यारा ही ठहराया जायेगा। लेकिन ब्राह्मण राज्य में शूद्रहंता ब्राह्मण और ब्राह्मणहंता शूद्र के दंड में कितना वैषम्य है। कौन कहेगा कि इस विषय में प्राचीन भारतवर्ष से आधुनिक भारतवर्ष निकृष्ट है?

अंग्रेजों के राज्य में जिस प्रकार अंग्रेज देशी आदमी के हाथों दंडित नहीं हो सकता, उसी प्रकार भारतवर्ष में ब्राह्मण, शूद्र के हाथों दंडित नहीं हो सकता था। बाबू द्वारकानाथ मिश्र ने प्रधानतम न्यायालय में आसीन होकर आधुनिक भारतवर्ष का मुख उज्ज्वल किया है— 'रामराज्य' में वे कहां होते?

द्वितीय कि अंग्रेजों के राज्य में राजप्रासाद प्रायः अंग्रेजों को ही प्राप्य है, लेकिन किसी परिमाण में देशी लोग भी उच्च पदों पर प्रतिष्ठित हैं। ब्राह्मण राज्य में शूद्रों के साथ इतना भी होता था, इसमें संदेह है। लेकिन जब शूद्र कभी-कभी राज्यसिंहासन पर आरोहण करने में सक्षम हुए थे, तब अन्यान्य उच्च पदों को शूद्रों ने अधिकृत किया था, इसमें संदेह नहीं। अब यह देखा जाता है कि आधुनिक भारत में प्राथमिक न्याय-निर्णय प्रायः देशी लोगों द्वारा ही किया जाता है— प्राचीन भारत में क्या यह न्याय-कार्य शूद्रों द्वारा होता था। हम प्राचीन भारतवर्ष के संबंध में इतना कम जानते हैं कि इस पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। ऐसा लगता है बहुतेरे न्याय-निर्णय ग्राम्य समाज द्वारा ही संपन्न होते थे। किंतु सामान्यतः न्याय कार्य, सेनापतित्व और अन्यान्य प्रधान पद, ब्राह्मण-क्षत्रियों के हाथों में ही थे, इसका पता प्राचीन ग्रंथादि के पाठ से चलता है।

बहुतेरे कहेंगे, अंग्रेजों के प्राधान्य और ब्राह्मण-क्षत्रियों के प्राधान्य के बीच तुलना नहीं की जा सकती; क्योंकि ब्राह्मण-क्षत्रिय, शूद्र पीड़क होने पर भी स्वजाति के हैं— अंग्रेज भिन्न जाति है। इस बात का जवाब इस रूप में देने की इच्छा होती है कि, जो पीड़ित होता है उसके लिए स्वजाति द्वारा पीड़न और भिन्न जाति द्वारा पीड़न— दोनों ही समान हैं। स्वजाति के हाथों मिली पीड़ा कुछ मीठी लगती हो, और परजाति कृत पीड़ा कुछ तिक्त मालूम पड़ती हो, ऐसा तो होता नहीं है। लेकिन हम यह उत्तर देना नहीं चाहते। यदि स्वजाति कृत पीड़ा पर किसी को प्रीति हो, तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। हमारा उद्देश्य यह कहना मात्र है कि आधुनिक भारत के जाति प्राधान्य के स्थान पर, प्राचीन भारत में वर्ण की प्रधानता थी। अधिकांश लोगों के लिए दोनों समान हैं।

फिर भी यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि पराधीन भारतवर्ष में लोग अपनी बुद्धि, शिक्षा, वंश और मर्यादानुसार उच्च श्रेणी के पदों पर प्राधान्य हासिल नहीं कर सकते। जिनके पास विद्या एवं बुद्धि है, यदि उन्हें अपनी बुद्धि के संचालन और विद्या के फलित होने का अवसर न दिया जाये, तो उनके प्रति यह गंभीर अत्याचार होगा। आधुनिक भारतवर्ष में यह हो रहा है। प्राचीन भारतवर्ष में वर्णवैषम्य के कारण यह भी था पर इस परिमाण में नहीं था। और इस समय राज-काज सब अंग्रेजों के हाथ में है— हम दूसरे के हाथों रक्षित होने के नाते स्वयं कोई कार्य कर नहीं पा रहे। इससे हम लोगों की राज्यरक्षा के मामले में और राज्य पालन विद्या

के मामले में कोई शिक्षा नहीं हो पा रही है— जातीय गुणों की स्फूर्ति नहीं हो रही है। अतएव स्वीकार करना पड़ेगा कि, पराधीनता इस दिशा में उन्नति-अवरोधक है। पर हम यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की शिक्षा का लाभ उठा पा रहे हैं। यूरोपीय जाति के अधीन न होने पर, हमारे दिमाग में ये सब बातें नहीं आतीं। अतएव हमारी पराधीनता से जहां एक ओर क्षति है, वहीं दूसरी ओर उन्नति हो रही है।

अतएव यही समझ में आता है कि आधुनिक की अपेक्षा प्राचीन भारतवर्ष की उच्च श्रेणी के लोगों को कुछ स्वाधीनताजनित सुख सुलभ थे। लेकिन अधिकांश लोगों के लिए प्राय: दोनों तुल्य हैं, बल्कि आधुनिक भारतवर्ष अच्छा है।

तुलना से हमें जो ज्ञात हुआ, उसे संक्षेप में दुहराता हूं, बहुतों को समझने में सुविधा होगी।

1. विदेशी राजा होने भर से राज्य परतंत्र या पराधीन नहीं होता। विदेशी राजा के अधीन राज्य को भी स्वतंत्र या स्वाधीन कहा जा सकता है।
2. स्वतंत्रता और स्वाधीनता, परतंत्रता और पराधीनता, इनका हमने भिन्न-भिन्न पारिभाषिक अर्थ निर्देशित किया है।

   विदेश निवासी द्वारा शासित राज्य परतंत्र है। जहां पर भिन्न जाति का प्राधान्य है, वही राज्य पराधीन है। अतएव कोई राज्य परतंत्र होने से पराधीन नहीं है। कोई राज्य स्वतंत्र होने से स्वाधीन नहीं है।
3. लेकिन तुलना का उद्देश्य उत्कर्षापकर्ष है। जिस राज्य में लोग सुखी हैं, वही उत्कृष्ट है, जिस राज्य में लोग दुखी हैं, वही निकृष्ट है। स्वातंत्र्य और पराधीनता में आधुनिक भारत की प्रजा किस परिमाण में दु:खी है, यही विवेच्य है।
4. प्रथमत: स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य। इसके अंतर्गत दो बातें हैं। प्रथम, राजा के विदेश में स्थित होने से भारतवर्ष के सुशासन में विघ्न पड़ रहा है या नहीं? स्वदेश के मंगल के लिए शासनकर्त्ता इस देश का अमंगल करते रहते हैं या नहीं? स्वीकार करना पड़ेगा कि इस कारण से सुशासन में विघ्न जरूर पड़ रहा है और भारतवर्ष का अमंगल भी हो रहा है।

   लेकिन राजा के चरित्र दोष से जो तमाम अनिष्ट होते हैं, वे आधुनिक भारतवर्ष में घटित नहीं हो रहे हैं। अतएव प्राचीन और आधुनिक भारतवर्ष में इस संबंध में विशेष तारतम्य लक्षित नहीं होता।

5. द्वितीयत: स्वाधीनता और पराधीनता, आधुनिक भारतवर्ष प्रभुवर्ग से पीड़ित जरूर है, किंतु प्राचीन भारतवर्ष भी ब्राह्मण पीड़ित था। इस विषय में विशेष अंतर नहीं है। फिर भी ब्राह्मण-क्षत्रियों को कुछ सुख था।
6. आधुनिक भारत में कार्यगत शिक्षा लुप्त हो रही है, किंतु विज्ञान और साहित्यचर्चा में अपूर्व स्फूर्ति आयी है।

बहुतेरे भड़क उठेंगे और कहेंगे, तो क्या स्वाधीनता, पराधीनता तुल्य है। फिर पृथ्वी की जातियां स्वाधीनता को प्राणपन से क्यों चाहती हैं? जो इस प्रकार की बात कहेंगे, उनसे हमारा यही निवेदन है कि, हम उस तत्व की मीमांसा नहीं कर रहे हैं। हम पराधीन जाति हैं—बहुत दिनों तक पराधीन रहेंगे— उस मीमांसा का प्रयोजन हमारे लिए नहीं है। हमारा केवल यही उद्देश्य है कि प्राचीन भारत की स्वाधीनता में उस समय के लोग, साधारणत: आधुनिक भारतीय प्रजाजनों की अपेक्षा सुखी थे या नहीं? हमने यही मीमांसा की है कि आधुनिक भारतवर्ष में ब्राह्मणों-क्षत्रियों की अर्थात् उच्च श्रेणी में स्थित लोगों की अवनति हुई है, शूद्रों अर्थात् साधारण प्रजा की कुछ उन्नति हुई है।

एकाकी

'कौन वह गाता है?'

बहुत दिनों से विस्मृत यह मधुर गीत कर्णरंध्रों में प्रवेश कर सुखस्वप्नों को जगा गया। यह इतना मधुर क्यों लगा? नहीं, इसलिए नहीं कि इसका संगीत अतिसुंदर है। पथिक पथ पर अपने में डूबा हुआ गाता-गाता चला जा रहा है। ज्योत्स्नामयी रात्रि देखकर उसका मन आनंद से विभोर हो उठा है। स्वभावत: उसका कंठ मधुर है— मधुर कंठ से, इस मधुमास में, अपने मन के सुख के माधुर्य को विकीर्ण करता हुआ वह चला जा रहा है। मानो कई तारों वाले वाद्य पर अंगुलियों के स्पर्श से संगीत झर रहा हो; इस गीतिध्वनि ने मेरे हृदय को क्यों झंकृत, आंदोलित किया?

क्यों, कौन बता सकता है? रात्रि ज्योत्स्नामयी है, नदी कूल पर कौमुदी हंस रही है। नील वसनों से आधे शरीर को ढंके हुए सुंदर स्त्री के समान, शीर्ण-देह वाली नील-सलिला तरंगिणी कूल को वेष्टित करती हुई बही चली जा रही है, राजपथ पर केवल आनंद है— बालक, बालिका, युवक, युवती, प्रौढ़ा, वृद्धा, विमल चंद्रकिरणों से स्नात आनंद मना रहे हैं। केवल मैं ही निरानंद हूं— इसीलिए यह संगीत मेरे हृदय-तंत्र में बज उठा है।

मैं अकेला हूं— इसीलिए मेरा शरीर इस संगीत से कंटकित हुआ है। इस बहुजनाकीर्ण नगरी के मध्य में, इस आनंदमय, अनंत जनस्रोत के मध्य में, मैं एकाकी हूं। क्यों मैं भी इस अनंत जनस्रोत में मिलकर, इस विशाल आनंद-तरंग ताड़ित जल-बुदबुदों के मध्य और एक बुदबुदा नहीं बन जाता? बिंदु-बिंदु जल के इस समुद्र में, एक वारि बिंदु बनकर मैं भी क्यों नहीं समा जाता?

यह मैं नहीं जानता, केवल इतना जानता हूं कि मैं एकाकी हूं। कोई एकाकी न हो। यदि कोई अन्य तुम्हारे प्रेम का भागीदार नहीं बनता तो तुम्हारा मनुष्य जन्म वृथा है। पुष्प में सुगंध है, किंतु उस घ्राण का ग्रहणकर्ता न होता तो पुष्प में सुगंध न होती। फूल अपने लिए नहीं खिलता। दूसरे के लिए अपने हृदय-कुसुम को प्रस्फुटित करना चाहिए।

किंतु केवल एक बार सुना हुआ यह संगीत मुझे क्यों इतना मधुर लगा, यह तो बताया नहीं। बहुत दिनों से आनंदमय संगीत सुना नहीं था— बहुत दिनों से आनंद का अनुभव नहीं किया था। यौवन में, जब पृथ्वी सुंदरी थी, जब हर पुष्प से सुगंध उठती थी, प्रत्येक पत्ते की मरमर मधुर ध्वनि सुनता था, प्रत्येक नक्षत्र में चित्रा रोहिणी की शोभा देखता था, प्रत्येक मनुष्य के मुख पर सरलता देखता था, तब आनंद था। पृथ्वी अभी भी वैसी है, संसार अब भी वैसा है, मनुष्य का चरित्र अभी भी वैसा है। किंतु यह हृदय अब वह हृदय नहीं रहा। तब संगीत सुनकर आनंद होता था। आज यह संगीत सुनकर उसी आनंद का ध्यान आया। जिस अवस्था में, जिस सुख से उस आनंद का अनुभव करता था, उसी अवस्था, उसी सुख की याद आयी। मुहूर्त भर के लिए उसी यौवन को फिर पा लिया। फिर से उसी तरह, मन ही मन समवेत बंधु मंडली के बीच बैठा, फिर से अकारण भाव से ठठाकर हंसा, जो बातें निष्प्रयोजनीय मानकर अब नहीं करता, पर उस समय चित्त के चांचल्य से निष्प्रयोजनीय होने पर भी करता था, वे सभी फिर से कहने-करने लगा। फिर से अकृत्रिम हृदय से, दूसरे के प्रेम को अकृत्रिम ही मान कर, मन ही मन ग्रहण किया। क्षणिक भ्रांति का जन्म हुआ— इसीलिए यह संगीत इतना मधुर लगा। केवल यही नहीं कि तब संगीत अच्छा लगता था— अब नहीं लगता— चित्त की जिस प्रफुल्लता के कारण अच्छा लगता था, वह प्रफुल्लता अब नहीं है, इसीलिए अच्छा नहीं लगता। मैं मन के भीतर मन को रखकर उसी गत यौवन सुख की चिंता कर रहा था— उसी समय पूर्व-स्मृति सूचक इस संगीत ने कानों में प्रवेश किया, इसीलिए इतना मधुर लगा।

वह प्रफुल्लता, वह सुख अब क्यों नहीं है? क्या सुख की सामग्री कम हो गयी है? अर्जन और क्षति— ये दोनों ही संसार के नियम हैं। किंतु क्षति की अपेक्षा अर्जन अधिक, यह भी नियम है। आप जीवन के पथ पर जितना आगे बढ़ेंगे, उतनी ही सुखद सामग्री संचित करेंगे। फिर उम्र के साथ स्फूर्ति कम क्यों हो जाती है? पृथ्वी उतनी सुंदरी क्यों नहीं लगती। आकाश में तारे उतना ही क्यों नहीं चमकते हैं? आकाश की नीलिमा में वह उज्ज्वलता क्यों नहीं मालूम पड़ती? जो धरती तृण पल्लवमय, कुसुम सुवासित, स्वच्छ कल्लोलिनी-सीकर सिक्त, वसंत पवन से युक्त दिखती थी, वह अब बालुकामयी मरुभूमि की तरह क्यों मालूम पड़ती हैं?

यौवन में अर्जित सुख कम होता है, लेकिन सुख की आशा असीम होती है। अब अर्जित सुख अधिक है, लेकिन ब्रह्मांड व्यापिनी आशा

कहां है? तब यह ज्ञात नहीं था कि किस चीज से क्या होता है, लेकिन आशा से भरा हुआ रहता था। अब जान सका हूं, इस संसारचक्र का आरोहण करके कि जहां से आया था वहीं वापस लौट जाना होगा, जब यह लगता है कि मैं अग्रसर हो रहा हूं, तब केवल आवर्तन ही तो कर रहा होता हूं। अब यह समझ पाया हूं कि संसार-समुद्र में संतरण आरंभ करने पर, हर तरंग मुझे आगे ले जाकर फिर कूल पर फेंक देगी। अब यह जान पाया हूं कि यह अरण्य-पथ नहीं है, यह प्रांतर का जलाशय नहीं है, यह नदी का पाट नहीं है, यह सागर का द्वीप नहीं है, यह अंधकार में नक्षत्र नहीं है। अब समझ पाया हूं कि कुसुम में कीट है, कोमल पल्लव में कांटा है, आकाश में मेघ है, निर्मल नदी में आवर्त है, फल में विष है, उद्यान में सर्प है, मनुष्य हृदय में केवल आत्म-स्वार्थ है। अब समझ पाया हूं कि हर वृक्ष में फल नहीं लगते, हर फूल में सुगंध नहीं होती, हर मेघ से वृष्टि नहीं होती, हर वंदन में चंदन नहीं है।

अब जान पाया हूं कि कांच भी हीरे जैसा चमक सकता है, पीतल स्वर्ण की तरह दिखाई पड़ सकता है, पंक भी चंदन की तरह स्निग्ध हो सकता है, कांसा भी चांदी जैसी मधुर ध्वनि पैदा कर सकता है—। किंतु क्या-क्या कहना चाह रहा था, भूल गया। वह गीतध्वनि। वह अच्छी जरूर लगी थी, किंतु अब उसे दुबारा सुनना नहीं चाहता। वह जिस प्रकार मनुष्य-कंठ से निकला संगीत था, उसी प्रकार संसार का अपना संगीत है। संसार-रस के रसिक ही उसे सुन पाते हैं। उसी संगीत को सुनने के लिए मेरा चित्त आकुल है। क्या वह संगीत मैं नहीं सुन पाऊंगा? सुनूंगा, लेकिन नाना वाद्य-ध्वनियों के संग मिश्रित बहुकंठ प्रसूत वह पूर्वश्रुत संसार-संगीत फिर नहीं सुन पाऊंगा। वे गायक अब नहीं रहे— वह वयस नहीं रही, वह आशा नहीं रही। लेकिन उसके प्रभाव से जो सुन रहा हूं, वह अधिक प्रीतिकर है। अन्यान्य की सहायता से मात्र एक गीतध्वनि से कर्णविवर परिपूर्ण होते हैं। प्रीति संसार में सर्वव्यापिनी है— ईश्वर ही प्रीति है। प्रीति ही मेरे कानों में अब संसार-संगीत है। अनन्त काल तक इसी महासंगीत के साथ मनुष्य-हृदय-तंत्री बजती रहे। मनुष्य जाति के ऊपर अगर मेरी प्रीति बनी रहती है तो मैं कोई अन्य सुख नहीं चाहता।

श्री कमलाकांत चक्रवर्ती।
(180 भाद्र। 'कमलाकांत का दफ्तर')

विद्यापति और जयदेव

बांग्ला साहित्य को लेकर और चाहे जो शिकायतें हों, उसमें उत्कृष्ट गीतिकाव्य का अभाव नहीं है। वरन अन्यान्य भाषाओं की अपेक्षा बांग्ला में इस जाति की कविता का आधिक्य है। अन्यान्य कवियों की गिनती न भी करें तो अकेले वैष्णव कविगण ही एक विशेष-समुद्र के समान हैं। बांग्ला के प्राचीन कवि—जयदेव—गीतिकाव्य के प्रणेता हैं। परवर्ती वैष्णव कवियों में से विद्यापति, गोविंद दास एवं चंडीदास ही प्रसिद्ध हैं। किंतु और कितने ही इस धारा के गीतिकाव्य प्रणेताओं में से हैं; उनमें से कम से कम चार-पांच की गिनती उत्कृष्ट कवियों में की जा सकती है। भारतचंद्र की 'रसमंजरी' को इस श्रेणी में रखना होगा। राम प्रसाद एक और प्रसिद्ध गीति-कवि हैं। इसके बाद कई 'कवि वाला' (कवि वाला— तत्काल कविता बनाकर भी, गाकर सुनाने वाले। —अनु) लोगों का प्रादुर्भाव हुआ, उनमें से किसी-किसी के गीत अति सुंदर हैं। राम बस, हरु ठाकुर, निताई दास का कोई-कोई गीत इतना सुंदर है कि भारतचंद्र की रचना अतुलनीय नहीं रह जाती। लेकिन 'कवि वाला' लोगों की अधिकांश रचना अश्रद्धेय एवं अश्रव्य है, इसमें संदेह नहीं।

सब कुछ नियमों के अधीन है। साहित्य भी किन्हीं नियमों का फल है। विशेष-विशेष कारणों से, विशेष-विशेष नियमों के अनुसार, विशेष-विशेष फलोत्पत्ति होती है। जल और वायु से भरी हुई पृथ्वी में, कई अलंघ्य नियमों से, कहीं वाष्प, कहीं वर्षा, कहीं शिशिर, कहीं हिमकण और बर्फ, कहीं कुंज-वाटिकाओं की उत्पत्ति होती है। इसी तरह साहित्य भी देश भेद, देश की भिन्न परिस्थितियों के अनुसार, असंख्य नियमों के प्रभाव से रूपांतरित होता है। ये सब नियम अत्यंत जटिल, अज्ञेय हैं, इसमें संदेह नहीं; आज तक कोई उनके विशेष तत्वों का निरूपण नहीं कर सका। विज्ञान के संबंध में जिस तरह कई तत्वों को आविष्कृत किया जा सका है, उस तरह साहित्य

के संबंध में ठीक-ठीक नियम कोई निर्धारित नहीं कर सका। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि साहित्य में देश की अवस्था और राष्ट्रीय चरित्र प्रतिबिंबित होते हैं। इन्हीं सब अवस्थाओं के अनुसार राज्य क्रांतियों, सामाजिक क्रांतियों, धर्म क्रांतियों के प्रकार-भेद प्रकट होते हैं, साहित्य के प्रकार-भेद भी इन्हीं सब कारणों से घटित होते हैं। कुछ यूरोपीय ग्रंथकारों ने समाज और साहित्य के आभ्यांतरिक संबंधों के विश्लेषण का प्रयत्न किया है। बक्ल के अलावा और किसी ने कोई विशेष परिश्रम नहीं किया है, और हितवाद के समर्थक बक्ल का संबंध भी काव्य-साहित्य के साथ अल्प है। मानव-चरित्र से धर्म और नीति के तत्वों को भुलाकर वह केवल समाज तत्व की विवेचना में प्रवृत्त हुए हैं। अन्य देशों के संबंध में चाहे जो हो, भारतवर्ष में कभी कोई धर्म और नीतिगत तत्वों को छोड़कर चल सका है, ऐसा ध्यान नहीं पड़ता। संस्कृत साहित्य के संबंध में मोक्षमूलर (मैक्समूलर) के ग्रंथ अवश्य बहुमूल्य हैं, लेकिन प्रकृत साहित्य के साथ उन ग्रंथों का संबंध सामान्य-सा है।

भारतवर्ष के साहित्य की प्रकृत गति क्या है? यह तो नहीं जानता, किंतु उसके कुछ स्थूल चिह्न दिखाई पड़ते रहे हैं। पहले भारतीय आर्यजन, अनार्य आदिवासियों के साथ विवाद में उलझे रहे, उस समय भारतीय, अनार्यकुल के मुकाबले भयरहित, दिगंतविचारी, विजयी जाति थे। उसी जातीय चरित्र का प्रतिफल रामायण है। उसके बाद सफल अनार्यकुल क्रमश: पराजित होकर, दूर जाकर बसा, भारतवर्ष आर्यों के हाथों में आयत्त हुआ, भोग्य और समृद्धिशाली बना। उस समय आर्यगण बाहरी शत्रुओं के भय से निश्चिंत थे, आभ्यंतरिक शक्ति को एकत्र करने में लगे हुए थे, रत्न प्रसविनी भारत-भूमि को हर प्रकार से उपयोग सिद्ध बना रहे थे। जिन्होंने सब पर विजय पायी है, वे क्या भोग करेंगे? इसी प्रश्न को लेकर आभ्यांतरिक विवाद था। उस समय आर्य-पौरुष अपने चरमोत्कर्ष पर था— अन्य शत्रुओं के अभाव में वह परस्पर दमन की ओर प्रवृत्त हो रहा था। इस समय का काव्य महाभारत है। जिसके पास बल था, उसी का भारत था। बहुत दिनों की रक्त-वर्षा थम गयी। स्थिर होकर उन्नति प्रकृति के आर्यकुल ने शांति-सुख की ओर ध्यान दिया। देश की धनवृद्धि श्रीवृद्धि और सभ्यता वृद्धि होने लगी। रोम से लेकर जावा द्वीप तक, और चीन पर्यंत भारतवर्ष का व्यापार बढ़ गया। हर नदी कूल में कोई न कोई बड़ी नगरी अपने शोभित भवनों की पंक्ति के साथ गर्वोन्नत खड़ी हो गयी। भारतवर्ष के लोग सुखी हुए।

सुखी और कृती। इसी सुख और कृतित्व से फलित हुए भक्तिशास्त्र और दर्शनशास्त्र, यह अवस्था काव्य में इसी मात्रा में प्रस्फुटित नहीं हुई। लेकिन लक्ष्मी और सरस्वती कहीं भी चिरस्थायी नहीं होती, दोनों ही चंचल हैं। भारतवर्ष धर्म-शृंखला में इस तरह निबद्ध हुआ कि साहित्य की रसग्राहिणी शक्ति भी उसके वशीभूत हो गयी। प्रकृत-अप्रकृत का बोध विलुप्त हो गया। साहित्य भी धर्म का अनुसरण करने लगा। केवल इतना ही नहीं, विचारशक्ति भी धर्म के मोह में विकृत हो गयी— प्रकृत का त्याग करके अप्रकृत की कामना करने लगी। धर्म ही तृष्णा थी, धर्म ही आलोचना और धर्म ही साहित्य का विषय था। इसी धर्म मोह का फल है पुराण साहित्य। लेकिन जिस प्रकार एक ओर धर्म का स्रोत प्रवाहित होने लगा, ठीक उसी प्रकार, एक दूसरी ओर विलासिता का स्रोत भी बहने लगा। इसी के फल हैं कालिदास आदि के काव्य और नाटक।

भारतीयों ने अंत में एक ऐसे प्रदेश पर अधिकार कर उसे अपना वास स्थान बनाया कि उसकी जलवायु की परिस्थितियों के कारण उनका स्वाभाविक तेज लुप्त होने लगा। वहां का ताप असह्य था, वायु जल और वाष्प से पूर्ण था, भूमि सतह नीची और उर्वरा थी और उसके उत्पादन रसहीन थे, उत्पन्न अनाज मनुष्य के तेज के लिए हानिकारक थे। यहां आकर आर्य-तेज लुप्त होने लगा, आर्यप्रकृति कोमल हो गयी, आलस्य बढ़ने लगा और गृहसुख की अभिलाषा बलवती हो गयी। यह समझने में किसी को देर नहीं लगेगी कि यहां हम बांग्ला प्रदेश की चर्चा कर रहे हैं। उच्च अभिलाषा से शून्य, अलस, निश्चेष्ट, गृहसुख परायण इस चरित्र के अनुकरण में, एक विचित्र गीतिकाव्य की सृष्टि हुई। यह गीतिकाव्य भी उच्च अभिलाषा से शून्य, अलस, भोगासक्त, गृह-सुख परायण है। यह काव्य प्रणाली अतिशय कोमलतापूर्ण है, अत्यंत सुमधुर है, युगल-प्रणय का चरमबिंदु है। अन्य सभी प्रकार के साहित्य को पीछे ढकेल कर, यह गीतिकाव्य जातिगत चरित्र का अनुकरण करता हुआ सात-आठ सौ वर्षों तक बंगदेश का प्रमुख साहित्य बना रहा है। इसीलिए गीतिकाव्य का इतना बाहुल्य रहा है।

बंगीय गीतिकाव्य लेखकों को दो दलों में विभक्त किया जा सकता है। एक दल वह है, जो प्राकृतिक शोभा के मध्य मनुष्य को स्थित करके उस पर दृष्टिपात करता है; और दूसरा दल, बाह्य प्रवृत्ति को दूर रखकर केवल मनुष्य-हृदय पर अपनी दृष्टि रखता है। एक दल मानव हृदय के संधान में प्रवृत्त होकर बाह्य प्रकृति को दीप्त करता है, और उसमें अन्वेष्य वस्तु को

दीप्ति देता और प्रस्फुटित करता है, दूसरा दल अपनी ही प्रतिभा से समस्त चीजों को प्रकाशित करता है, या यों कहें मनुष्य चरित्र के खनन से जो रत्न मिलते हैं, उनकी दीप्ति के लिए किसी अन्य दीप की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। प्रथम श्रेणी के प्रधान जयदेव हैं, और दूसरी श्रेणी के प्रमुख हैं विद्यापति। जयदेव जैसे कवियों के यहां सतत माधवी यामिनी है, मलय समीर, ललित लता, कुवलयदल श्रेणी, स्फुटित कुसुम, शरतचंद्र, मधुकर वृंद, कोकिल कुंजित कुंज, नवजलधर हैं, और इन्हीं के साथ हैं कामिनी का मुखमंडल, भ्रूवल्ली, बाहु लता, बिंबोष्ट, सरसी के समान लोचन, अलसनिमेष— इन सबके चित्र, वातोन्मथित तटिनीतरंगवत अनेक चित्र शृंखलाएं हैं। इस श्रेणी के कवियों की कविता में वास्तव में बाह्य प्रवृत्ति का प्राधान्य है। विद्यापति जिस श्रेणी के कवि हैं, उस श्रेणी के कवियों का बाह्य प्रकृति से कोई संबंध ही नहीं है, ऐसा भी नहीं है, बाह्य प्रकृति के साथ तो मनुष्य का नित्य संबंध है, इसीलिए काव्य से भी नित्य संबंध है, लेकिन इन कवियों की कविता में बाह्य प्रकृति अपेक्षाकृत अस्पष्ट है, फलत: मनुष्य हृदय के गूढ़तम भाव ही प्रधान स्थान ग्रहण करते हैं। जयदेव जैसे कवियों में प्रकृति के बाहरी तत्वों का प्राधान्य है, विद्यापति जैसों में अन्त:प्रकृति का राज्य है। जयदेव और विद्यापति, दोनों ही राधाकृष्ण की प्रणयकथा का बखान करते हैं। लेकिन जयदेव ने जो प्रणयगीत रचे हैं, वे बहिरिंद्रियों के अनुगामी हैं। विद्यापति की कविता, विशेष रूप से चंडीदास जैसे कवियों की कविता में बहिरिंद्रियों की वैसी भूमिका नहीं हैं। इसका कारण है— बहिरिंद्रियों की अपनी शक्ति होती है, उसे वह छोड़कर चले। स्थूल प्रकृति के साथ स्थूल शरीर का ही निकट संबंध होता है और उसके आधिक्य से कविता कुछ इंद्रियानुसरिणी हो उठती है। विद्यापति का दल, मनुष्य हृदय को बाह्य प्रकृति से अलग करके चला, और उसने स्वयं मनुष्य-प्रवृति पर दृष्टि रखी, इसीलिए उनकी कविता इंद्रिय-संवेगों से रहित होकर, विलास रहित और पवित्र हो उठती है। जयदेव के गीत राधाकृष्ण के विलास से पूर्ण हैं, विद्यापति के गीत राधाकृष्ण के प्रणय से पूर्ण हैं। जयदेव में भोग है, विद्यापति में आकांक्षा और स्मृति है। जयदेव में सुख है, विद्यापति में दु:ख। जयदेव वसंत हैं, विद्यापति वृष्टि हैं। जयदेव की कविता, उत्फुल्ल कमल जाल से शोभित, विहंगमाकुल, स्वच्छ नीर सरोवर है, विद्यापति की कविता दूरगामिनी वेगवती तरंगों भरी नदी है। जयदेव का गान, मुर्जवीणा सहित स्त्रीकंठ गीति है, विद्यापति का गान मुक्त समीकरण का विश्वास है।

हमने जयदेव और विद्यापति के संबंध में जो कुछ कहा है, वह भिन्न श्रेणियों के गीतिकवियों के आदर्शस्वरूप की विवेचना करते हुए कहा है, जो कुछ जयदेव के संबंध में कहा है, वह भारतचंद्र गर भी घटित होता है, जो कुछ विद्यापति के संबंध में कहा है, वह गोविंददास चंडीदास जैसे वैष्णव कवियों पर अधिक लागू होता है, विद्यापति पर उतना नहीं।

आधुनिक बांग्ला के गीतिकाव्य लेखकों की एक तृतीय श्रेणी भी बनायी जा सकती है। वे आधुनिक अंग्रेजी गीति-कवियों के अनुगामी हैं। आधुनिक अंग्रेजी कवि और आधुनिक बांग्ला कवि सभ्यता के प्रसार के कारण एक स्वतंत्र पथ पर चले हैं। पहले के कविगण, केवल अपने को पहचानते थे, जो कुछ उनके निकट होता था, उसे पहचानते थे। जो कुछ आभ्यंतरिक और निकट था, उसकी हर एक राशि को जानते थे और इसी के अनुकरणीय चित्र वे संजो गये हैं। अब के कविगण वैज्ञानिक इतिहासवेत्ता और आध्यात्मिक तत्वविद् हैं। नाना देश, नाना काल, नाना वस्तुएं उनके चित्त में स्थान पा सकी हैं। उनकी बुद्धि बहु विषयों में व्याप्त है, इसीलिए उनकी कविता में भी बहुतेरे विषय हैं। उनकी बुद्धि दूरस्थ चीजों को भी ग्रहण कर लेती है, इसीलिए उनकी कविता में भी दूरस्थ चीजों की उपस्थिति है। किंतु विस्तार के इस गुण के साथ कविता की प्रगाढ़ता को हानि भी हुई है। विद्यापति जैसे कवियों का विषय संकीर्ण है, लेकिन कवित्व प्रगाढ़ है; मधुसूदन और हेमचंद्र की कविता का विषय विस्तृत है, किंतु कवित्व उसी के अनुरूप प्रगाढ़ नहीं है, यह इसी तरह के कारणों से। जो जल संकीर्ण कूप में गंभीर रहता है, उसे तड़ाग में छोड़ देने पर, वह ठीक वैसा ही गंभीर नहीं रहता।

काव्य में अंत:प्रवृति और बहिर्प्रकृति का यथार्थत: यही संबंध है, कि एक में दूसरा प्रतिबिंबित होता है। अर्थात् बहिर्प्रकृति के गुण से हृदय में भावांतर घटित होता है, और मन की किसी विशेष अवस्था में बाह्य दृश्य सुखकर या दु:खकर प्रतीत होता है। जब बहिर्प्रकृति वर्णनीय हो, तब बहिर्प्रकृति की छाया समेत इस अवस्था की वर्णना ही काव्य का उद्देश्य है। जो ऐसा कर पाते हैं, वही सुकवि हैं। इसमें व्यतिक्रम होने से एक तरफ इंद्रियपरकता और दूसरी ओर आध्यात्मिकता दूषित होती है। यहां पर मैं केवल शारीरिक भोगासक्ति को ही इंद्रियपरकता नहीं कह रहा, चक्षु आदि इंद्रियों से जो अनुरक्ति जन्म लेती है, उसे भी इंद्रियपरकता में सम्मिलित कर रहा हूं। इंद्रियपरकता से जो दोष जन्म लेता है, उसके उदाहरण जयदेव हैं और आध्यात्मिक क्षति या दोष के उदाहरण हैं, वर्डस्वर्थ।

बंगालियों का बाहुबल

बंगालियों में इस समय उन्नति की आकांक्षा अत्यंत प्रबल हुई है। बंगाली सर्वदा उन्नति के लिए व्यस्त रहते हैं। लेकिन इस कारण लोग किसी गंभीर आशा को नहीं पालते। क्योंकि बंगालियों में बाहुबल नहीं है। बाहुबल के बिना उन्नति नहीं होती, ऐसा इनका विश्वास है।

बंगालियों में बाहुबल नहीं है, यह बात सच है। कभी होगा या नहीं, इसी की मीमांसा इस प्रबंध में की गयी है। हो या न हो, यह ज्ञात है कि मौर्यवंशीय और गुप्तवंशीय सम्राटों ने हिमाचल से लेकर नर्मदा तक एकछत्र शासन किया था; ज्ञात है कि ग्रीक जाति शटद्रु का अतिक्रमण करने में सक्षम नहीं हुई थी; ज्ञात है कि उन वीरों ने समूचे एशिया में केवल भारतवासी वीरों की प्रशंसा की थी; ज्ञात है कि वे चंद्रगुप्त द्वारा भारत भूमि से उन्मूलित किये गये थे, ज्ञात है कि हर्षवर्द्धन के पीछे-पीछे सैकड़ों करबद्ध राजाओं की कड़ी थी, ज्ञात है कि दिग्विजयी अरब तीन सौ वर्षों तक पश्चिमी भारतवर्ष पर अधिकार नहीं कर सके थे। इसी तरह की और भी बहुत-सी बातें ज्ञात हैं। पश्चिमी भारतवासियों की वीरता के चिह्न अब भी भारतभूमि में विद्यमान हैं।

बंगालियों के पूर्व वीरत्व के बारे में, पूर्व-गौरव के बारे में क्या मालूम है? हम केवल यही जानते हैं कि जब पश्चिम भारत में वेद प्रणीत, और अधीत, हो रहे थे, सारे उपनिषद् प्रणीत हो रहे थे, अयोध्या जैसी न्यायप्रिय सर्वसंपत्ति शालिनी नगरियां स्थापित और अलंकृत हो रही थीं— बंगाल की भूमि उस वक्त अनार्यभूमि थी, आर्यगणों के वास करने के लिए अयोग्य मानकर परित्यक्त थी।[1] केवल यही ज्ञात है कि जब उत्तर भारत में समस्त

---

1. देखें 'बंगदर्शन' का द्वितीय खंड 'बंगे ब्राह्मणाधिकार'।

आर्यवीरगण एकत्रित होकर कुरुक्षेत्र में जीते हुए सकल राज्यखंड का विभाजन कर रहे थे, जब पश्चिम में मनु आदि के अमर अक्षय सकल धर्मशास्त्र प्रणीत हो रहे थे, उस वक्त बंगदेश में पांड्र, प्रभृति अनार्यजातियों का वास था। प्राचीन काल की बात तो दूर रही, जब मध्यकाल में चीनी परिव्राजक ह्वेन सांग बंगदेश के भ्रमण पर आया था, तब उसने देखा था कि यह प्रदेश गौरवशून्य छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त है। बंगदेश का पूर्व गौरव कहां रहा है?

लेकिन, इसके बाद सुना जाता है कि पालवंशीय और सेनवंशीय राजाओं ने वृहत् राज्य की स्थापना की थी, और गौड़ नगरी बड़ी समृद्धिशालिनी हो गयी थी। लेकिन ऐसे कोई चिह्न नहीं मिलते कि उन्होंने इस बाहुबल से शून्य बंगाली जाति और उससे भी और अधिक दुर्बल अनार्यजातियों के अतिरिक्त किसी और को भी अपने अधिकार क्षेत्र में लिया हो। बस इतना ही प्रमाण मिलता है कि मुंगेर तक की भूमि उनके अधिकार क्षेत्र में थी। अन्यत्र उनके अधिकार विस्तार के संबंध में केवल तीन बातें प्रचारित हैं, और तीनों ही प्रमाण रहित हैं।

प्रथम। किंवदंति है कि दिल्ली पर बल्लोल सेन का अधिकार था। यह कथा एक से अधिक ग्रंथों में लिखी हुई होने के बावजूद, तथ्यहीन है और जनरल कनिंघम साहब ने इसके तथ्यहीन होने के प्रमाण भी दिये हैं। अगर बंगेश्वर बल्लोल सेन का अधिकार दिल्ली-पर्यंत होता तो वह घटना इतनी बड़ी होती कि एकाध ग्रंथ में उसके उल्लिखित होने भर से काम नहीं चलता, उसकी व्याप्ति के प्रमाण हमें अन्यत्र भी मिलते। बंगाल से दिल्ली के बीच एक बहुविस्तृत प्रदेश है, इसीलिए बंगप्रभुत्व की कोई किंवदंति, कोई उल्लेख, कोई चिह्न हमें इस विस्तृत प्रदेश में भी मिलता। किंतु कुछ भी तो नहीं है।

द्वितीय। सन् 1394 में गौड़ेश्वर महीपाल के राज्य का एक शासन काशी में भी था। इसी के आधार पर कुछ लोग अनुमान लगाते हैं कि काशी प्रदेश, महीपाल राज्य में अंतर्भुक्त था। अब यह मत परिव्यक्त किया जा चुका है।[1]

1. The Introduction to Sherring's saged city of the Hindus, by F.F. Hall. PXXXV, Note 2.

तृतीय। लक्ष्मण सेन को दो-एक ताम्रपत्रों में सर्वदेश विजयी कहा गया है। लेकिन इन्हें पढ़ते ही यह बात समझ में आ जाती है कि वह सब चाटुकारों की कल्पना मात्र है।

अतएव, इस बात के कोई प्रमाण नहीं हैं कि पूर्व काल के बंगाली बाहुबलशाली थे। हां, इस बात के कई प्रमाण जरूर मिलते हैं कि भारतवर्ष की अन्यान्य जातियां बलशाली थीं। ह्वेन सांग, समतट राज्यवासियों का जो वर्णन कर गए हैं, उसे पढ़कर यही ज्ञात होता है कि पूर्व काल में भी बंगालियों की स्थिति इसी तरह कमजोर थी।

बंगालियों में कभी बाहुबल था नहीं, लेकिन क्या कभी होगा भी?

वैज्ञानिक उक्ति यही है कि, जो जिस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वह फिर उसी अवस्था में लौटता है, बंगाली जिन-जिन कारणों से चिरकाल से दुर्बल हैं, वे कारण जब तक बने रहेंगे, तब तक बंगाली बाहुबल शून्य ही रहेंगे। वे सब कारण क्या हैं?

आधुनिक वैज्ञानिकों और दार्शनिकों का मत है कि सभी कुछ बाह्य प्रकृति का फल है। बंगालियों की दुर्बलता भी बाह्य प्रकृति का फल है। भूमि, जलवायु आदि के सबब से ही बंगाली दुर्बल हैं, यही प्रचलित धारणा है। इन सभी धारणाओं का संक्षेप में उल्लेख करता हूं।

कुछ लोग कहते हैं, इस देश की भूमि अत्यंत उर्वरा है— थोड़े से परिश्रम से ही अन्न उपज सकता है। इसीलिए बंगाली को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। अधिक परिश्रम न करने पर शरीर की ताकत नहीं बढ़ती। बंगभूमि की उर्वरता, बंगवासियों की दुर्बलता का कारण है।

कुछ और लोग यह कहते हैं कि भूमि के उर्वर होने से आहार के लिए शिकार करने की या पशुओं को मारने की जरूरत नहीं पड़ती। पशुओं के हनन का काम, बल, साहस और परिश्रम की मांग करता है, मनुष्य को सदा परिश्रम में रत रखता है, एवं उसी से मनुष्य को बल प्राप्त होता है, स्फूर्ति मिलती है।

दिखाई यह भी पड़ता है कि बंगदेश के अलावा और भी उर्वर प्रदेश हैं। यूरोप और अमेरिका के कई भाग बंगदेश की तुलना में कम उर्वर नहीं हैं। उन सभी देशों के लोग दुर्बल नहीं हैं।

---

1. See Introduction to sherring's sacred city of the Hindus by F.E. Hay, P XXXV note 2.

कई लोग कहते हैं कि जलवायु दोष से बंगाली दुर्बल हैं। जिस देश की वायु आर्द्र अथवा तापयुक्त होती है, उस देश के लोग दुर्बल होते हैं। क्यों होते हैं, यह बात शरीर तत्वविदों ने ठीक से समझाई नहीं है। वायु की आर्द्रता के संबंध में यहां दी गयी टिप्पणी का पाठ करने पर संशय दूर हो सकता है। और जो अरबों आदि के वीरत्व को जानते हैं, वे ताप को दौर्बल्य का कारण स्वीकार नहीं करेंगे।

मोटे तौर पर अनेक लोग यह कहते हैं कि जलसिक्त तापयुक्त वायु अत्यंत अस्वास्थ्यकर होती है, उसी के कारण बंगाली प्राय: रुग्ण रहते हैं, एवं यही बंगालियों की दुर्बलता का कारण है।

अनेक लोग कहते हैं, अन्न ही अनर्थ का मूल है। इस देश की भूमि का प्रथम उत्पाद चावल है, एवं इस देश के लोगों का खाद्य भात है। भात अत्यंत असार खाद्य है, इसीलिए बंगालियों के शरीर में कसाव नहीं होता। इसीलिए 'भेतो बंगाली' कहकर बंगालियों का उपहास किया जाता है।

शरीर तत्वविद् कहते हैं, खाद्य का रासायनिक विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि उसमें स्टार्च, ग्लूटेन आदि कई सामग्रियां होती हैं। ग्लूटेन, नाइट्रोजन प्रधान सामग्री है। इसी से शरीर पुष्ट होता है। मांसपेशियों की पुष्टता के लिए इस सामग्री की विशेष जरूरत होती है। भात में यह सामग्री अत्यंत अल्प परिमाण में पायी जाती है। मांस और गेहूं में यह अधिक परिमाण में रहती है। इसीलिए मांस और मैदा गेहूं खाने वालों का शरीर अधिक बलवान होता है—'भेतो' जाति का शरीर दुर्बल होता है। मैदे में ग्लूटेन,[1] सौ में 10 प्रतिशत होता है, मांस में (Fibrin या Musculine[2]) 19 भाग एवं भात में यह 7 से 8 प्रतिशत तक होता है।[3] इसलिए बंगाली दुर्बल होंगे क्यों नहीं?

कुछ लोग कहते हैं, बाल विवाह ही बंगालियों का परम शत्रु है—बाल विवाह के कारण ही बंगालियों का शरीर दुर्बल होता है। जिन संतानों के माता-पिता स्वयं अवयस्क होते हैं, उनका शरीर एवं बल बराबर असंपूर्ण ही बना रहेगा, और जो अल्प वय से ही इंद्रिय सुख में रत रहते हैं, उनके बलवान होने की संभावना कहां रहेगी?

---

1. Johnstone's Chemistry of common life, Vol. 1, P.100
2. Ibid, P.125
3. Ibid P.101

बंगाली मनुष्यों को लें या बंगाली पशुओं को, दुर्बलता ही जलवायु या मिट्टी का गुण मालूम पड़ती है। लेकिन जल या वायु या मिट्टी के किस दोष का यह कुफल है, इसे किसी विद्वान ने प्रमाणित नहीं किया।

लेकिन इस दुर्बलता के जो सब कारण निर्धारित किये गये हैं, या बताये गये हैं, उन्हें देखते हुए इस बात पर भरोसा नहीं किया जा सकता कि यह दुर्बलता जल्दी ही दूर हो जायेगी। पर यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह दुर्बलता किसी दिन दूर होगी ही नहीं। अगर बाल विवाह ही दुर्बलता का कारण है, तब इस बात पर भरोसा किया जा सकता है कि समाज सुधार से इस कुप्रथा का अंत समाज से हो जायेगा और बंगालियों के शरीर में बल का संचार संभव होगा। अगर चावल ही इस अनिष्ट का कारण है तब हम उम्मीद कर सकते हैं कि इस देश में यदि गेहूं की खेती में वृद्धि कराई जाये तो बंगाली आटा खाकर बलिष्ठ हो सकते हैं। यही नहीं, कालक्रम में जलवायु में परिवर्तन भी हो सकता है। इस वक्त जो सुंदरवन मनुष्यों के निवास के अनुपयुक्त है, वह एक समय जनाकीर्ण था, इसका प्रमाण मिलता है। पुरातत्ववेत्ताओं का कथन है कि यूरोप के अनेक प्रदेश, आज की बनिस्बत उष्णतर थे और उनमें उष्ण देशों में निवास करने वाले सिंहों-हाथियों आदि का वास था। और एक समय यही सकल प्रदेश हिम शिलाओं में निमग्न हुए। यह सब युगांतरों की कथा है— सहस्र-सहस्र युगों में ये सब परिवर्तन घटित होते रहे हैं। लेकिन ऐतिहासिक काल के भीतर भी जलवायु के शीत ताप में परिवर्तन के अनेक प्रमाण मिलते हैं। पूर्वकाल में रोम नगरी के निकट टैनर नदी में बर्फ जम जाती थी। और एक बार लगातार चालीस दिनों तक बर्फ जमी रही थी। कृष्ण सागर (Euxine Sea) में अविद नाम के कवि के जीवन काल में प्रतिवर्ष शीत-ऋतु में बर्फ जम जाती थी। और रीन और रन नामक नदियों में उस समय इतनी घनी बर्फ जम जाती थी कि उसके ऊपर से बोझ से लदी हुई गाड़ियां गुजरती थीं। अब रोम या कृष्ण सागर या उक्त दोनों नदियों में बर्फ नाममात्र को भी नहीं जमती। कुछ लोग कहते हैं, कृषि-कार्य में बढ़ोत्तरी होने से, वनों के कटने से, और झीलों-तालों के शुष्क होने से, ये सब परिवर्तन घटित हुए हैं। अगर कृषि-कार्य की अधिकता से शीतप्रदेश उष्ण बने हैं तो उष्ण प्रदेशों के शीतल बनने का कारण क्या है? ग्रीनलैंड एक समय ऐसा उष्ण प्रदेश था कि इसमें वनस्पतियों की अधिकता और विशेष शोभा थी, और इसीलिए इसका नाम ग्रीनलैंड पड़ा

था। लेकिन अब यही ग्रीनलैंड सदा और सर्वत्र हिमशिलाओं से मंडित रहता है। इस द्वीप के पूर्वी उपकूलों में बहुसंख्यक ऐश्वर्यशाली उपनिवेश थे— अब उसी तट पर केवल बर्फ की राशि है, और उन सब उपनिवेशों का अब कोई चिह्न तक नहीं है। लाब्राडोर इस वक्त ठंड की अधिकता के लिए विख्यात है— लेकिन जब एक हजार ई० में नार्मन लोग वहां पहुंचे थे, तब इस बात से वे प्रसन्न हुए थे कि वहां ठंड बहुत ज्यादा नहीं थी। और यहां द्राक्षा पैदा होता था इसी कारण, इसका नामकरण द्राक्षाभूमि किया था।[1]

इन सब परिवर्तनों की संभावना क्षीण है। इनके न घटित होने की संभावना ही अधिक है। बंगालियों का शारीरिक बल, बराबर इसी मात्रा में रहेगा, यह एक प्रकार से सिद्ध है, क्योंकि दुर्बलता के निवारण का उपाय दीखता नहीं है।

तब क्या बंगालियों के लिए कोई आशा नहीं है? इस प्रश्न के हमारे दो उत्तर हैं।

पहला उत्तर। यह सही है कि अब तक शरीर-बल ही पृथ्वी पर शासन करता आया है पर शारीरिक बल पशु-गुण है, मनुष्य अनेक अंशों में आज भी पशु-प्रकृति से ही संपन्न है, इसीलिए आज भी शारीरिक बल का इतना प्रादुर्भाव है। शारीरिक बल अपने आप में उन्नति का लक्षण नहीं है। उन्नति का उपाय मात्र है। इस जगत में बाहुबल के अलावा क्या उन्नति का और कोई उपाय नहीं है?

बाहुबल को उन्नति का उपाय भी नहीं कहा जा सकता। बाहुबल से किसी की उन्नति नहीं होती। जिन तातारों ने यूरोप आ कर उस पर विजय हासिल की थी, वे कभी उन्नत अवस्था में पदार्पण नहीं कर सके। फिर भी बाहुबल उन्नति के लिए इस अर्थ में आवश्यक है कि जिन सब कारणों से उन्नति की हानि होती है, उन सभी उपद्रवों से आत्मरक्षा में बाहुबल सहायक होता है। यही बाहुबल का प्रयोजन है। लेकिन जहां इस तरह का प्रयोजन न हो, वहां बाहुबल होने पर भी उन्नति नहीं होती।

जो द्वितीय उत्तर मैं दे रहा हूं, उसे बांग्ला में सर्वत्र, सब नगरों, सब ग्रामों में सभी बंगाली हृदयंगम कर लें तो अच्छा होगा। बंगाली शारीरिक बल के मामले में दुर्बल है— उनमें बाहुबल पैदा होने की संभावना नहीं

1. The scientific American

है— तब क्या बंगालियों के लिए कोई आशा नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि शारीरिक बल, बाहुबल नहीं है।

मनुष्यों में शारीरिक बल तुच्छ है। फिर भी हाथी, घोड़े आदि मनुष्य के बाहुबल से शासित होते हैं। मनुष्यों और मनुष्यों की ही तुलना करके देखें। हिमालय के पश्चिम भाग में जो सकल वन्य जातियां रहती हैं, पृथ्वी में शारीरिक रूप से उनसे अधिक बलवान और कौन है? फिर भी गोरों ने समुद्र पार से आकर भारत पर अधिकार किया— काबुल के साथ भारत का केवल फल-विक्रय का संबंध ही क्यों रहा? अनेक भारतीय जातियों से अंग्रेज शारीरिक बल में कमतर हैं। शारीरिक बल में सिख अंग्रेजों की अपेक्षा बलिष्ठ हैं। फिर भी सिख, अंग्रेजों द्वारा पराजित हैं। शारीरिक बल बाहुबल नहीं है।

उद्यम, ऐक्य, साहस एवं अध्यवसाय— इन चारों को मिलाकर शारीरिक बल का जो इस्तेमाल होता है, उसी का फल है बाहुबल। जिस जाति में उद्यम, ऐक्य, साहस एवं अध्यवसाय होता है, उसका शारीरिक बल चाहे जिस स्तर का हो, उसमें बाहुबल होता है। ये चारों ही बंगालियों में किसी काल में नहीं रहे, इसीलिए बंगालियों में बाहुबल नहीं है।

लेकिन सामाजिक गति यानी परिवर्तन के फलस्वरूप बंगाली चरित्र में इन चारों का समावेश हो सकता है। यह असंभव बात नहीं है।

हृदय में वेगवती अभिलाषा रहने से उद्यम का जन्म होता है। केवल अभिलाषा मात्र से उद्यम नहीं पैदा होता। जब अभिलाषा, अभिलाषित को अपूर्ण पाकर क्लेश पाती है और वेगवान गति से लक्ष्य प्राप्ति की ओर बढ़ती है, तभी उद्यम का जन्म होता है। मनोरथ के पूरा न होने पर जो क्लेश होता है, उसमें ऐसी प्रबलता होनी चाहिए कि निश्चेष्टता और आलस्य-सुख न मालूम पड़े। उन्हें त्याग देने का मन हो। इस तरह की कोई वेगवती अभिलाषा जब बंगालियों के मन में स्थान पायेगी तब उद्यम का जन्म होगा। ऐतिहासिक काल में ऐसी कोई वेगयुक्त अभिलाषा बंगालियों के मन में अब तक स्थान नहीं पा सकी।

जब बंगालियों के मन में एक ऐसी अभिलाषा जागृत होने लगेगी, तब हर बंगाली के मन में उस अभिलाषा का वेग इतना गुरुतर हो उठेगा कि सभी बंगाली उस अभिलाषा को फलीभूत होता देखने के लिए आलस्य-सुख को तुच्छ मानने लगेंगे, तभी उद्यम के साथ ऐक्य का मिलन होगा।

साहस के लिए कुछ और भी चाहिए। चाहिए यही कि एक जाति में सुख की अभिलाषा और प्रबलतर हो। इतनी प्रबल कि उसके लिए प्राणों का उत्सर्ग कर देना श्रेयस्कर लगे। ऐसी स्थिति में ही साहस जनमता है।

अगर यह वेगवती अभिलाषा कुछ दिनों तक निरंतर बनी रहती है, तो अध्यवसाय का जन्म होता है।

बंगालियों में अवश्य बाहुबल पैदा हो सकता है, बशर्ते (1) बंगालियों में जातीय (राष्ट्रीय) सुख की अभिलाषा प्रबल हो, (2) यदि हर बंगाली के मन में वह प्रबलतर हो, (3) यदि वह प्रबलता ऐसा रूप धारण करे कि उसके लिए लोग प्राणपन से न्यौछावर हो जायें, और (4) यदि उस अभिलाषा का बल स्थायी हो।

यह नहीं कहा जा सकता कि बंगालियों की ऐसी कोई मानसिक अवस्था कभी बनेगी ही नहीं। वह कभी भी बन सकती है— घटित हो सकती है।

(1281 श्रावण, 'विविध प्रबंध')

प्रेम का अत्याचार

लोगों की धारणा है कि केवल शत्रु अथवा स्नेह-दया-ममता से शून्य व्यक्ति ही हमारे ऊपर अत्याचार करते हैं। किंतु इनकी अपेक्षा एक और श्रेणी के गुरुतर अत्याचारी हैं, उनकी ओर हमारा ध्यान सब समय नहीं जाता। जो प्रेम करता है, वही अत्याचार करता है। प्रेम करने से ही अत्याचार करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अगर मैं तुम्हें प्रेम करता हूं, तो तुमको मेरा मतावलंबी होना ही पड़ेगा, मेरा अनुरोध रखना पड़ेगा। तुम्हारा इष्ट हो या अनिष्ट, मेरा मतावलंबी होना ही पड़ेगा। हां, यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि जो प्रेम करता है, वह तुम्हें जानबूझ कर ऐसे काम करने के लिए नहीं कहेगा, जिनसे तुम्हारा अमंगल होता हो। लेकिन कौन-सा काम मंगलजनक है और कौन-सा अमंगलजनक, इसकी मीमांसा कठिन है, कई बार दो लोगों का मत एक जैसा नहीं होता है। इस तरह की अवस्था में जो कार्य करते हैं, और उसके फलभोगी हैं, उनका यह संपूर्ण अधिकार है कि वे अपने मत के अनुसार ही कार्य करें और उनके मत के विपरीत उनसे कार्य कराने का अधिकारी राजा के अलावा और कोई नहीं है। केवल राजा ही अधिकारी है, इसी कारण वे समाज के हिताहित-वेत्ता स्वरूप प्रतिष्ठित हुए हैं, केवल उन्हीं की सद-असर विवेचना अभ्रांत है— यह मानकर उनको हमने अपनी प्रवृत्ति के दमन का अधिकार दिया है जो अधिकार उन्हें दिया है, उस अधिकार के अनुसार वे जो कार्य करते हैं, उससे किसी के प्रति अत्याचार नहीं होता एवं सब समय और सब विषयों में हमारी प्रवृत्ति के दमन का अधिकार उनका भी नहीं है। जिस कार्य से दूसरे का अनिष्ट हो सकता है, केवल उसी के संदर्भ में प्रवृत्ति के निवारण का अधिकार उनका है, जिससे केवल हमारा अपना अनिष्ट होता हो, उस

प्रवृत्ति के निवारण के अधिकारी वे नहीं हैं।[1] जिससे केवल हमारे चित्त का अनिष्ट होता हो, उससे विरत रहने का परामर्श देने का अधिकार तो मनुष्य मात्र को है, राजा भी परामर्श दे सकते हैं और जो हमसे प्रेम करता है, वह भी दे सकता है। किंतु परामर्श देने के अलावा, वह हमें विपरीत पथ पर चलने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। समाज में सभी को यह अधिकार है कि अपने सभी कार्यों को अपनी इच्छा और मत के अनुसार संपन्न करे, बस ऐसा करते हुए दूसरे का अनिष्ट न होने दे। दूसरे का अनिष्ट होने पर यह स्वेच्छाचार कहलायेगा, दूसरे का अनिष्ट न होने पर यह स्वकर्म या स्वधर्म माना जाएगा। जो इस स्वकर्म या स्वधर्म में विघ्न डालता है और जहां किसी के स्वधर्म से दूसरे का अनिष्ट नहीं होता है, वहां भी अपने मत को प्रबल कर किसी से इच्छा के विरुद्ध कार्य कराता है, वही अत्याचारी है। राजा, समाज और प्रणयी, ये तीन इसी तरह का अत्याचार करते रहते हैं। राजा के अत्याचारों के निवारण के उपाय बहुत पहले ही उद्‌भूत हुए थे। समाज के इस प्रकार के अत्याचार के निवारण के लिए कई पूर्व पंडित सचेष्ट हुए हैं, एवं इस विषय में जॉन स्टुअर्ट मिल के यत्न और विचार, हमें उनके माहात्म्य से परिचित कराते हैं। लेकिन प्रेम के अत्याचार के निवारण के लिए कोई कभी यत्नशील हुआ हो, ऐसा स्मरण नहीं आता। कविगण सर्वतत्वदर्शी और अनंत ज्ञानी होते हैं, उनकी दृष्टि से कुछ भी छिपा नहीं रहता। कैकेयी के अत्याचार से दशरथ द्वारा राम के निर्वासन के प्रसंग में, जुए की आसक्ति में युधिष्ठिर द्वारा सब कुछ हार जाने पर भाइयों के निर्वासन के प्रसंग में एवं अन्यान्य शत-शत स्थानों पर कविगणों ने यही महती नीति प्रतिपादित की है। लेकिन कविगण नीतिवेत्ता नहीं होते, नीतिवेत्ताओं ने इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला। जो सकल लौकिक व्यापारों का मनोविश्लेषण करना चाहेंगे, वही इस बात को समझ सकेंगे कि इस तत्व की समालोचना कितनी आवश्यक है। उन्हें ही इस समालोचना

---

1. अगर हम स्वीकार करते हैं कि राजा को ऐसा अधिकार है तो यह भी स्वीकार करना चाहिए कि जो अपनी चिकित्सा नहीं करते या जो छोटी आयु में या बुढ़ापे में शादी करते, उनको दंड देने का अधिकार भी राजा को है। और, राजा का ऐसा अधिकार अगर स्वीकार नहीं किया जाए तो चड़क पूजा या सतीदाह इत्यादि बंद करने के कानून का समर्थन नहीं किया जा सकता।

के संबंध में कोई संदेह नहीं रहेगा। क्योंकि इस अत्याचार में प्रवृत्त होने वाले अत्याचारी अनेक हैं। पिता, माता, भ्राता, भगिनी, पुत्र, कन्या, भार्या, स्वामी, आत्मीय, कुटुंब, सहृद, भृत्य, जो भी प्रेम करता है, वही कुछ न कुछ अत्याचार करता है और अनिष्ट करता है। तुमने किसी सुलक्षणा, कुलशीला, सच्चरित्रा कन्या को देखकर उससे पाणिग्रहण की इच्छा पाल ली है, ऐसे समय में तुम्हारे पिता आकर तुमसे कहेंगे कि अमुक संपन्न व्यक्ति की कन्या से ही वह तुम्हारा विवाह करेंगे। अगर तुम वयस्क हो, तो पिता की इस आज्ञा पालन के लिए बाध्य नहीं हो, लेकिन पितृप्रेम के वशीभूत हुए तो अच्छी न लगने पर भी उस धनिक की कन्या से विवाह कर लोगे। मान लो कोई दारिद्र पीड़ित, दैव अनुकम्पा से उत्तम पद प्राप्त कर दूर देश जा रहा है, अपने दारिद्रय् से छुटकारा चाह रहा है, ऐसे समय में माता आकर रोने लगी और कहा कि उसका दूर देश जाना वह सहन नहीं कर पायेगी, उसे उन्होंने जाने नहीं ही दिया, वह मातृ प्रेम में बंधकर निरस्त्र हो गया, उसने माता के प्रेम के अत्याचार से, अपने को दारिद्र के लिए समर्पित कर दिया। कृती सहोदर के उपार्जित अर्थ को, अकर्मण्य, अपदार्थ सहोदर नष्ट करता है, यह प्रेम का नितांत अत्याचार है, और हिंदू समाज में प्रत्यक्ष रूप से सदा दृष्टिगोचर होता है। भार्या के प्रेम के अत्याचारों का उदाहरण नव बंगवासियों के लिए देना आवश्यक है क्या? और स्वामी के अत्याचार के संबंध में— धर्मतः यह कहना जरूरी है कि प्रेम के अत्याचार भी कई हैं, पर ज्यादातर अत्याचार बाहुबल के अत्याचार हैं।

जो भी हो, मनुष्य-जीवन प्रेम के अत्याचारों से परिपूर्ण है। मनुष्य चिरकाल से अत्याचार से पीड़ित है। प्रथम अवस्था बाहुबल के अत्याचार की है। असभ्य जातियों में जो बलिष्ठ है, वही परपीड़न करता है। कालांतर में यही राजा के अत्याचार में, एवं धन के अत्याचार में परिणत हुआ, किसी समाज में, कभी भी एकदम से लुप्त नहीं हुआ। द्वितीय अवस्था धर्म के अत्याचारों की है, तृतीय अवस्था में सामाजिक अत्याचार आते हैं, और सभी अवस्थाओं में है, प्रेम का अत्याचार। इस चतुर्विध पीड़न के मध्य में, प्रणय का पीड़न किसी भी पीड़न की अपेक्षा कम अनिष्टकारी नहीं है। बल्कि कहना यह चाहिए कि राजा, समाज और धर्मवेत्ता, कोई भी प्रणयी की अपेक्षा ज्यादा बलवान नहीं है— और इनमें से कोई भी प्रणयी की तरह,

सदा, हर मामले में हस्तक्षेप नहीं करता, इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रणय का पीड़न सभी की अपेक्षा ज्यादा अनिष्टकारी है। और अन्य अत्याचारियों का निवारण किया जा सकता है, अन्य अत्याचारों की कोई सीमा भी है। क्योंकि अन्य अत्याचारों के विरोध में खड़ा हुआ जा सकता है। प्रजा, प्रजापीड़क राजा को राज्यच्युत कर देती है, कभी-कभी उसका सिर भी उतार लेती है। लोकपीड़क समाज का परित्याग किया जा सकता है। लेकिन धर्म के पीड़न से और स्नेह के पीड़न से निष्कृति नहीं है—क्योंकि इनका विरोधी बनने की प्रवृत्ति जन्म ही नहीं ले पाती।

मनुष्य जो सकल अत्याचारों के अधीन है, वह मनुष्य के प्रयोजन के लिए ही है। जड़पदार्थ को आयत्त किये बिना मनुष्य जीवन का निर्वाह कठिन है, इसके लिए बाहुबल चाहिए। और इसीलिए बाहुबल का अत्याचार भी है। बाहुबल की फलवृद्धि के लिए समाज का प्रयोजन होता है, उसी के साथ-साथ समाज का अत्याचार भी बढ़ता है। जिस प्रकार समाज के बंधन में परस्पर न बंधने से मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुसंपन्न नहीं होता, उसी प्रकार परस्पर आंतरिक बंधन में बंधे बिना मनुष्य जीवन का सुनिर्वाह नहीं होता। अतएव, जिसलिए समाज का प्रयोजन है, उसीलिए, बल्कि उससे भी बढ़कर, प्रणय का प्रयोजन है। और जिस प्रकार मनुष्य, बाहुबल और समाज को अत्याचारी मानकर न तो उनका त्याग कर सकता है और न ही अनादर, उसी प्रकार प्रणय के अत्याचार को जानते हुए भी, न तो उसको त्याज्य मान सकता है और न ही अनादरणीय। अपितु जिस प्रकार बाहुबल और समाज बल के अत्याचार को देखकर भी मनुष्य ने उसे परित्यक्त या अनादृत नहीं किया बल्कि धर्म द्वारा उसके शमन की चेष्टा की है, उसी प्रकार प्रणय के अत्याचार को भी धर्म द्वारा शमित करने का यत्न करना चाहिए। धर्म का भी अपना अत्याचार है अवश्य, और अगर धर्म के अत्याचार को शमित करने के लिए किसी और शक्ति का उपयोग किया जाय तो उस शक्ति का भी कोई अत्याचार प्रकट होगा, क्योंकि शक्ति में स्वभावत: एक अत्याचार भी निहित होता है। अगर धर्म के अत्याचार को शमन करने में कोई शक्ति सक्षम हो सकती है, तो ज्ञान ही वह शक्ति है। लेकिन, ज्ञान का भी अत्याचार है। इसका उदाहरण, हितवाद और प्रत्यक्षवाद है। इससे मनुष्य के हृदय सागर का एक बड़ा भाग डूबा जा रहा है। लगता है, ज्ञान के अत्याचार पर शासन करने के लिए मनुष्य द्वारा किसी अन्य शक्ति का व्यवहार किया जायेगा, लेकिन वह क्या और कैसी होगी, अभी तक ऐसी कोई विवेचना हुई नहीं है।

इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि प्रणय के द्वारा ही प्रणय के अत्याचार का शमन संभव है। यह यथार्थ है, इसे स्वीकार करता हूं। अगर स्नेह स्वार्थ-रहित हो, तो यह संभव है। लेकिन साधारण मनुष्यों की प्रवृत्ति कुछ ऐसी होती है, कि स्वार्थ-रहित स्नेह प्राय: दुर्लभ है। इस बात के मर्म को न ग्रहण कर कई लोग मन ही मन इसका विरोध करेंगे। वे यह कह सकते हैं कि जिस मां ने स्नेह के वशीभूत होकर पुत्र को अर्थोपार्जन के लिए बाहर नहीं जाने दिया, वह क्या स्वार्थी है? वह अगर स्वार्थी होती तो पुत्र को अर्थोपार्जन के लिए विदेश जाने से भला मना ही क्यों करती? क्योंकि पुत्र के अर्थोपार्जन का लाभ भला किस मां को प्राप्त नहीं होगा? अतएव दर्शनमात्र की आकांक्षा रखने वाले स्नेह को अनेकों लोग स्वार्थ-रहित मानते हैं। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है— ऐसा स्नेह स्वार्थ-रहित नहीं होता। लोग यह बात नहीं समझ पाते कि धनलाभ के अतिरिक्त पृथ्वी पर अन्य सुखों की जो आकांक्षा है, वह धनलाभ से भी अधिक वेगवती होती है। जिस मां ने अर्थ का मोह छोड़कर, पुत्र-मुख दर्शन के सुख की इच्छा से पुत्र को दारिद्र्य् में ढकेल दिया, उसने भी आत्मसुख खोजा। वह अर्थजनित सुख नहीं चाहती, लेकिन पुत्र संदर्शन जनित सुख चाहती है। यह सुख मां का है, पुत्र का नहीं। मां ने यह अपने लिए एक सुख ढूंढा— नित्य पुत्र मुख-दर्शन, इसी की अभिलाषिनी होकर पुत्र को दारिद्र्य् के दु:ख से दु:खी करना चाहा, यहां मां स्वार्थ पर है, क्योंकि अपने सुख के कारण उसने दूसरे को दुखी किया।

मनुष्य का स्नेह, अधिकांशत: इसी प्रकार प्रणयी और प्रणयभाजन— दोनों के लिए सुखकर होता है, लेकिन है यह स्वार्थपरक, पशुवृत्ति वाला। बस, प्रणयी अन्य सुखों की अपेक्षा प्रणय सुख का अभिलाषी है, इसीलिए लोग इस प्रकार के स्नेह को अस्वार्थपरक कहते हैं। लेकिन स्नेह का जो सुख है, वह स्नेह करने वाले का ही है, स्नेही अपने ही सुख का आकांक्षी है, इसीलिए साधारण मनुष्य-स्नेह को स्वार्थपरक वृत्ति ही मानना पड़ेगा।

लेकिन स्नेह केवल स्वार्थ साधन के लिए मनुष्य हृदय में स्थापित नहीं है। मनुष्य की जितनी भी वृत्तियां हैं, उनमें लगता यही है कि, सबसे अधिक यही वृत्ति पवित्र और मंगलकर है। मनुष्य के चरित्र ने इसके अनुरूप उत्कर्ष लाभ नहीं किया, इसीलिए मनुष्य स्नेह आज भी पशुवत है। पशुवत, क्योंकि पशुओं में भी वत्स स्नेह होता है, दाम्पत्य प्रणय एवं वात्सल्य होता है, दाम्पत्य के अलावा अन्य विधि प्रणय है। पहला, मनुष्य की तुलना में कम परिमाण में नहीं है।

स्नेह का यथार्थ स्वरूप अस्वार्थपरक ही है। जिस मां ने पुत्र के सुख की कामना से, पुत्र मुख-दर्शन की कामना का परित्याग किया, वही यथार्थ में स्नेहवती है। जिस प्रणयी ने, प्रणय के पात्र के मंगलार्थ अपने प्रणयजनित सुखभोग का परित्याग कर दिया, वही प्रणयी है।

जब तक साधारण मनुष्य का प्रेम, इस प्रकार की विशुद्धता नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक मनुष्य का प्रेम स्वार्थपरता के कलंक से मुक्त नहीं होगा। और स्नेह की यथार्थ स्फूर्ति घटित नहीं होगी। जहां प्रेम इस रूप में विशुद्धि को प्राप्त होगा, या जिसके हृदय में हो चुका है, वहीं पर प्रेम के द्वारा प्रेम के अत्याचार का निवारण हो सकता है, और होता रहता है। इस प्रकार के प्रणय-विशिष्ट मनुष्य दुर्लभ नहीं हैं। लेकिन इस प्रबंध में मैं उनकी चर्चा नहीं कर रहा— वे अत्याचारी भी नहीं हैं। अन्यत्र, धर्म के शासन से ही प्रणय को शासित कर, अत्याचार के निवारण का उपाय संभव है। यह धर्म कौन-सा है?

धर्म की चाहे जो जैसी व्याख्या करे, धर्म एक है। मात्र दो मूलसूत्रों से मनुष्य के समस्त नीतिशास्त्र की व्याख्या की जा सकती है। इनमें से एक आत्म-संबंधीय है, दूसरा परसंबंधीय। जो आत्म से संबंधित है, उसे आत्मसंस्कार नीति का मूल कहा जा सकता है, आत्मचित्त की स्फूर्ति एवं निर्मलता की रक्षा ही उसका उद्देश्य है। और परसंबंधीय को पर से संबंध रखने के निमित्त से, वास्तविक धर्मनीति का मूल कहा जा सकता है। 'दूसरे का अनिष्ट न करना, अपने साधनों के हिसाब से दूसरे का मंगल करना।' यह महती उक्ति ही जगत के धर्मशास्त्रों का एकमात्र मूल है, एवं एकमात्र परिणाम भी। और जिस किसी भी उक्ति का हम व्यवहार करेंगे, यही पाएंगे कि उसका आदि और चरम इसी में अंतर्भुक्त है। आत्मसंस्कार की नीति के सकल तत्वों के साथ, इस महा नीतितत्व का एका है। और परहित नीति तथा आत्मसंस्कार नीति, एक ही तत्व की भिन्न-भिन्न व्याख्याएं भर हैं। परहित में संलग्न रहना और दूसरे का अहित न करना, यही सारे नीतिशास्त्रों के उपदेशों का सार है।

अतएव धर्मनीति के इस मूलसूत्र को आधार बनाने पर ही अत्याचार का निवारण होगा। जब स्नेहवान कोई व्यक्ति स्नेह के पात्र के किसी कार्य में हस्तक्षेप करने को उद्यत हो, तब उसे अपने मन में यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि मैं केवल अपने सुख के लिए हस्तक्षेप नहीं करूंगा, जिसे स्नेह करता हूं उसे अपना मानकर, उसका किसी प्रकार का अनिष्ट

नहीं करूंगा। मुझे चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े, उठाऊंगा लेकिन उसे किसी अहित की ओर प्रवृत्त नहीं करूंगा।

यह बात सुनने में छोटी मालूम पड़ सकती है, और पुरानी जनश्रुति की पुनरुक्ति भर जान पड़ सकती है, लेकिन इसका प्रयोग हर समय इतना सहज-सरल नहीं होता। उदाहरण के लिए दशरथकृत राम निर्वासन की मीमांसा करें तो क्या पायेंगे, उनके द्वारा इस सामान्य नियम के प्रयोग की कठिनता ही तो— इसे बहुतेरे लोग हृदयंगम कर लेंगे। इस प्रसंग में कैकेयी और दशरथ दोनों ही प्रेम के अत्याचार में प्रवृत्त हैं, कैकेयी दशरथ के ऊपर, दशरथ राम के ऊपर। इसमें कैकेयी की भूमिका स्वार्थपरक और नृशंस मानी जाती रही है। वह स्वार्थपरक और नृशंस है जरूर, लेकिन उनके प्रति जितनी कटूक्तियों का व्यवहार होता आया है, उनमें कितनी संगति है, कहा नहीं जा सकता। कैकेयी ने अपने लिए कोई कामना नहीं की थी, अपने पुत्र की ही शुभकामना की थी। सच है, पुत्र के मंगल में ही माता का मंगल है, लेकिन जो बंगीय माता पिता अपनी जाति-बिरादरी के भय से पुत्र को शिक्षार्थ इंग्लैंड नहीं जाने देते, कैकेयी की भूमिका उनकी तुलना में सौगुना अस्वार्थपरक है— इस विषय में कोई संदेह नहीं।

इस प्रसंग को जाने दें, हम यहां कैकेयी के गुण-दोष की विवेचना नहीं कर रहे। दशरथ ने सत्य के पालन के लिए राम को वन में जाने दिया और भरत को राज्याभिषिक्त किया। इससे उनके निज के प्राण चले गये। उन्होंने सत्य के पालन के लिए प्राणों का वियोग एवं प्राणों से भी प्रिय पुत्र का विरह स्वीकार किया, इससे भारतीय साहित्येइतिहास उनके यशगान से भरा पड़ा है। लेकिन उत्कृष्ट धर्मनीति की कसौटी पर कसने से यही प्रमाणित होता है कि दशरथ ने पुत्र को उसके अधिकार से च्युत्त करके और निर्वासित करके सत्य का पालन तो किया, पर घोरतम अधर्म किया।

प्रश्न उठता है कि क्या सत्य मात्र का पालन जरूरी है। यदि सती कुलवती, दुश्चरित्र पुरुष के निकट धर्मत्याग करने को प्रतिश्रुत हो, तो क्या उस सत्य का पालन आवश्यक है। यदि कोई दस्यु के संतोष के लिए, निरपराध सुहृद का वध करने का वचन दे दे, तो क्या उस सत्य का पालन किया जाना चाहिए? यदि कोई घोरतम महापातक को कोई वचन दे दे, तो क्या उसके वचन का पालन जरूरी है?

जहां पर वचन के उल्लंघन की बनिस्बत, वचन की रक्षा से ज्यादा अनिष्ट होने वाला हो, वहां पर वचन की रक्षा करेंगे, या उसे भंग करेंगे? कई लोग कहेंगे वहां भी वचन का पालन जरूरी है, क्योंकि सत्य निरंतन धर्म है, किसी भी अवस्था में उसका परित्याग करने से पुण्य प्राप्त नहीं हो सकता। यदि पाप-पुण्य का ऐसा अर्थ करें कि जो कर्म करने वाला है उसकी विवेचना और स्वार्थ के अनुसार ही कर्तव्य का निर्धारण ठीक है, और जो उसकी तात्कालिक विवेचना में अनिष्टकारक है, वह अकर्तव्य है, तो पुण्य और पाप के बीच कोई भेद नहीं बचेगा— लोग किसी चीज को पुण्य मानकर घोरतम महापाप में प्रवृत्त हो सकते हैं। हम इस तत्व की मीमांसा यहां नहीं करेंगे— क्योंकि हितवादियों ने इसकी एक प्रकार की मीमांसा कर रखी है। स्थूल उदाहरण से ही मैं इसका उत्तर दूंगा।

जब मीमांसा इस प्रकार की जाए, तब धर्मनीति का जो मूल रूप संस्थापित हुआ है, उसके द्वारा इसकी परीक्षा करने पर क्या दिखाई पड़ेगा?

सत्य या वचन क्या सर्वत्र पालन करना चाहिए? इसकी मीमांसा करने से पहले यह देखें कि सत्य का पालन किसलिए वांछनीय है। सत्य के पालन की एक मूल धर्मनीति है, एक मूल संस्कारनीति है। हमने आत्म संस्कार नीति को, धर्मनीति का एक अंश मानने से अस्वीकार किया है, धर्मनीति के मूल को ही देखेंगे। अंततः दोनों का फल एक ही है। धर्मनीति का मूल सूत्र यह है, जिससे दूसरे का अनिष्ट होता हो, वह अकर्त्तव्य है। सत्य या वचन भंग करने से अनिष्ट होता है, इसीलिए वचन पालनीय है। लेकिन जब ऐसा होने की आशंका हो कि वचन का पालन करने से गुरुतर अनिष्ट होगा तो वचन भंग किया जा सकता है। ऐसे समय में वचन पालनीय नहीं है। दशरथ के वचन का पालन करने से राम का गुरुतर अनिष्ट है, वचन भंग करने पर कैकेयी का वैसा कोई अनिष्ट नहीं होता। दशरथ के वचन का पालन करने से जनसमाज का जो अनिष्ट होता है, वह राम का स्वाधिकार छीनने से गुरुतर है। यह दस्युता का ही एक और रूप है। अतएव, ऐसे प्रसंग में दशरथ ने सत्य का पालन करके महापाप किया था।

इस प्रसंग में दशरथ स्वार्थपरता से मुक्त नहीं हैं। वचन भंग करने से दुनिया उन पर कलंक लगायेगी, इसी भय से उन्होंने राम को अधिकारच्युत और बहिष्कृत किया। अतएव अपने यश की रक्षा के लिए उन्होंने राम का अनिष्ट किया। यह सच है कि इससे उन्होंने अपनी प्राण हानि भी स्वीकार

की, लेकिन उनके लिए यश, प्राणों से भी अधिक प्रिय था इसीलिए उन्होंने अपना स्वार्थ ही देखा था। इसी कारण हम उन्हें स्वार्थपर कहेंगे। स्वार्थपरता के दोष से जो अनिष्ट होता है, वह घोरतम पाप है।

स्वार्थहीन प्रेम एवं धर्म की एक ही गति है। दोनों के साधने से, दूसरों का मंगल होता है। वस्तुत: प्रेम और धर्म, एक ही पदार्थ है। सारे संसार को प्रेम से देखने का ही नाम धर्म है। और धर्म जब तक सार्वजनीन प्रेम का स्वरूप नहीं ग्रहण करता, तब तक उसे पूर्णता नहीं मिलती। लेकिन मनुष्यों ने व्यवहारत: स्नेह को, धर्म से अलग कर रखा है, इसीलिए प्रेम के अत्याचार के निवारण का यही उपाय है कि इस अत्याचार पर धर्म का शासन हो।

(1281, अग्रहायन, विविध प्रबंध)

विड़ाल

मैं शयनगृह में, चारपाई पर बैठा हुआ, हाथ में हुक्का लेकर तन्द्रिल अवस्था में था। कमरे में बहुत हल्की-सी रोशनी थी— दीवार पर चंचल छाया प्रेतवत नाच रही थी। आहार प्रस्तुत नहीं हुआ था— इसीलिए हाथ में हुक्का लिये, मैं आंखें मूंदे सोच रहा था अगर मैं नेपोलियन होता, तो वाटरलू की लड़ाई जीत पाता या नहीं। इसी समय एक मद्धिम-सा स्वर सुनाई पड़ा— 'म्याऊं'।

चौंककर देखा— सहसा कुछ समझ में नहीं आया। पहले तो यह लगा कि वेलिंग्टन ने हठात विड़ालत्व प्राप्त कर लिया है, और मेरे निकट अफीम की भिक्षा मांगने आये हैं। पाषाणवत कठोर होकर, मैंने मन ही मन तय किया कि उनसे कहूंगा, ड्यूक महाशय को पहले ही काफी पुरस्कार दिये जा चुके हैं, अब और अतिरिक्त पुरस्कार नहीं दिया जा सकता। ज्यादा लालची होना अच्छी बात नहीं है। ड्यूक ने कहा— 'म्याऊं'।

फिर आंखें खोलकर अच्छी तरह देखा, वेलिंग्टन नहीं, एक क्षुद्र बिल्ली है। मेरे लिए रखे गये दूध को प्रसन्न होकर उदरस्थ कर रही है, मैं वाटरलू की व्यूह रचना में व्यस्त था, इसलिए पहले उसे देख नहीं पाया था। अब बिल्ली-सुंदरी, दुग्धमान से परितृप्त होकर, अपने मन के सुख को दुनिया पर प्रकट करने के अभिप्राय से अत्यंत मधुर स्वर में बोल रही है, 'म्याऊं'। कह नहीं सकता, लेकिन लगता है इसके भीतर एक व्यंग्य छिपा था। लगता है, बिल्ली मन ही मन हंसकर, मेरे लिए रखे गये दूध के बारे में सोच रही थी।

लगता है उस 'म्याऊं' में यह आग्रह था कि मेरे मन को समझो। मेरी समझ में उसके मन का भाव था— "तुम्हारा दूध तो मैंने पी लिया है, अब कहो?"

कहूं क्या? यह तय नहीं कर पाया। दूध कोई मेरे पिता का तो है नहीं। दूध मंगला का है, दूहा है प्रसन्न ने। इसलिए इस दूध पर मेरा जो

अधिकार है, वही बिल्ली का है, इसीलिए गुस्सा नहीं हो सका। लेकिन चिरंतन काल से यह प्रथा चली आ रही है कि अगर बिल्ली दूध पी ले, तो उसे धमका कर बाहर करने के लिए उठना चाहिए। मैं अगर इस चिरंतन प्रथा की अवमानना करूंगा तो मनुष्य-कुल के कुलांगार के रूप में जाना जाऊंगा और यह तो वांछनीय नहीं है। क्या पता, यह बिल्ली अपनी मंडली में जाकर, कापुरुष कहकर कमलाकांत का उपहास करे। अतएव पुरुषों के अनुरूप आचरण करना ही ठीक है। यह निश्चय करके, सकातरचित्त से, हाथ का हुक्का एक ओर रख, कहीं से एक टूटी-सी छड़ी खोजकर, गर्व के साथ बिल्ली की ओर दौड़ा।

बिल्ली कमलाकांत को पहचानती थी, छड़ी देखकर डर जाने का उसने कोई लक्षण प्रकट नहीं किया। केवल मेरे मुख की ओर देखती हुई, पंजे उठाकर, कुछ सरक कर बैठ गयी। बोली, 'म्याऊं'। उसका सवाल समझने की गरज से, छड़ी त्याग कर फिर शय्या पर आकर हुक्का हाथ में ले लिया। तभी मानों दिव्यकर्ण प्राप्त हो गये और बिल्ली का समूचा वक्तव्य समझ में आ गया।

समझ गया कि बिल्ली कह रही है, "मारपीट क्यों? स्थिर होकर, हुक्का हाथ में लेकर, जरा विचार कर तो देखो। इस संसार का पानी, दूध, दही, मछली, मांस— बस तुम्हीं लोग खाओगे— पिओगे, हमें कुछ नहीं मिलेगा। तुम मनुष्य हो, हम विड़ाल, प्रभेद क्या है? तुम लोगों में भूख-प्यास है— क्या हममें नहीं है? तुम खाओ, हमें कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन हमारे कुछ खा लेने पर तुम लोग किस शास्त्र के अनुसार हमें मारने के लिए लाठी लेकर दौड़ पड़ते हो— यह मैं बहुत अनुसंधान करने पर भी नहीं समझ सकी। तुम लोग हमसे थोड़ा उपदेश ग्रहण करो। विज्ञ चौपायों से शिक्षा लाभ के अतिरिक्त तुम्हारी उन्नति का आज कोई उपाय मैं देख नहीं पा रही। तुम्हारे समस्त विद्यालयों की स्थिति देखकर मुझे यह बोध हो रहा है कि अब तो तुम्हें यह बात समझ में आ जानी चाहिए।

"देखो, शैय्याशायी मनुष्य। धर्म क्या है? परोपकार ही परम धर्म है। इस दूध को पीकर मेरा परम उपकार हुआ है। तुम्हारे दूध का पान मैंने किया, उससे यह परोपकार ही तो सिद्ध हुआ है— अतएव तुम उस परम धर्म के फलभागी हुए—मैं चाहे चोरी करूं या और जो भी करूं, तुम्हारे धर्म संचय का मूलभूत कारण मैं ही हूं। अतएव मेरे ऊपर प्रहार न करके, मेरी प्रशंसा करो। मैं तुम्हारे धर्म में सहायक हूं।

"देखो, मैं चोर जरूर हूं, लेकिन क्या मैं अपनी इच्छा से चोर बनी हूं। खाने को मिले तो भला कौन चोरी करना चाहेगा? देखो, जो बड़े-बड़े साधु हैं और चोर के नाम से भी जो सिहर उठते हैं, उनमें से कई चोर से भी ज्यादा अधार्मिक होते हैं। उनको चोरी करने की जरूरत नहीं पड़ती, इसीलिए चोरी नहीं करते। लेकिन उनके पास प्रयोजन से भी अधिक धन होने के बावजूद वे चोर की कोई परवाह ही नहीं करते, इसीलिए चोर चोरी करता है। अधर्मी चोर नहीं है, अधर्मी तो वह कृपण धनी है, जिसके कारण चोर को चोरी करनी पड़ती है। चोर दोषी जरूर है, लेकिन धनी कृपण उसकी अपेक्षा सौगुना दोषी है। चोर को दंड मिलता है, लेकिन चोरी का मूल कारण तो वह कृपण है, उसे दंड क्यों नहीं मिलता?

'देखो, मैं इस दीवार से उस दीवार तक म्याऊं-म्याऊं करती हुई घूमती फिरती हूं, कोई हमारी ओर मछली के कांटे तक नहीं फेंकता। मछली का कांटा, थाली का भात, घूरे पर फेंक देता है, पानी में फेंक देता है, पर हमें पुकार-कर नहीं देता। तुम्हारा पेट भरा हुआ है, हमारे पेट की क्षुधा को तुम भला कहां जानते हो। हाय! दरिद्र के प्रति व्यथित होने से क्या तुम्हारे गौरव में कमी आ जायेगी? हमारे जैसे दरिद्र की व्यथा से व्यथित होना लज्जा की बात है, इसमें संदेह नहीं। जो कभी अंधे को एक मुट्ठी भिक्षा नहीं देता, वह बड़ा राजा भी रात को सो नहीं पाता— सभी दूसरे की व्यथा से व्यथित होने के लिए तैयार हैं। लेकिन गरीबों के दुःख से कातर होने को! छिः! इसके लिए भला कौन तैयार है?

"देखो, यदि अमुक शिरोमणि या अमुक न्यायालंकार आकर तुम्हारे दूध को पी जाते तो क्या तुम उन्हें छड़ी लेकर मारने दौड़ते। उल्टे, हाथ जोड़कर यह कहते, क्या थोड़ा-सा और ला दूं? फिर, हमारे लिए ही यह लाठी क्यों? तुम कहोगे, वे लोग बड़े विद्वान हैं, गणमान्य हैं? क्या विद्वान और मान्य होने से ही उनकी क्षुधा हमारी तुलना में अधिक है? ऐसा तो है नहीं— यह तो मनुष्य जाति का ही रोग है कि वह तेलभरे माथे पर ही और अधिक तेल मलती है— दरिद्र की क्षुधा को कोई नहीं समझता। जो खाने के लिए मना कर रहा हो, उसके लिए तो भोज का आयोजन करते हो, और जो क्षुधा की ज्वाला में, बिन बुलाये तुम्हारा अन्न खा लेता है, उसे चोर कहकर दंडित करते हो— छिः! छिः!"

"देखो, हमारी दशा देखो, हम गली-गली, आंगन-आंगन, महल-महल म्याऊं करते हुए भटकती हैं, लेकिन कोई हमारी ओर मछली का कांटा

तक नहीं फेंकता । हां, अगर कोई तुम्हारा प्रिय विड़ाल बन गया, पालतू होकर तुम्हारे यहां रहने लगा, वृद्ध की युवा पत्नी का सहोदर बन गया, या मूर्ख धनिक के पास शतरंज की विसात के साथ बैठ गया— तभी उसे अच्छी खुराक मिलती है। उसका पेट फूल जाता है, बदन में रोएं सघन हो जाते हैं, और उनके रूप की छटा देखकर उस पर कविताएं लिखी जाने लगती हैं।

और हमारी दशा देखो, आहार के अभाव में पेट पिचका हुआ है, हड्डियां झांक रही हैं, पूंछ लटकी है, दांत बाहर आ गये हैं, जिह्वा झूल रही है— आहार के अभाव में हम अविरत करती रहती हैं— 'म्याऊं म्याऊं— क्या खाएं, कहां जाएं।' हमारी काली चमड़ी देखकर घृणा मत करना। इस पृथ्वी के मछली-मांस पर हमारा भी कुछ अधिकार है। खाने दो— नहीं तो हम चोरी करेंगे। हमारी काली चमड़ी, सूखे मुंह और क्षीण सकरुण म्याऊं-म्याऊं को सुनकर तुम लोगों को दु:ख नहीं होता क्या? चोर के लिए भी दंड है, पर क्या निर्दयता के लिए कोई दंड नहीं है। दरिद्र भोजन जुटाए तो इसके लिए दंड है, लेकिन धनी की कृपणता के लिए कोई दंड क्यों नहीं है? तुम कमलाकांत हो, दूरदर्शी हो, क्योंकि अफीमखोर हो, तुम भी क्या इसे नहीं देख पा रहे कि धनियों के दोष के कारण ही दरिद्र चोर बनते हैं। पांच सौ दरिद्रों को वंचित करके, एक आदमी पांच सौ लोगों का आहार अपने भंडार में क्यों रख लेता है? अगर रख भी लेता है, तो उसे दरिद्रों को देता क्यों नहीं है? अगर नहीं देगा, तो दरिद्र आहार के निकट होते ही उसे चुरा लेगा क्योंकि इस दुनिया में अनाहार रहने के लिए कोई नहीं आया।

और अधिक सहन न होने पर मैंने कहा, "रुको, रुको विड़ाल पंडित! तुम्हारी बातें बहुत ज्यादा सोशियलिस्टिक है। समाज की विशृंखलता का मूल हैं। यदि जिसकी जितनी क्षमता है, वह उतना धनसंचय नहीं कर सकता या संचय कर लेने पर चोर की आशंका से उसका निर्विघ्न उपभोग नहीं कर सकता, तो बताओ कोई धन संचय करना ही क्यों चाहेगा। ऐसी स्थिति में समाज की धनवृद्धि नहीं होगी। "

बिल्ली ने कहा, "न होने पर मेरा क्या बिगड़ेगा? समाज की धनवृद्धि का मतलब है धनिक की धनवृद्धि। धनिक की धनवृद्धि न होने पर दरिद्र का क्या नुकसान है?"

मैंने समझाने की गरज से कहा, ''समाज की धनवृद्धि के बिना समाज की उन्नति नहीं हो सकती।'' बिल्ली ने कुछ गुस्से से कहा, ''अगर मुझे खाने को ही न मिले तो समाज की उन्नति लेकर मैं क्या करूंगी?''

बिल्ली महाशया आगे बोलीं, ''चोर को फांसी दो, इस पर भी मेरी आपत्ति नहीं है, लेकिन इसके साथ ही एक नियम और बनाओ। जो विचारक चोर को सजा देगा, वह पहले तीन दिन स्वयं उपवास रखेगा। इस पर भी अगर उन्हें चोरी करके खाने की इच्छा न हो, तो वह चोर को अवश्य फांसी दे दे। तुमने मुझे मारने के लिए लाठी उठायी, अब तुम आज से तीन दिन का उपवास करके देखो। तुम इस बीच अगर नसीराम बाबू के भंडार घर में न पकड़े गये, तब हमें धमका कर मारना, मैं आपत्ति नहीं करूंगी।''

विज्ञ लोगों का मत यही है, कि जब बहस में हार जाओ, तो गंभीर भाव से उपदेश देने लगो। मैंने इसी प्रथा के अनुसार बिल्ली से कहा, ''ये सारी बातें नीतिविरुद्ध हैं, इन्हें उठाना भी पाप है, तुम इन सारी दुश्चिंताओं को छोड़कर, धर्माचरण में अपना मन लगाओ। तुम अगर चाहो तो तुम्हें मैं पढ़ने के लिए न्यू मैन और पार्कर के ग्रंथ दे सकता हूं। और 'कमलाकांत का दफ्तर' पढ़ने से भी कुछ उपकार हो सकता है, और कुछ हो चाहे नहीं, अफीम की असीम महिमा तुम्हारी समझ में आ जायेगी। अब अपने स्थान की ओर जाओ, प्रसन्न ने कहा है, कल कुछ छेना लायेगा, जलपान के समय आना, हम दोनों मिल-बांट कर खायेंगे। अब और किसी की हांड़ी पर मुंह मत लगाना, हां, अगर क्षुधा से अत्यंत अधीर हो जाओ, तो फिर आना, तुम्हें अफीम खाने को दूंगा।''

बिल्ली ने कहा, ''अफीम के लिए कोई विशेष ललक नहीं है, रही हांड़ी की बात, तो क्षुधानुसार इस पर विचार करूंगी।''

बिल्ली ने विदा ली। एक पतित आत्मा को अंधेरे से निकाल कर प्रकाश में ले आया हूं, यह सोचकर कमलाकांत को बड़ा आनंद हुआ।

श्री कमलाकांत चक्रवर्ती
(1281 चैत्र। ''कमलाकांतेर दफ्तरे'')

चंद्रलोक

इस बंगदेश के साहित्य में चंद्रदेव ने अनेक काम किये हैं। वर्णना में, उपमा में, विच्छेद में, मिलन में, अलंकारों में, खुशामद में, वे कई बार उल्टे-पल्टे हैं— कई कलाबाजियां खाई हैं। चंद्रबदन, चंद्ररश्मि, चंद्रकर, शशि मसि इत्यादि साधारण भोग्य सामग्री, उन्होंने अकातर भाव से वितरित की है, कभी स्त्रियों के कंधों के ऊपर धूम मचाई है, कभी उनके नखों में गड़-गड़ गये हैं, सुधाकर हिमकर कर निकर, मृगांध, शशांक, कलंक जैसे अनुप्रासों से, उन्होंने बंगाली बालक को मनोमुग्ध किया है। लेकिन इस उन्नीसवीं शताब्दी में इस प्रकार केवल साहित्य-निकुंज में लीला रचाने से, भला किसका काम चल सकता है। विज्ञान-दैत्य, सभी रास्तों को घेर कर बैठा है। आज चंद्रदेव को विज्ञान ने पकड़ लिया है— और धमाचौकड़ी नहीं। साहित्य के वृंदावन में और लीला रचाने भर से निस्तार नहीं है, कुंजद्वार पर, साहब रथ बुलाकर खड़े हैं, चलो, चंद्र, विज्ञान की मथुरा में चलो, एक कंस का वध करना है।

जब अभिमन्यु के शोक में भद्रार्जुन अत्यंत कातर थे तब उनके प्रबोधार्थ यह कहा गया था कि अभिमन्यु चंद्रलोक चले गये हैं। हम लोग भी जब नील गगन के समुद्र में यह सुवर्ण द्वीप देखते हैं, तो हमें भी यह लगता कि, इस सुवर्णमय लोक में स्वर्ण-मनुष्य, स्वर्ण-थाल में, स्वर्ण मछली तलकर, स्वर्ण-भात के साथ खाते हैं, हीरे का शरबत पीते हैं, एवं अपूर्व पदार्थो से बनी हुई शैय्या में शयन करके, स्वप्न शून्य निद्रा में समय व्यतीत करते हैं। विज्ञान का कहना है, बात ऐसी नहीं है— इस बंजर भूमि में कोई नहीं पहुंचता— यह तो दग्ध मरुभूमि मात्र है। इस विषय में कुछ कहूंगा।

शैशव में बच्चे चंद्र उपग्रह पढ़ते हैं। लेकिन उपग्रह कहने से, सौरजगत के साथ, चंद्रमा का प्रकृत संबंध निर्दिष्ट नहीं होता। पृथ्वी और चंद्र युगल-ग्रह

हैं। दोनों एक ही पथ पर सूर्य की प्रदक्षिणा करते हैं। दोनों ही एक-दूसरे के मध्याकर्षण केंद्र के वशीभूत हैं— लेकिन पृथ्वी का गुरुत्व चंद्रमा की तुलना में इक्यासी गुना है, इसीलिए पृथ्वी की आकर्षणी शक्ति चंद्रमा की अपेक्षा इतनी अधिक है, कि उस युक्त आकर्षण का केंद्र पृथ्वी में स्थित है। इसी कारण चंद्रमा, पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने वाला उपग्रह मालूम पड़ता है। साधारण पाठक यही समझेंगे कि चंद्रमा एक क्षुद्रतर पृथ्वी है, इसका व्यास 1050 कोस है, अर्थात् पृथ्वी के कुल व्यास के चतुर्थांश से कुछ अधिक है। जो समस्त कविगण नायिकाओं को प्राचीन प्रथा के अनुसार चंद्रमुखी कहने भर से संतुष्ट नहीं हैं— वे नयी उपमा का अनुसंधान करें— उन्हें हम यह परामर्श देंगे कि वे नायिकाओं को पृथ्वीमुखी कहना आरंभ कर दें। इससे अलंकार को एक नया गौरव बोध होगा। भान होगा कि, सुंदरी का मुखमंडल केवल सहस्र कोस नहीं है, चार सहस्र कोस से कुछ कम है।

यह क्षुद्र पृथ्वी, हमारी पृथ्वी से एक लाख बीस हजार कोस मात्र है— तीस हजार योजन मात्र। गागनिक गणना में यह दूरी अति सामान्य है— इस मुहल्ले से उस मुहल्ले के बराबर। तीस पृथ्वियों की कड़ी बनाएं तब वह कहीं चंद्रमा तक पहुंचेगी। अगर चंद्रमा तक रेल होती और वह एक घंटे में बीस मील की रफ्तार से चलती, तो रात-दिन यात्रा करने पर हम पचास दिन में चंद्रमा तक पहुंचते।

इसलिए आज के खगोलशास्त्री चंद्रमा को अत्यधिक निकट का समझते हैं। उनके कौशल से अब ऐसी दूरबीन का निर्माण हुआ है कि उसके द्वारा चंद्रादिक को 2400 गुना वृहत्तर रूप में देखा जा सकता है। इससे हुआ यह है कि चंद्रमा यदि हमारे नेत्रों से पांच सौ कोस की दूरी पर होता तो हम चंद्रमा को जितने स्पष्ट रूप से देख पाते, उतने ही स्पष्ट रूप से आज इन दूरवीक्षणों की सहायता से देख पा रहे हैं।

क्या इस रूप में चाक्षुष होने पर चंद्र कुछ विरूप मालूम पड़ते हैं? दिखाई यह पड़ता है कि वे विशिष्ट हाथ-पैरों वाले देवता नहीं हैं, कोई ज्योतिर्मय पदार्थ नहीं हैं, केवल पाषाणमय, आग्नेय गिरिपूर्ण, जड़पिंड हैं। कहीं अत्युन्नत पर्वत माला है, कहीं पर गंभीर गह्वर हैं। चंद्रमा उज्ज्वल है तो सूर्यलोक के कारण। हम पृथ्वी पर भी देखते हैं कि जो चीजें धूप से प्रदीप्त होती हैं, वे दूर से उज्ज्वल मालूम पड़ती हैं। चंद्रमा भी धूप के

प्रकाश से उज्ज्वल है। लेकिन जिस स्थान पर धूप नहीं लगती, उसे उज्ज्वलता प्राप्त नहीं होती। सभी जानते हैं कि चंद्रमा की कलाओं में ह्रास-वृद्धि इसी कारण होती है। उस तत्व को लिखकर समझाने का कोई प्रयोजन नहीं है। लेकिन यह तो सहज रूप से ही समझा जा सकता है कि जो स्थान उन्नत होता है, वहीं पर धूप लगती है—उसी स्थान को हम उज्ज्वल रूप में देखते हैं— जिन स्थानों पर गह्वर या पर्वत की छाया है, उन स्थानों में धूप प्रवेश नहीं कर पाती। उन स्थलों को हम कालिमापूर्ण पाते हैं। उन्हीं अनुज्ज्वल धूप-शून्य स्थानों को 'कलंक' या 'मृग' की संज्ञा मिलती रही है— पुराने जमाने के लोगों के मत में, यही स्थान, 'कदम्ब के नीचे बैठी हुई चरखा चलाती हुई बुढ़िया' की तरह हैं।

चंद्रमा के बहिर्भाग का सूक्ष्मानुसूक्ष्म अनुसंधान इस प्रकार हुआ है कि चंद्रमा का उत्कृष्ट मानचित्र प्रस्तुत हो सका है, उसकी पर्वतावली और समस्त प्रदेश के बारे में जानकारी मिली है, और उसकी पर्वतमाला की ऊंचाई मापी जा सकी है। वेयर और माल्लर नाम के दो खगोलशास्त्रियों ने सन् 1095 के लगभग चंद्र पर्वतों की ऊंचाई परिमित की है। इनमें से जिस पर्वत का नामकरण 'न्यूटन' हुआ है, उसकी ऊंचाई 22,823 फुट है। ऐसे ऊंचे पर्वत शिखर, पृथ्वी में आंदिस और हिमालय श्रेणी को छोड़कर और कहीं नहीं है। चंद्रमा, पृथ्वी के पांच सौवें भागों का एक भाग मात्र है और गुरुत्व में उसके इक्यासीवें भाग का एक भाग मात्र, अतएव पृथ्वी की तुलना में, चंद्र पर्वत समस्त अत्यंत ऊंचे है। चंद्रमा के हिसाब से, न्यूटन कितना ऊंचा है, इसका अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि चिंबारोजा नामक वृहत् पार्थिव शिखर पृथ्वी की तुलना में तभी इतना ऊंचा होता, जब वह अपनी ऊंचाई से पांच सौ गुना और ज्यादा होता।

चंद्रमा के समस्त पर्वत काफी ऊंचे हैं, ऐसी बात नहीं है, चंद्रलोक में आग्नेय पर्वतों (ज्वालामुखियों) की संख्या भी बहुत अधिक है। अगणित आग्नेय पर्वत श्रेणियां वहां धधकती रहती हैं— जैसे कोई तत्व द्रवीभूत पदार्थ किसी काल में ज्वाला से सुलग कर फिर जम गया हो। यह चंद्रमंडल न जाने कितने गह्वरों से भी भरा पड़ा है— केवल पाषाण, विदीर्ण, भग्न, छिन्न-भिन्न, दग्ध, पाषाणमय है चंद्रमा। हाय! इस प्रकार के चांद के साथ सुंदरियों के मुख की तुलना की क्या प्रथा चल पड़ी थी।

यही है बंजर चंद्रलोक! क्या अब भी संदेह है कि यहां कोई जीव बसते हैं। जहां तक हमें मालूम है, जल और वायु के बिना जीवों का वास

नहीं हो सकता, जहां जल और वायु नहीं है, वहां हमारे ज्ञान के मुताबिक, जीव रह ही नहीं सकते। अगर चंद्रलोक में जल और वायु हों, तो वहां जीव रह सकते हैं, अगर जल और वायु नहीं हैं, तो वहां जीव भी नहीं हैं, यह एक प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है। देखें, इस विषय में क्या प्रमाण हैं।

मान लें कि चंद्रमा पृथ्वी की तरह वायवीय मंडल में स्थित है। मान लें, कोई नक्षत्र, चंद्रमा के पीछे से गुजरेगा। इसे ज्योतिष में समावरण (Occultation) कह सकते हैं। नक्षत्र, चंद्रमा में समावृत्त होने के पहले, वायु स्तर के पीछे उभरेगा, इसके बाद चंद्रमा के शरीर के पीछे छिपेगा। जब नक्षत्र वायवीय स्तर की पृष्ठभूमि में रहेगा, तो वह पहले की तरह उज्ज्वल नहीं मालूम पड़ेगा, क्योंकि वायु, आलोक का किसी न किसी मात्रा में प्रतिरोध करता रहता है। निकट की वस्तु को हम जितना स्पष्ट देख पाते हैं, दूर की वस्तु हमें उतनी स्पष्ट नहीं दिखती— इसका कारण है बीच का वायु स्तर। अतएव समावरणीय नक्षत्र क्रमानुसार धीमा और तेज होकर, चंद्रमा के पीछे अदृश्य होगा। लेकिन ऐसा होता नहीं है। समावरणीय नक्षत्र एकदम से चंद्रमा के पीछे डूब जाता है— डूबने से पहले उसकी उज्ज्वलता में कोई कमी नहीं आती। अगर चंद्रमा में वायु होती तो कभी ऐसा नहीं होता।

चंद्रमा में जल नहीं है, इसका भी प्रमाण है, लेकिन वह प्रमाण अत्यंत दुरूह है— साधारण पाठक को उसे थोड़े में समझाया नहीं जा सकता। ये समस्त प्रमाण वर्ण-रेखा परीक्षक (Spectroscope) यंत्र के द्वारा परीक्षित हैं; चंद्रलोक में जल भी नहीं है, वायु भी नहीं है। और जब जल और वायु नहीं हैं, तब पृथ्वीवासी जीवों जैसा कोई जीव भी वहां नहीं हैं।

एक और बात कहकर हम उपसंहार करेंगे। चांद्रिक उत्ताप भी परिमित हो चुका है। चंद्र एक पक्ष में अपने मेरुदंड पर संवर्तन करता है, अतएव हमारे एक पक्ष-काल में एक चांद्रिक दिवस होता है। अब इस बात का स्मरण करें कि पौष मास की तुलना में ज्येष्ठ मास में हम इतना तापाधिक्य झेलते हैं, इसका कारण है, पौष मास में दिन छोटे होते हैं, जबकि ज्येष्ठ मास में दिन तीन-चार घंटे बड़े होते हैं। अगर दिनमान तीन-चार घंटा बड़ा होने से इतनी अधिक गर्मी हो जाती है, तो फिर पाक्षिक चंद्र दिवस में न जाने चंद्रमा और कितना अधिक उत्तप्त हो जाता होगा। पृथ्वी में तो

जल, वायु, मेघ है— इसीलिए ताप का बहुत दूर तक शमन हो जाता है, लेकिन चंद्रमा में जल, वायु, मेघ आदि कुछ भी नहीं हैं। इसके अलावा चंद्र पाषाणमय भी है। सहज ही उत्तप्त हो जाता है। अतएव चंद्रलोक में ताप की संभावना और अधिक है। विख्यात दूरवीक्षण के निर्माता के पुत्र लॉर्ड रॉस ने चंद्रमा का ताप परिमित किया है। उनके अनुसंधान से यह प्रमाणित हुआ है कि चंद्रमा के कुछ अंश इतने उष्ण हैं कि उनकी तुलना में आग का संस्पर्श पाकर फूटने वाला पानी भी शीतल है। इस ताप में किसी जीव की रक्षा हो ही नहीं सकती— एक मुहूर्त के लिए भी वह बच नहीं सकता। क्या यही है शीतरश्मि, हिमकर, सुधांशु? हाय! हाय! अंध-पुत्र को पद्मलोचन कहकर कैसे बुलाया जा सकता है।[1]

अतएव सुख का यह चंद्रलोक किस प्रकार का है, इतना तो अब तक हम लोग समझ ही गये होंगे। चंद्रलोक पाषाणमय है— विदीर्ण, भग्न, छिन्न-भिन्न, बंजर, दग्ध, पाषाणमय! जल शून्य, सागर शून्य, नदी शून्य, तड़ाग शून्य, वायु शून्य, मेघ शून्य, वृष्टि शून्य— जनहीन, जीवहीन, तरुहीन, तृणहीन, शब्दहीन[2], उत्तप्त, ज्वलंत,—नरकुंड तुल्य है यह चंद्रलोक।

इसीलिए काव्य में विज्ञान अंटता नहीं है। काव्य गढ़ता है— विज्ञान तोड़ता है।

(1281 चैत्र । विज्ञानरहस्य ।)

---

1. अगर कोई यह कहे कि, चंद्र स्वयं उत्तप्त है, लेकिन उसका शीत आलोक तो हम स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं तो हमें यही कहना है कि यह बात सच नहीं है— हम लोग स्पर्श के द्वारा चंद्रलोक की शीतलता या उष्णता, कुछ भी अनुभव नहीं करते। अंधेरी रात की अपेक्षा ज्योत्स्ना भरी रात शीतल होती है, अगर किसी को यह लगता हो, तो यह मन की भ्रांति मात्र है। वरन् चंद्रलोक में कुछ संताप है, वह इतना अल्प है कि हम स्पर्श से उसका अनुभव कर ही नहीं सकते। लेकिन जांतेदेशी, मेलनी, पियाज्जी प्रभृति वैज्ञानिकों ने परीक्षा करके यह सिद्ध किया है।
2. क्योंकि, वायु नहीं है।

शकुंतला, मिरांडा एवं डेस्डिमोना

पहले, शकुंतला और मिरांडा

दोनों ऋषि कन्याएं हैं। प्रास्पेरो और विश्वामित्र— दोनों राजर्षि हैं। दोनों ऋषिकन्याएं हैं, इसीलिए दोनों को मानवेतर सहायता प्राप्त है। मिरांडा, एरियल-रक्षिता है, शकुंतला अप्सरा-रक्षिता।

दोनों को ऋषियों ने पाला है। दोनों वनलता हैं—दोनों का सौंदर्य उद्यान-लता से बढ़कर है। शकुंतला को देखकर, राजप्रासाद में निवास करने वाली स्त्रियों का म्लान रूपलावण्य दुष्यंत को स्मरण हो आता है;

शुद्धांत दुर्लभ मिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृता: खलु नेरूद्यानलता वनलतभि:।।

मिरांडा को देखकर फर्डिनांड को भी यही लगा था,

Full many a lady
I have eyed with best regard, and many a time
The harmony of their tongues hath into bondage
Brought my too diligent ear : for several virtues
Have I like several women;
....but you, o you,
So perfect and so peerless, are created
Of every creature's best!

दोनों ही अरण्य में पली-बढ़ी हैं, सरलता का जो भी मोहमंत्र है, दोनों उसमें सिद्ध हैं। लेकिन मनुष्यालय में निवास करने पर सुंदर, सरल, विशुद्ध रमणी प्रकृति, विकृति प्राप्त कर लेती है— कौन हमें चाहेगा, कौन हमें सुंदर कहेगा, कैसे हम किसी पुरुष का मन जीतेंगी— ये सभी कामनाएं, नाना प्रकार के विलास-विभ्रम में, मेघ में विलुप्त हो गये चंद्र के समान, उनके माधुर्य को कालिमाग्रस्त बना देती हैं। शकुंतला और मिरांडा में यह कालिमा नहीं है, क्योंकि वे किसी लोकालय में नहीं पली-बढ़ी। शकुंतला वल्कल पहन कर हाथ में एक क्षुद्र कलसी लिए, पेड़-पौधों को पानी देते

हुए, दिन व्यतीत करती है— सिंचित नव मल्लिका पर अटके जल-कणों के समान वह स्वयं भी शुभ्र, निष्कलंक, प्रफुल्ल, दिगंत सुगंध विकीर्णकारिणी है। नव मल्लिका के ऊपर उसका भगिनी सम स्नेह बरसता है, भ्रातृ स्नेह, सहकार पर, पुत्र स्नेह, मातृहीन हिरण शिशु के ऊपर, न्यौछावर होता है; पतिगृह जाने के समय, इनसे विदा लेते हुए शकुंतला अश्रुमुखी है, कातर और विवश। शकुंतला इन्हीं से संवाद करती है, किसी वृक्ष को उलाहना देती है, किसी को प्रेम करती है, किसी लता का परिणय रचाकर शकुंतला सुखी है। लेकिन शकुंतला, सरला होते हुए भी, अशिक्षित नहीं है। उसकी शिक्षा का चिह्न है, उसकी लज्जा। उसके चरित्र में लज्जा बड़ी प्रबला है, बातें करते हुए वह दुष्यंत के सम्मुख, बीच-बीच में, लज्जा से भर उठती है, मुख नीचे की ओर कर लेती है— लज्जा के कारण ही अपने हृदयगत प्रणय को, वह सखियों के सम्मुख सहज ही व्यक्त नहीं कर पाती। मिरांडा ऐसी नहीं है। मिरांडा इतनी सरल है कि लज्जा भी उसके पास नहीं फटकती। लज्जा होगी भी तो कहां से? उसने अपने जनक के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष को कभी देखा ही नहीं है। फर्डिनांड को पहली बार देखकर वह समझ नहीं पाती कि यह है कौन?

Lord how it looks about! Believe me, sir
It carries a brave form. But, tis is a spirit.

समाजप्रदत्त जो संस्कार होते हैं, वे सभी शकुंतला में हैं, मिरांडा में बिल्कुल नहीं है। पिता के सम्मुख फर्डिनांड के रूप की प्रशंसा करते हुए उसे तनिक भी संकोच नहीं होता— जैसे कोई चित्रादि की प्रशंसा करता है, यह प्रशंसा भी वैसी ही है;

I might call him
A thing divine, for nothing natural
I ever saw so noble.

इस प्रकार स्त्री चरित्र की जो स्वभाव-प्रदत्त पवित्रता होती है, जिसमें लज्जा के मध्य लज्जा निहित रहती है उसका अभाव मिरांडा में नहीं है, इसी कारण शकुंतला की सरलता की अपेक्षा मिरांडा की सरलता में नवीनता और माधुर्य अधिक है। पिता को, फर्डिनांड को पीड़ित करने को तत्पर देखकर मिरांडा कहती है;

O dear father,
Make not too rash a trial of him, for
He's gentle and not fearful.

और जब पिता के मुख से फर्डिनांड के रूप की निंदा सुनकर कहती है;

My affections
Are then most humble : I have no ambition
To see a goodlier man.

तब हम समझ जाते हैं कि मिरांडा संस्कार-विहीना है, किंतु मिरांडा परदु:ख कातरा है, मिरांडा स्नेहशालिनी है, मिरांडा में लज्जा नहीं है। लेकिन लज्जा का जो सारतत्व है— पवित्रता, वह उसमें है।

जब राजकुमार के साथ मिरांडा का साक्षात्कार हुआ, तब उसका हृदय प्रणय के संस्पर्श से शून्य था क्योंकि शैशव के उपरांत उसने पिता और कालिवन को छोड़कर अन्य किसी पुरुष को कभी देखा ही नहीं था। शकुंतला ने भी जब राजा को देखा था तब उसका हृदय भी इसी प्रकार शून्य था, ऋषिगणों के अतिरिक्त उसने किसी पुरुष को देखा नहीं था। दोनों ही तपोवन के मध्य— एक कण्व के तपोवन में— दूसरे प्रास्पेरो के तपोवन में— अपने अनुरूप नायक को देखने मात्र से प्रणयशालिनी हुई।

किंतु कवियों की चकित कर देनेवाली प्रतिभा और कौशल को देखिये, वे कोई आपस में परामर्श करके शंकुतला और मिरांडा के चरित्र के प्रणयन में प्रवृत्त नहीं हुए थे, फिर भी एक ही व्यक्ति द्वारा दो चित्र प्रणीत होने पर जैसे लगते, वैसे ही ये बन पड़े हैं। अगर एक ही व्यक्ति दोनों चरित्रों का प्रणयन करता तो शकुंतला के प्रणय लक्षणों में और मिरांडा के प्रणय लक्षणों में कवि क्या प्रभेद रखता? वह इसे समझता कि शकुंतला, समाजप्रदत्त संस्कारों से संपन्न है, लज्जावती है, अतएव उसका प्रणय मुख पर अव्यक्त रहेगा— केवल लक्षणों से ही व्यक्त होगा, लेकिन मिरांडा संस्कार शून्य है, उसे मालूम नहीं कि लौकिक लज्जा क्या होती है, अतएव अपेक्षाकृत उसके प्रणय लक्षण शब्दों में मुखर होंगे। पृथक-पृथक कवियों द्वारा प्रणीत इन दोनों चित्रों में, ठीक वैसी ही घटना घटित हुई है। दुष्यंत को देखते ही शकुंतला प्रेम में आसक्त हो जाती है, लेकिन दुष्यंत का नाम लेने की बात तो दूर रही, शकुंतला की दोनों सखियां, उसे उदास देखकर, जब तक कई प्रकार की टीका-टिप्पणियों से उसके मन की बात निकलवा नहीं लेती, तब तक उनके सम्मुख भी शकुंतला अपने प्रेम के बारे में कुछ नहीं बताती— केवल लक्षणों में ही उसके भाव व्यक्त होते हैं—

स्निग्धं वीक्षितमन्येतोहिपि नयने यत प्रेरयन्त्या तया,
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया रतया मन्दं विलासादित।

मागा हत्युपरुद्धया यद्धपि सास्यमुक्ता सखी,
सर्वत्त किल मत्परायनमहो! कामः स्वतां पश्यति।।

दुष्यंत को छोड़ने जाने पर उसके वल्कल पेड़ों से उलझ जाते हैं, पांव में कांटा बिंध जाता है। लेकिन मिरांडा के लिए इनका कोई प्रयोजन नहीं है— मिरांडा यह सब नहीं जानती, नायक को पहली बार देखने पर, असंकुचित चित्त से वह पिता के समक्ष, अपने प्रणय को व्यक्त कर देती है:

This
Is the third man that e'er I saw, the first
That e'er I sigh'd for

और पिता को फर्डिनांड के पीड़न के लिए उद्यत देखकर, फर्डिनांड को अपना प्रियजन मानकर, पिता की दया के उद्रेक का यत्न करती है।

दुष्यंत के साथ शंकुतला का प्रथम प्रणय संभाषण, एक प्रकार की लुकाछिपी का खेल है। "सखि, तुमने राजा को बांध क्यों रखा है?"— "मैं इस पेड़ की ओट हो जाती हूं"— शकुंतला के पास ये सारे 'बहाने' हैं, मिरांडा के पास ये नहीं हैं। ये सब लज्जांशीला कुलबालाओं को शोभा देते हैं, लेकिन मिरांडा लज्जाशीला कुलबाला नहीं है— मिरांडा वन की पाखी है— प्रभात में, अरुणोदय के साथ गा उठने पर उसे संकोच नहीं होता, वह वृक्ष का फूल है, संध्या की वातास पाकर, मुख खोलकर प्रस्फुटित हो उठने में उसे कोई लज्जा नहीं है। नायक के मिलते ही, मिरांडा को यह कहने में लज्जा-बोध नहीं होता—

By my modesty.
The jewel in my dower, I would not wish
Any companion in the world but you,
Nor can imagination form a shape,
Besides yourself, to like of.

पुनश्च :

Hence, bashful cunning!
And prompt me, plain and holy innocence!
I am your wife, if you will marry me;
If not, I'll die your maid: to be your fellow
You may deny me; But I'll be your servant,
Whether you will or no.

हमारी इच्छा थी कि मिरांडा और फर्डिनांड के प्रथम प्रणयालाप को पूरा ही उद्धत किया जाय, लेकिन उसका प्रयोजन नहीं दीख पड़ता। सभी के घर पर शेक्सपीयर की किताबें हैं, सभी मूल ग्रंथ खोलकर पढ़ सकते हैं। वे पायेंगे कि उद्यान के मध्य में रोमियो और जूलियट का जो प्रणय संभाषण जगत में विख्यात है, और कालेज के छात्रों को जो कंठस्थ है, उससे यह किसी कदर कम नहीं है। जैसे कि जूलियट ने कहा है, "मेरा समर्पण सागर की तरह असीम है, मेरा प्रेम सागर की तरह गहरा है", मिरांडा भी इस प्रसंग में, उसी महान भावना से परिपूर्ण है। इसी तरह की अवस्था में, लता मंडप के नीचे, दुष्यंत शकुंतला का जो आलाप है, जिस आलाप में शकुंतला चिरबद्ध हृदय कोर को खोलकर, सूर्य के समीप प्रस्फुटित होकर, हंस पड़ती है— उस आलाप में इतनी गरिमा नहीं है— मानव चरित्र की कूल प्रांत पर्यंत प्रघाती वीचिमाला उसके हृदय में लक्षित नहीं होती; न ही वह तरंगायित और चंचल है। जो कह आया हूं, बस वही तो है, केवल लुकाछिपी— कुछ-कुछ चातुरी है— यथा, "अद्धपधे सुमरिता एदह्य हखंडसिचो मिनालवलतस्म वन्दे पड़िनिवूत्तद्धि।" इत्यादि। कुछ अग्रगामिनीत्व है, यथा— दुष्यंत के मुख से, "ननु कमलस्य मधुकरः संतुष्यति गंधमात्रेण।" यह सुनकर शकुंतला को जिज्ञासा होती है, "असंतोषे उन किं करेदि?" इस सबके सिवाय और कोई बड़ी चीज नहीं है। यह कवि का दोष नहीं है, बल्कि उसका गुण है। दुष्यंत के चरित्र-गौरव के सामने बेचारी शकुंतला यहां ढकी रह गयी है। फर्डिनांड और रोमियो भी सामान्य व्यक्ति हैं, नायिका के प्रायः समवयस्क हैं, प्रायः उसी की तरह अकृत कीर्ति हैं—अप्रथितयशाः लेकिन ससागर पृथ्वीपति महेन्द्र के समान दुष्यंत के आगे शकुंतला है क्या? दुष्यंत रूपी महावृक्ष की वृहत् छाया ने यहां शकुंतला-कलिका को आच्छादित कर लिया है— वह अच्छी तरह मुख खोलकर प्रस्फुटित नहीं हो पा रही है। यह प्रणय संभाषण नहीं है, राज क्रीड़ा है, पृथ्वीपति कुंजवन में आकर प्रेम की साध से प्रेम करने का एक खेल खेल रहे हैं, मत्त मातंग की सीख पर, शकुंतला नामक कली को वृंत से उन्होंने तोड़ लिया है, वन क्रीड़ा की साध मिटा रहे हैं, नलिनी ऐसे में क्यों कर फूटेगी ?

जो इन बातों को ध्यान में नहीं रखेंगे, वे शंकुतला के चरित्र को नहीं समझ सकेंगे, जिस जल-स्पर्श से मिरांडा और जूलियट प्रस्फुटित होते हैं, उस जल-स्पर्श से शकुंतला प्रस्फुटित नहीं होती, प्राणयासक्त शकुंतला में

बालिका की चंचलता है, बालिका सुलभ भय है, बालिका की लज्जा है लेकिन रमणी का गांभीर्य कहां है, रमणी का स्नेह कहां है? कुछ लोग कहेंगे इसका कारण लोकाचार की भिन्नता है, देशभेद है। वस्तुत: ऐसा नहीं है। देशी कुलवधू होने से शकुंतला लज्जा से छुई-मुई हो गयी, और मिरांडा तथा जूलियट ने विलायती बेहया लड़कियों की तरह मन की ग्रंथियां खोल दीं, बात ऐसी नहीं है। क्षुद्र आशय वाले समालोचक समझते नहीं हैं कि देशभेद और कालभेद होने से केवल बाहरी भेद होता है, सभी देशों में, सब समय, मनुष्य हृदय, मनुष्य हृदय ही होता है। कह तो यह भी सकते हैं कि तीन जनों के बीच शकुंतला ही बेहया लगती है— "असंतोषं उन किं करेदि?" इसका प्रमाण है। जो शकुंतला इसके कुछ ही महीने बाद, राजसभा में दुष्यंत का तिरस्कार करते हुए कहती है, "अनार्य! अपने हृदय के अनुरूप ही सभी को देखते हो?" वह शकुंतला लतामंडप की बालिका ही रही, इसका कारण, कुलकन्या सुलभ लज्जा नहीं है। इसका कारण है— दुष्यंत के चरित्र का विस्तार। जब शंकुतला राजसभा में परित्यक्ता है, तब शकुंतला पत्नी है, राजमहिषी है, मातृ पद को प्राप्त होने वाली है, इसीलिए तब शकुंतला रमणी है। यहां वह तपोवन की तपस्वी कन्या है, राजप्रासाद की अनुचित अभिलाषिनी है—यहां शकुंतला कौन है? हाथ से तोड़ा हुआ कमल मात्र। शकुंतला का कवि टेम्पेस्ट के कवि से कम प्रातिभ नहीं है, यही दिखाने के लिए इस प्रसंग को सायास ले आया हूं।

फिर, शकुंतला एवं डेस्डिमोना

शकुंतला के साथ मिरांडा की तुलना की गयी— लेकिन यह भी दर्शाया गया है कि शकुंतला ठीक मिरांडा जैसी नहीं है। लेकिन मिरांडा के साथ तुलना करने पर शकुंतला के चरित्र का एक ही पक्ष समझा जा सकता है। शकुंतला के चरित्र का एक और पक्ष समझना अभी बाकी है। डेस्डिमोना के साथ उसकी तुलना करके उस पक्ष को झलकाने की इच्छा है।

शकुंतला और मिरांडा, दोनों परस्पर तुलनीय और अतुलनीय हैं। तुलनीय— क्योंकि दोनों ने ही गुरुजनों की अनुमति की अपेक्षा न करके, आत्मसमर्पण किया था। गौतमी ने शकुंतला के संबंध में दुष्यंत से जो कहा था, आथेलो को लक्ष्य करके डेस्डिमोना के संबंध में भी वही कहा जा सकता है।

नावेक्क्षिदो गुरुअनो ईमित्र न तुएभि पुच्छदो बंधु
एक्ककस्मय चरित्र भनादु किं एक्कएक्कस्मिनं।

तुलनीय— क्योंकि दोनों ने ही वीर पुरुष को देखकर आत्मसमर्पण किया था—दोनों ही 'दुरारोहिणी आशालता' हैं और महावृक्ष के अवलंबन से ऊपर को चढ़ी थीं। लेकिन वीरमंत्र का जो मोह है, वह डेस्डिमोना में जितना प्रस्फुटित है, उतना शकुंतला में नहीं। ऑथेलो कृषकाय है, इसलिए इटालवी बाला के समक्ष वह सुपुरुष के रूप में विचारणीय नहीं है, लेकिन नारी-ह्रदय में रूप के मोह से अधिक वीरता के मोह का स्थान है। जिन महाकवि ने पांच पतियों वाली द्रौपदी को अर्जुन के प्रति अधिक अनुरक्त किया था, और उसके सशरीर स्वर्गारोहण का पथ अवरुद्ध किया था, वह इस तत्व को जानते थे और जिन्होंने डेस्डिमोना की सृष्टि की है, उन्होंने इसके गूढ़ तत्व को प्रकाशित किया है।

तुलनीय— क्योंकि ''दूरारोहिणी आशालता'' रूपी दोनों नायिकाएं अंत में भग्न हुई थीं— दोनों ही अपने स्वामी द्वारा विसर्जिता हुई थीं। संसार अनादर और अत्याचार से परिपूर्ण है। लेकिन अनेकों बार यही घटित होता है कि संसार में जो आदर के योग्य है वही विशेष रूप से अनादर और अत्याचार से पीड़ित होता है। यह मनुष्य के लिए नितांत अशुभ नहीं है, क्योंकि मनुष्य प्रकृति में जो सकल उच्चाशय मनोवृत्ति है, वही सभी अवस्थाओं में सम्यक रूप से स्फूर्तिवान रहती है। यही मनुष्य लोक में सुशिक्षा का बीज रूप है—काव्य का प्रधान उपकरण है। डेस्डिमोना के अदृष्ट दोष या गुण से यही समूची मनोवृत्ति उसे स्फूर्ति प्रदान करती रही है, शकुंतला को भी यही स्फूर्ति देती रही है। इसलिए, इसके सभी कारण मौजूद हैं कि इन दोनों चरित्रों की तुलना की जा सके। और, दोनों ही तुलनीय हैं क्योंकि दोनों ही परम स्नेहशालिनी हैं— सती हैं। स्नेहशालिनी और सती होने के चरम अर्थों में स्नेहशालिनी और सती। आजकल राम, श्याम, निधू, विधू, यदु, माधू जो सब नाटक उपन्यास नवन्यास प्रेत न्यास लिखते हैं, उनकी नायिका मात्र स्नेहशालिनी सती होती है। लेकिन इन सभी सतियों के पास एक पुष्ट विड़ाल के आते ही वे अपने स्वामियों को भूल जाती हैं, और पतिचिंतामग्ना शकुंतला दुर्वासा के भयंकर 'अयमहंतोः' को सुन भी नहीं पाती। सभी सती हैं, किंतु संसार में असती होती ही नहीं, स्त्री, असती होती ही नहीं— इस पर डेस्डिमोना को जो दृढ़ विश्वास है, उसके मर्म के भीतर कौन प्रवेश करेगा? अगर प्रहार, अत्याचार, विसर्जन,

कलंक के समक्ष भी स्वामी के प्रति अविचलित भक्ति ही सतीत्व का प्रमाण है तो शकुंतला की अपेक्षा डेस्डिमोना ही गरीयसी है। जिस तरह कुचले जाने पर सर्प अपना फन उठाकर प्रहार करता है, उसी भांति स्वामी द्वारा परित्यक्त होने पर शकुंतला ने अपना मस्तक उठाकर स्वामी की भर्त्सना की थी। जब राजा ने शकुंतला का यह कहकर उपहास किया था कि वह भोली होने के बावजूद चतुर है तो शकुंतला ने पूर्व के विनीत, लज्जित, दु:खी भाव का परित्याग करके कहा था, ''अनार्य! अपने जैसा ही सबको समझते हो?'' जब प्रत्युत्तर में राजा ने, राजा की भांति कहा था, ''भद्रे! दुष्यंत के चरित्र को सभी जानते हैं'', तब शकुंतला ने घोर व्यंग्य से कहा था—

तुहो ज्जेव प्रमाणं जाणध धम्मत्थिदिण्च लोअस्म
लज्जाविणिज्जिदाओ जाणन्ति ण किम्पि महिलाओ

यह क्रोध और अभिमान, यह व्यंग्य-भाव, डेस्डिमोना में नहीं है। जब ऑथेलो ने सब के सामने डेस्डिमोना को प्रताड़ित करते हुए उसे दूर हो जाने का निर्देश दिया तब डेस्डिमोना ने केवल इतना कहा था— ''मैं यहां खड़ी रहकर आपको और विरक्त नहीं करूंगी।'' यह कहकर जा ही रही थी कि फिर पुकारे जाने पर 'प्रभु' कहकर निकट आई। और जब ऑथेलो ने कुलटा कहकर उसका अपमान किया था तब भी डेस्डिमोना ने केवल यही कहा था ''मैं निरपराधिनी हूं, ईश्वर जानता है।'' इसके बाद भी, पति के प्रेम से वंचित होने पर भी, और पृथ्वी को शून्य जानकर भी, वह दियागो को बुलाकर कहती है:

O good Iago.
What shall do to win my lord again?
Good friend go to him; for, by this light of heaven,
I know not how I lost him. Here I kneel:

इत्यादि। जब ऑथेलो भीषण राक्षस की भांति निशीथ शैय्या शायिनी सुप्ता सुंदरी के सम्मुख 'वध करूंगा' कहकर खड़ा होता है, तब भी गुस्सा नहीं, अभिमान नहीं— अविनय या अस्नेह नहीं— डेस्डिमोना ने केवल इतना ही कहा, ''तब ईश्वर मेरी रक्षा करें।'' जब डेस्डिमोना मरण भय से भीत होकर, एक दिन के लिए, एक रात के लिए, एक मुहूर्त के लिए जीवन-भिक्षा चाहती है, मूढ़ उसे भी नहीं सुनता, यहां भी गुस्सा नहीं, अभिमान नहीं, अविनय नहीं, अस्नेह नहीं। मृत्यु के समय भी जब इमीलिया उसे मरते हुए देखकर पूछती है, ''यह काम किसने किया है?'' तब भी

डेस्डिमोना कहती है, "किसी ने नहीं, स्वयं मैंने। जा रही हूं। मेरे प्रभु से मेरा प्रणाम कहना। मैं जा रही हूं। उस समय भी डेस्डिमोना ने यह बात नहीं बतायी कि मेरे स्वामी ने, बिना मेरे किसी अपराध के मेरा वध किया है।

इसीलिए मैं कह रहा था कि शकुंतला, डेस्डिमोना के संग तुलनीय है भी और नहीं भी। तुलनीय नहीं है— क्योंकि अलग-अलग देशों के तत्वों के बीच तुलना होती नहीं है। शेक्सपीयर का यह नाटक सागरवत है, कालिदास का नाटक नंदन कानन की तरह है। कानन से सागर की तुलना नहीं की जा सकती। जो भी सुंदर है, सुदृश्य है, सुगंधित है, मनोहर है, सुखकर है, वही इस नंदन कानन के लिए अपर्याप्त है, स्तूपीकृत है, राशि राशि है, अपरिमेय है। और जो भी गंभीर, दुस्तर, चंचल, भीमनादी है, वह इस सागर का है। सागरवत शेक्सपीयर का यह नाटक हृदय की उत्ताल तरंगों से विक्षुब्ध है, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि की भावनाओं से बहुत दूर तक आलोड़ित है, इसका वेग प्रबल है, कोलाहल से भरा हुआ है, इसमें उतरती-चढ़ती उर्मियों की लीला है—और इसकी मधुर नीलिमा, इसकी अनंत प्रवीणता, इसकी चतुर्दिक दृष्टि, इसकी ज्योति, इसकी छाया, इसकी रत्नाभा, इसकी मृद गीतिमयता— साहित्य-जगत में दुर्लभ है।

इसीलिए कहता हूं डेस्डिमोना की तुलना शकुंतला के साथ नहीं हो सकती। भिन्न देश, भिन्न देश के साथ तुलनीय नहीं है। भिन्न देशीय की बात क्यों कर रहा हूं, इसका कारण है।

भारतवर्ष में जिसे नाटक कहते हैं, यूरोप में ठीक उसी को नाटक नहीं कहते। दोनों ही देशों के नाटक दृश्य-काव्य हैं अवश्य, लेकिन यूरोप के समालोचक नाटक का अर्थ कुछ और भी लगाते हैं। उनका कहना है, कई ऐसे काव्य हैं, जो दृश्यकाव्य के आकार में प्रणीत हैं, इसलिए वे प्रकृत नाटक नहीं हैं। नाटक नहीं हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सभी निकृष्ट काव्य हैं, ऐसा नहीं है— इनमें से कई अत्युतकृष्ट काव्य हैं, यथा गेटे प्रणीत फाउस्ट एवं बायरन प्रणीत मैनफ्रेड— लेकिन उत्कृष्ट हों या निकृष्ट— ये सभी काव्य, नाटक नहीं हैं। शेक्सपीयर का टेम्पेस्ट और कालिदास का शकुंतला उसी श्रेणी के काव्य हैं, नाटक के आकार में अत्युत्कृष्ट उपाख्यान काव्य, किंतु नाटक नहीं है। नाटक नहीं है, इसे इनकी निंदा न समझा जाये, क्योंकि इस प्रकार के उपाख्यान काव्य पृथ्वी में अत्यंत विरल हैं— अतुल्य भी कह सकते हैं। हम भारतवर्ष में इन दोनों को नाटकों की संज्ञा

दे सकते हैं, क्योंकि भारतीय अलंकारशास्त्रियों के मत में नाटक के जो भी लक्षण हैं, वे सभी लक्षण इन दोनों काव्यों में हैं। लेकिन यूरोपीय समालोचकों के मत में नाटक के जो लक्षण होते हैं, वे सभी लक्षण, इन दोनों नाटकों में नहीं हैं। वे लक्षण ऑथेलो नाटक में प्रचुर मात्रा में हैं। ऑथेलो नाटक है— शकुंतला इस लिहाज से उपाख्यान काव्य है। परिणाम यह है कि डेस्डिमोना का चरित्र जितना प्रस्फुटित हुआ है— मिरांडा या शकुंतला का उतना नहीं। डेस्डिमोना सजीव है, शकुंतला और मिरांडा ध्यान-प्राप्य। डेस्डिमोना के शब्दों में हम उसका कातर, दुखी स्वर सुन पाते हैं, यह देख पाते हैं कि उसके नेत्रों से बहते हुए अश्रु उसके वक्ष को भिगो रहे हैं— उस जैसी सुंदरी के स्पंदनों में लोचनों की ऊर्ध्व दृष्टि हमारे हृदय के भीतर प्रवेश कर जाती है। शकुंतला के चक्षुओं आदि के आलोड़न का हाल हम बिना दुष्यंत के मुंह से सुने हुए समझ नहीं सकते— यथा

> न तिर्य्यगवलोकितं, भवति चक्षुलोहितं
> वचोहतिपरुषाक्षरं न च पदेषु संगक्षते
> डिमार्त्त ईव वेपते सकल एव बिम्बाधर
> प्रकामविनते भ्रुवौ युगपदेव भेदं गने

शकुंतला के दु:ख का विस्तार नहीं देख पाते, उसकी गति नहीं देख पाते, वेग नहीं देख पाते; ये सभी डेस्डिमोना में अत्यंत प्रस्फुटित हैं। शंकुतला चित्रकार का चित्र है, डेस्डिमोना मूर्तिशिल्पी द्वारा निर्मित सजीव गठन है। डेस्डिमोना का हृदय हमारे सम्मुख पूरी तरह उन्मुक्त है और संपूर्ण रूप से विस्तारित; शकुंतला का हृदय केवल संकेतों में व्यक्त है।

इसलिए, डेस्डिमोना का आलेख अधिक प्रोज्ज्वल होने के कारण, डेस्डिमोना के निकट शकुंतला खड़ी नहीं हो पाती, जबकि दोनों भीतर से एक हैं। शकुंतला आधी मिरांडा है, आधी डेस्डिमोना। परिणीता शकुंतला डेस्डिमोना की अनुरूपिणी है, अपरिणीता शकुंतला मिरांडा की अनुरूपिणी है।

(1282 वैशाख। 'विविध प्रबंध')

द्रौपदी

क्या प्राचीन, क्या आधुनिक, समस्त हिंदू काव्यों की नायिकाओं को हम एक ही सांचे में ढाल कर देखते हैं। पति परायणा, कोमल प्रकृति संपन्ना, लज्जाशीला, सहिष्णुता—गुणों की अधिकारिणी— यही हैं आर्य साहित्य की आदर्श-स्थान रखने वाली। इसी गढ़न में वृद्ध वाल्मीकि ने विश्व मनमोहिनी जनक दुहिता को गढ़ा था। तब से उसी गढ़न में आर्य नायिका की रचना की जाती रही है। शकुंतला, दमयंती, रत्नावली आदि प्रसिद्ध नायिकाएं— सीता का अनुकरण मात्र हैं। और किसी दूसरी प्रकार की नायिका आर्य साहित्य में दिखाई ही नहीं पड़ती— ऐसा हम नहीं कर रहे हैं— लेकिन सीता की अनुवर्तिनी नायिकाओं का ही बाहुल्य है। आज भी जिन्हें छपाई की सुविधा मिल जाती है, वे नावेल नाटकों में सीता ही गढ़ने बैठ जाते हैं।

इसका कारण ढूंढ़ लेना कठिन नहीं है। पहली बात तो यही कि सीता का चरित्र बड़ा मधुर है, दूसरे, इसी प्रकार का स्त्री-चरित्र आर्य जाति के निकट विशेष रूप से प्रशंसित है, तीसरे, आर्य स्त्रीगणों का यह उत्कर्ष अपने में सब कुछ समेट लेता है।

केवल द्रौपदी ने ही सीता की छाया तक का स्पर्श नहीं किया। यहां, महाभारतकार ने एक अपूर्व नूतन सृष्टि की है। सीता के हजारों अनुकरण हुए हैं, लेकिन द्रौपदी का अनुकरण नहीं हुआ।

सीता सती है, पांच पतियों वाली द्रौपदी को भी महाभारतकार ने सती के ही रूप में प्रस्तुत किया है, क्योंकि कवि का अभिप्राय यही है कि पति एक हो या पांच, पति मात्र को भजना ही सतीत्व है। दोनों ही पत्नी और रानी के कर्तव्यानुष्ठान के प्रति सजग हैं, धर्मनिष्ठ हैं और गुरुजनों की आज्ञा पर चलने वाली हैं। लेकिन यह सादृश्य यहीं तक है। सीता रानी होकर भी प्रधानत: कुल वधू हैं, द्रौपदी कुल वधू होने पर भी प्रधानत:

प्रचंड तेजस्विनी रानी हैं। सीता में स्त्री जाति के सभी कोमल गुण विद्यमान हैं और मुखरित हैं, द्रौपदी में स्त्री जाति के समस्त कठिन-कठोर गुण प्रदीप्त हैं। सीता राम के सुयोग्य हैं, द्रौपदी भीमसेन के ही सुयोग्य वीरेन्द्राणी हैं। सीता को हरण करने में रावण को कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ा, लेकिन राक्षस राज लंकेश यदि द्रौपदी का हरण करने के लिए आते, तब होता शायद यही कि कीचक की तरह प्राणों से हाथ धो बैठते या जयद्रथ की तरह द्रौपदी के बाहुबल से भूमि का स्पर्श करते।

द्रौपदी के चरित्र का रीतिमत विश्लेषण दुरूह है; क्योंकि महाभारत अनंत सागर के समान है, उसकी अनेक तरंगों के घात-प्रतिघात में एक नायिका या नायक का चरित्र तृणवत कहां पहुंचेगा, इसका पर्यवेक्षण भला कौन कर सकता है। फिर भी दो-एक प्रसंगों में विश्लेषण का यत्न करता हूं।

द्रौपदी का स्वयंवर। द्रुपद राज का यही प्रण है कि जो दुर्वेध लक्ष्य को बींध देगा, वही द्रौपदी का पाणिग्रहण कर सकेगा। कन्या राज दरबार में लायी जाती है। पृथ्वी के राजागण, वीरगण, ऋषिगण यहां समवेत हैं। इस महासभा के प्रचंड प्रताप से कुमारी कुसुम सूख उठता है; इस विशेष मान्य कुमारी को पाने के लिए दुर्योधन, जरासंध, शिशुपाल प्रभृति भुवन विख्यात समस्त महावीर लक्ष्यवेध का यत्न करते हैं। एक-एक कर सभी लक्ष्य-वेध मे असफल होकर अपने-अपने स्थान पर लौट आते हैं। हाय! द्रौपदी का विवाह नहीं हो रहा।

अन्यान्य राजागणों के मध्य सर्वश्रेष्ठ अंगाधिपति कर्ण लक्ष्य-वेध के लिए उठे। क्षुद्र काव्यकार इस स्थान पर पता नहीं क्या करते, क्योंकि यह संकट का विषय है। काव्य का प्रयोजन यह है कि पांडवों के साथ द्रौपदी का विवाह रचाना ही पड़ेगा। कर्ण के लक्ष्य-वेध से यह संभव नहीं होगा। हो सकता था क्षुद्र कवि, कर्ण को भी लक्ष्य-वेध में अशक्त बता देते। किंतु महाभारत के महाकवि कितने उज्ज्वल रूप से यह देख पा रहे हैं कि कर्ण का शौर्य, उनके प्रधान नायक अर्जुन के शौर्य का मानदण्ड है। कर्ण प्रतिद्वंद्वी हैं, और अर्जुन के हाथों उनके पराभव के कारण ही अर्जुन का गौरव इतना अधिक है; औरों के साथ कर्ण को भी कमजोर बताने से, अर्जुन का गौरव कैसे रहेगा? किसी क्षुद्र कवि को इस प्रकार के संकट की बाबत बताने पर वे यही कहेंगे, तो इसमें इतना हंगामा खड़ा करने की क्या बात है, कर्ण को अपनी जगह से उठने ही न दें। यही ठीक रहेगा। लेकिन इससे

काव्य की सर्वांग संपन्नता को जो क्षति पहुंचती है, इसे वे समझेंगे ही नहीं— जहां समस्त राजा सर्वागसुंदरी को पाने के लोभ में उठ रहे हों, वहां महापराक्रमी कर्ण ही आखिर क्यों नहीं उठेंगे, इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है।

महाकवि आश्चर्यजनक रूप से कौशलमय हैं और श्रीकृष्ण दृष्टिशाली। उन्होंने अवलीलाक्रम में कर्ण को लक्ष्य-वेध के लिए खड़ा किया, कर्ण के शौर्य के गौरव को अक्षुण्ण रखा, और इसी अवसर पर, इसी उपलक्ष्य से, एक ही उपाय से, और एक गुरुतर उद्देश्य को सिद्ध कर लिया। द्रौपदी के चरित्र को पाठकों के निकट प्रकट किया। जिस दिन द्रौपदी के हाथों जयद्रथ भूतलशायी होगा, जिस दिन दुर्योधन की राजसभा में द्यूतजिता, अपमानिता महिषी स्वामी के होने पर भी अपने स्वतंत्र अस्तित्व को मुखरित करेगी, उस दिन द्रौपदी का जो चरित्र प्रकाश में आयेगा, उस चरित्र से अभी से परिचित करा दिया। एक छोटी सी बात से यह सकल उद्देश्य सफल कर लिया। मैं कह आया हूं, उस प्रचंड प्रताप समन्वित सभा में कोई भी कुमारी कली मुरझा जायेगी। लेकिन द्रौपदी कुमारी, उसी विशेष राजसभा में, राजमंडली, वीरमंडली, ऋषि मंडली के मध्य में, द्रुपद राज जैसे पिता और धृष्टद्युम्न जैसे भ्राता की परवाह किये बिना, कर्ण को लक्ष्य वेध के लिए उद्यत देखकर बोली, ''मैं सूत-पुत्र का वरण नहीं करूंगी।''

इस बात के श्रवण मात्र से कर्ण एक मुरझायी हंसी हंसकर इस प्रतियोगिता से बाहर हो गये।

इस प्रसंग से, चरित्र जितना अधिक प्रस्फुटित हुआ, उतना सौ पृष्ठ लिखकर भी न होता। इस स्थल पर किसी विस्तृत वर्णन की जरूरत नहीं पड़ी— द्रौपदी को तेजस्विनी या गर्विता कहकर प्रचारित करने की आवश्यकता भी नहीं हुई। फलत: राजदुहिता का दुर्दमनीय गर्व नि:संकोच विस्फोटित हुआ।

इसके बाद द्यूतक्रीड़ा में हारी हुई द्रौपदी के चरित्र का अवलोकन कीजिये। महागर्वीले, तेजस्वी एवं बलशाली भीम-अर्जुन द्यूत क्रीड़ा में विसर्जित हो जाने के बाद कुछ भी नहीं कहते, चुपचाप शत्रु का दासत्व स्वीकार कर लेते हैं। इस अवसर पर उनकी अनुगामिनी दासी का क्या कर्त्तव्य बनता है? स्वामी के द्वारा जुए में हार जाने के बाद स्वामीगणों की तरह दासीत्व स्वीकार कर लेना ही तो आर्यनारी के स्वभाव के अनुरूप है। द्रौपदी ने क्या किया? वह द्यूतवार्ता सुनकर और यह जानने पर कि दुर्योधन की सभा

में उन्हें बुलाया गया है, बोली, 'हे सूतनंदन! आप सभा में जाकर युधिष्ठिर से पूछिये कि उन्होंने पहले मुझे, या पहले स्वयं को जुए में दांव पर लगाया था। हे सूतात्मज! युधिष्ठिर से यह जान लेने पर तुम मुझे ले जाना। धर्मराज किस क्रम में पराजित हुए हैं, यह जानकर ही मैं वहां चलूंगी।'' द्रौपदी का अभिप्राय यही था कि वह दासत्व स्वीकार नहीं करेगी।

द्रौपदी के चरित्र में दो लक्षण विशेष रूप से स्पष्ट हैं, एक धर्माचरण, दूसरा दर्प। दर्प, धर्म का कुछ विरोधी है, लेकिन इन दोनों लक्षणों का एक जगह इकट्ठा हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। महाभारतकार ने इन दोनों लक्षणों को कई नायकों में एक साथ इकट्ठा किया है। भीमसेन, अर्जुन, अश्वत्थामा, और सभी क्षत्रिय चरित्रों में इन दोनों को उन्होंने मिश्रित किया है। भीमसेन का दर्प पूर्ण मात्रा में और अर्जुन और अश्वत्थामा का अर्द्धमात्रा में मिलता है। दर्प शब्द से मेरा अभिप्राय यहां आत्मश्लाघा से नहीं है, मानसिक तेजस्विता से ही है। यह तेजस्विता द्रौपदी में भी पूर्ण मात्रा में थी। अर्जुन एवं अभिमन्यु में यह आत्मशक्ति की निश्चयात्मकता के रूप में परिणत हुई थी। भीमसेन में यह बलवृद्धि का कारण बनी थी, द्रौपदी में यह धर्मवृद्धि का कारण बनी थी।

राजसभा में द्रौपदी के दर्प और तेजस्विता का हमें और अधिक परिचय मिला। उन्होंने दु:शासन से कहा, ''अगर इन्द्रादि देवगण भी तुम्हारी सहायता के लिए आ जायें तो भी पांडव तुम्हें कभी क्षमा नहीं करेंगे। स्वामीजनों को लक्ष्य करके उन्होंने भरी सभा में कहा था, ''भारतवंशीय जनों को धिक्कार है। क्षात्रधर्म वालों का चरित्र बिलकुल नष्ट हो गया है।'' भीष्मादि गुरुजनों के मुंह पर ही उनका तिरस्कार करते हुए कहा था, ''समझी—द्रोण, भीष्म और महात्मा विदुर का कोई स्वत्व नहीं रहा।'' लेकिन अबला का तेज भला कितनी देर तक रह सकता है। महाभारत के कवि मनुष्य-चरित्र के सागर-तल की भी एक-एक चीज देख सकने की क्षमता रखते थे। जब कर्ण ने द्रौपदी को वेश्या कहा, दु:शासन उनका चीरहरण करने को उद्यत हुआ, तब दर्प बाकी नहीं रहा। तब द्रौपदी पुकारने लगी 'हे नाथ! हे रमानाथ! हे बज्रनाथ! हे दु:खनाशक! मैं कौरव सागर में डूब रही हूं—मेरा उद्धार करो। —यहां पर कवित्व का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है।

स्त्री जाति की होने के कारण द्रौपदी के हृदय में दर्प प्रबल है, लेकिन उनका धर्म-ज्ञान भी असामान्य है। जब वे दर्पिता राजमहिषी के रूप में नहीं होतीं, तब ऐसा मालूम पड़ता है जैसे दुनिया में उनकी तरह की धर्मानुरागिनी कोई और नहीं है।

यह प्रबल धर्मानुराग ही, प्रबलतर दर्प के मानदंड स्वरूप है। यह असामान्य धर्मानुराग और तेजस्विता के साथ इस धर्मानुराग का रमणीय सामंजस्य, धृतराष्ट्र से वर-प्राप्ति के समय अत्यंत सुंदर रूप में सामने आता है। यह प्रसंग इतना सुंदर है कि जिन्होंने इसका पाठ सौ बार किया है, वे इसका एक बार और पाठ करने पर असुखी नहीं होंगे। इसीलिए इस प्रसंग को हम यहां उद्धृत कर रहे हैं :

''हितैषी राजा धृतराष्ट्र दुर्योधन का इस रूप में तिरस्कार करते हुए बोले, 'हे द्रुपदतनये! तुम मुझसे इच्छानुसार वर मांग लो, तुम हमारे समुदाय की वधुओं में श्रेष्ठ हो।'

द्रौपदी ने कहा, 'हे भरतकुलप्रदीप! अगर आप प्रसन्न हों तो यही वर प्रदान करें कि सर्वधर्मयुक्त युधिष्ठिर दासत्व से मुक्त हों। आपके पुत्रगण इस मनस्वी को फिर दास न कहें और हमारे पुत्र दासपुत्र न कहलायें, क्योंकि राजपुत्र, विशेषत: भूपतिगणों के दुलारे— उनकी दास स्थिति नितांत अविधेय है।' धृतराष्ट्र बोले, 'हे कल्याणी! मैंने तुम्हारी अभिलाषा के अनुरूप यह वर प्रदान किया और इस क्षण तुम्हें एक और वर प्रदान करने की इच्छा है, तुम मात्र एक वर के उपयुक्त नहीं हो।'

द्रौपदी ने कहा, 'हे महाराज सरथ सशरासन भीम, धनंजय, नकुल और सहदेव भी दासत्व से मुक्त हों।' धृतराष्ट्र ने कहा, 'हे! नंदिनी! मैंने तुम्हारी प्रार्थना के अनुरूप वरदान दिया, अब तीसरा वर मांग लो। इन दो वरदानों से तुम्हारा पूरा सत्कार नहीं हुआ, तुम धर्मचारिणी हो, हमारे समुदाय की वधुओं में श्रेष्ठ हो।'

द्रौपदी ने कहा, 'हे भगवन! लोभ धर्म का नाश करता है, अतएव मैं और वर नहीं मागूंगी। मैं तृतीय वर पाने के उपयुक्त नहीं हूं, वैश्य को एक वर, क्षत्रिय को दो वर, राजा को तीन वर और ब्राह्मण को सौ वर पाने का अधिकार है। अब मेरे पतिगण दासत्व के दारुण पाप-पंक से मुक्त हो गये हैं, वह अपने पुण्य कर्मानुष्ठानों द्वारा अपने लिए शेष सब अर्जित कर लेंगे।'

धर्म और गर्व का इस प्रकार का सामंजस्य ही द्रौपदी-चरित्र की मोहकता का प्रधान उपकरण है। जब जयद्रथ उन्हें काम्यकवन में अकेला पाकर, उन्हें हरण करने की इच्छा से, उनके पास जाता है, तब पहले द्रौपदी उसे अतिथि को मिलने वाले धर्माचार संगत समुचित सौजन्य से परितृप्त करने का विलक्षण यत्न करती है, बाद में जयद्रथ अपनी दुरभिसंधि व्यक्त करता

है, तब बाघिन की तरह गर्जन कर वह अपने तेजस्वी रूप को प्रकट करती है। उनके उस गर्वतेज से भरे हुए वचनों के पाठ से मन आनंद सागर में हिलोरें मारने लगता है। जयद्रथ जब द्रौपदी के सौजन्यपूर्ण आतिथ्य से निरस्त नहीं होता और बलपूर्वक उसे अपने वश में करना चाहता है तब उसे इसका समुचित परिणाम भुगतना पड़ता है, जो भीम और अर्जुन की पत्नी और धृष्टद्युम्न की भगिनी है, उसके बाहुबल से डाली से अलग हुए फूल की तरह महावीर सिंधु सौवीराधिपति धरती पर गिरे।

बाद में, जब जयद्रथ ने पुन: बलप्रयोग से उन्हें रथ पर बैठा लिया, तब द्रौपदी ने जो आचरण किया वह नितांत तेजस्विनी वीर नारी का कार्य है। उन्होंने वृथा विलाप और चीत्कार— कुछ भी नहीं किया, अन्य स्त्रियों की तरह उन्होंने एक बार भी स्वामियों के विलंब की आलोचना-भत्सर्ना नहीं की, केवल कुल पुरोहित धौम्य के चरणों में सिर नवाकर जयद्रथ के रथ पर चढ़ीं, बाद में जब जयद्रथ दृश्यमान पांडवों के परिचय की जिज्ञासा करने लगा, तो जयद्रथ के रथ पर बैठी रहने के बावजूद गर्वित वचनों से और निडर चित्त से वे एक-एक कर अपने स्वामीगणों का परिचय देने लगीं। वह दृश्य बार-बार पाठ करने के योग्य है।

(1282 भाद्र। 'विविध प्रबंध')

साम्य/स्त्री जाति

प्रत्येक मनुष्य के अधिकार समान हैं— साम्य-नीति यही है। कृषक और भूस्वामी में जो वैषम्य है, वह साम्य-नीति विरोधी है। साम्य-नीति की विरोधी चीजों के रूप में इसका उल्लेख, प्रथम उदाहरण की तरह मैं पहले ही कर आया हूं। द्वितीय उदाहरण के रूप में, स्त्री-पुरुष का जो वैषम्य है, उसकी चर्चा करूंगा।

प्रत्येक मनुष्य के अधिकार समान हैं। स्त्रीगण भी मनुष्य जाति हैं, अतएव स्त्रीगणों को भी पुरुषों जैसे अधिकार मिलने चाहिए। जिन-जिन कार्यों पर पुरुषों का अधिकार है, उन्हीं सब कार्यों पर स्त्रियों का भी अधिकार होना, न्याय संगत है। और क्यों न हो यह अधिकार? उत्तर में कुछ लोग कह सकते हैं कि स्त्री-पुरुष में प्रकृतिगत वैषम्य है, पुरुष बलवान है, स्त्री अबला है, पुरुष साहसी है, स्त्री भीरु है, पुरुष कष्ट उठा सकता है, स्त्री कोमल है, इत्यादि इत्यादि। अगर प्रकृतिगत वैषम्य के कारण अधिकारों में भी वैषम्य होना उचित होता तो हम अंग्रेजों और बंगालियों के बीच अधिकार वैषम्य को देखकर इतना चीत्कार क्यों करते हैं। अगर स्त्री दासी है, पुरुष प्रभु, यही विचार संगत है तो बंगाली दास है, अंग्रेज प्रभु, यह भी विचार-संगत माना जायेगा।

द्वितीय उत्तर यह है कि जिन सब विषयों में स्त्री-पुरुषों के बीच अधिकार वैषम्य दिखाई पड़ता है, उन सभी विषयों में यथार्थतः स्त्री-पुरुष के बीच प्रकृतिगत वैषम्य नहीं है। दिखाई यही पड़ता है कि यह सब केवल समाज के नियमों के दोष है। इन सभी सामाजिक नियमों में संशोधन कराना ही साम्यनीति का उद्देश्य है। सुविख्यात जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस संबंध में जो सोच-विचार किया है, उससे इस विषय का प्रतिपादन बड़े सुंदर ढंग से हुआ है। उन सभी बातों को यहां दुहराने का कोई मतलब नहीं है।[1]

---

1. Subjection of women

स्त्रियां सभी देशों में पुरुषों की दासी हैं। जो देश, स्त्रियों को पिंजड़े में बंद करके नहीं भी रखते, वहां भी स्त्रियों को पुरुषों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। और सब प्रकार से उनकी आज्ञा का पालन करते हुए, मन मारकर रहना पड़ता है।

सभी देशों में और सभी कालों में इसी प्रथा के चिर प्रचलित रहने के बावजूद इस समय अमेरिका और इंग्लैंड में समाजशास्त्रियों का एक वर्ग इसका विरोधी है। वे साम्यवादी हैं। उनका मत यही है कि स्त्री और पुरुष में हर प्रकार की बराबरी का रहना ही उचित है। पुरुष नौकरी करेंगे, व्यवसाय करेंगे, स्त्रियां क्यों नहीं करेंगी? पुरुष राज-काज संभालेंगे, व्यवस्थापक का काम करेंगे, स्त्रियां क्यों नहीं करेंगी? नारी पुरुष की पत्नी है, दासी क्यों बनेगी?

हमारे देश में, स्त्रियां जिस मात्रा में पुरुषों के अधीन हैं, यूरोप और अमेरिका में उसका शतांश भी नहीं है। हमारा देश, अधीनता का देश है, हर प्रकार की अधीनता यहां अंकुरित होकर फलती-फूलती रहती है। यहां, प्रजा, जिस प्रकार राजा के नितांत अधीन है, अन्यत्र उतनी नहीं, यहां अशिक्षित, शिक्षितों के जिस प्रकार गुलाम हैं, अन्यत्र उस प्रकार नहीं, यहां शूद्रादि, जिस प्रकार ब्राह्मणों द्वारा पद-दलित हैं, अन्यत्र किन्हीं भी धर्मयोजकों द्वारा इस प्रकार नहीं। यहां दरिद्र, धनियों द्वारा जितना दबाये जाते हैं, अन्यत्र उतना नहीं। यहां स्त्री जिस प्रकार पुरुषों की आज्ञानुवर्तिनी है, अन्यत्र उतनी नहीं।

यहां रमणी, पिजड़े में कैद विहंगिनी है। जैसी बोली उसे सिखाई जायेगी, वैसी ही बोली वह बोलेगी। आहार देने से खायेगी, नहीं तो एकादशी करेगी। पति, अर्थात् पुरुष देवता-स्वरूप हैं, और देवता-स्वरूप ही क्यों, वह शास्त्रों में सभी देवताओं में प्रधान देवता स्वरूप स्तुत्य हैं। दासीभाव इतना अधिक है कि पत्नियों की आदर्श-स्वरूपा द्रौपदी ने सत्यभामा से अपनी प्रशंसा में कहा है कि स्वामियों के संतोषार्थ मैं उनकी अन्य पत्नियों की परिचर्या भी करती रहती हूं।

यह आर्य पतिव्रता धर्म अति सुंदर है, इसके कारण आर्यगृह स्वर्ग तुल्य सुखमय है। पातिव्रत का विरोधी कोई नहीं है, स्त्री जो पुरुषों की

---

1. पुरुष को शिक्षा अवश्य ग्रहण करनी होती है, लेकिन स्त्रियां अशिक्षिता रहती हैं।

दासी मात्र है, और दुनिया के अधिकतर कार्य-व्यापार में वह जिस प्रकार अधिकार शून्य है, साम्यवादी उसी के विरोधी हैं।

हमारे देश में स्त्री-पुरुषों के बीच जो भंयकर वैषम्य है, उसका भान अब हमारे देश के लोगों को कुछ-कुछ होने लगा है, और कुछ क्षेत्रों में वैषम्य का विनाश करने के लिए समाज में आंदोलन भी हो रहे हैं। वैसे कुछ क्षेत्र हैं—

1. पुरुष को शिक्षा अवश्य ग्रहण करनी होती है, लेकिन स्त्रियां अशिक्षिता रहती हैं।
2. स्त्री-वियोग होने पर, पुरुष दुबारा विवाह करने का अधिकारी है। लेकिन स्त्री अगर विधवा हो जाये तो वह पुन: विवाह करने की अधिकारिणी नहीं है। यही नहीं, वह हर प्रकार के सुख-भोग को तिलांजलि देकर, बराबर के लिए ब्रह्मचर्यानुष्ठान का पालन करने के लिए बाध्य है।
3. पुरुष अपनी इच्छानुसार जहां चाहे जा सकता है, लेकिन स्त्रियां घर की प्राचीरों का अतिक्रमण नहीं कर सकतीं।
4. स्त्रियां स्वामी की मृत्यु के बाद भी, किसी अन्य को स्वामी के रूप में ग्रहण करने की अधिकारिणी नहीं हैं, लेकिन पुरुष, स्त्री के रहते हुए भी, बहुविवाह कर सकता है।

प्रथम विषय पर लोगों का मत इधर कुछ परिवर्तित हुआ है। सभी यह स्वीकार करने लगे हैं कि कन्याओं को कुछ लिखाना-पढ़ाना अच्छा है। लेकिन अभी भी किसी को प्राय: यह ख्याल नहीं आता कि पुरुषों की तरह ही स्त्रियां भी नानाविध साहित्य, गणित, विज्ञान, दर्शन आदि क्यों नहीं सीख सकतीं। जो लोग पुत्र को एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण न करते देखकर, विषपान कर लेना चाहते हैं, वही कन्या के कथामाला (प्रारंभिक पुस्तक—अनु०) समाप्त कर लेने पर ही प्रसन्न हो जाते हैं। वह इस प्रश्न को अपने मन में कभी भी सही स्थान नहीं देते कि पुत्र की तरह कन्या को भी एम.ए. तक क्यों न पढ़ाया जाये। अगर कोई उनसे यह प्रश्न करे भी तो वह प्रश्नकर्ता की ओर अचरज से देखेंगे।

कुछ लोग यह प्रतिप्रश्न करेंगे कि लड़की इतना लिख-पढ़कर क्या करेगी? क्या नौकरी करेगी? अगर साम्यवादी इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में कहें, "नौकरी करेगी क्यों नहीं?" तो वह कहेंगे, "हे ईश्वर!" कोई बुद्धिमान व्यक्ति यह भी कह सकता है, "लड़के के लिए ही नौकरी नहीं जुटा पा रहा, तो फिर लड़की के लिए नौकरी कहां से मिलेगी?" जो यह समझते

हैं कि विद्योपार्जन केवल नौकरी के लिए नहीं किया जाता, वे कह सकते हैं, "पुत्र की तरह लड़की को लिखना-पढ़ना सिखाने की सुविधाएं ही कहां हैं? स्त्रियों के लिए विद्यालय ही कहां है?"

सच है, बंगदेश में, समूचे भारतवर्ष में भी कह सकते हैं, स्त्रियों को, पुरुषों की तरह लिखना-पढ़ना सिखाने की सुविधाएं नहीं हैं। हमारे समाज में स्त्रियों और पुरुषों के बीच की साम्यनीति अब तक ठीक तरह से जड़ें नहीं जमा पायी— इसका एक प्रमाण तो यही है कि लोग मौखिक रूप से ही स्त्री शिक्षा का समर्थन करते रहते हैं। समाज में किसी चीज का अभाव होने पर ही उसकी पूर्ति होती है— समाज जब किसी चीज की वास्तव में कमी महसूस करता है तभी वह चीज जन्म लेती है। बंगवासी अगर सचमुच स्त्री-शिक्षा की अभिलाषा रखते, तो इसके लिए कुछ उपाय भी करते।

इस उपाय के दो रूप हैं। प्रथम, स्त्रियों के लिए पृथक विद्यालयों की स्थापना हो, द्वितीय पुरुष विद्यालयों में स्त्रियों को शिक्षा मिले।

द्वितीय उपाय का नाम लेते ही बंगवासी जल उठेंगे। नि:संदेह, वे यही सोचेंगे कि अगर पुरुष विद्यालयों में कन्याएं पढ़ने के लिए प्रवृत्त हुई तो वे वारांगनाओं की तरह आचरण करेंगी। लड़कियों का तो अध:पतन होगा ही, लड़के भी स्वेच्छाचारी हो जायेंगे।

प्रथम आपत्ति का खुलासा करने के बाद, इन सभी आपत्तियों के लिए स्थान नहीं रह जाता, पर आपत्तियों का अभाव नहीं है। अगर लड़कियां, लड़कियों के कालेज में पढ़ने के लिए जाने लगेंगी तो बच्चों को कौन पालेगा? बालक को स्तनपान कौन करायेगा? घर का कामकाज कौन करेगा? बंगीय बालिका चौदह साल की उम्र में माता और गृहिणी बन जाती है। तेरह वर्ष की उम्र के बीच में ही लिखना-पढ़ना सीख सकती है, यही उनके भाग्य में है। या कि यह भी उसे सुलभ नहीं है, क्योंकि तेरह वर्ष की उम्र में तो वह किसी की बहू और कुलकन्या बन जाती है, घर के बाहर निकलकर, हाथों में किताबें लेकर, वह कालेज में पढ़ने जायेगी तो कैसे?

हम यहां इन सभी आपत्तियों की मीमांसा की ओर इस समय प्रवृत्त नहीं होना चाहेंगे। हम यही कहना चाहते हैं कि अगर आप साम्यवादी हैं तो जब तक आप सभी विषयों और क्षेत्रों में समानता नहीं लायेंगे, तब तक आंशिक साम्य का विधान भी नहीं कर पायेंगे। समाज में समाजनीति से परस्पर सभी बंधे होते हैं, अगर स्त्री-पुरुष सभी क्षेत्रों में समान अधिकार

के सहभागी हैं तब यह तय है कि स्त्रियों के भाग्य में केवल बच्चों को पालना और स्तनपान कराना भर नहीं है। और जिसे गृहकार्य कहते हैं, वह भी समानता के तहत स्त्री-पुरुष दोनों का ही कार्य समान रूप से है। एक व्यक्ति गृहकार्य को लेकर विद्या-शिक्षा से वंचित रहेगा और एक व्यक्ति गृहकर्म के दु:ख-कष्टों से मुक्ति पाकर निर्विघ्न रूप से अपनी लिखाई-पढ़ाई करेगा; यह स्वभाव-संगत हो चाहे नहीं, न्यायसंगत नहीं है। इसी तरह यह भी न्यायसंगत नहीं है कि पुरुष तो निर्विघ्न भाव से जहां चाहे आ-जा सकता है, लेकिन स्त्री कहीं भी नहीं जा सकती। इन सभी क्षेत्रों में वैषम्य होने के कारण ही विद्या-शिक्षा के क्षेत्र में वैषम्य घटित होता है। वैषम्य का ही नतीजा है वैषम्य। जो एक बार शेष हो जायेगा उसे क्रमानुसार छोटा होना ही पड़ेगा।

इस बात को एक और तरह से देखने पर, यह बात ठीक से समझ में आयेगी।

स्त्री-शिक्षा की जरूरत है या नहीं?—इस प्रश्न पर संभवत: सभी कहेंगे, 'है!'

अगर यह पूछें, क्यों जरूरत है? इस पर कोई नहीं कहेगा— 'नौकरी के लिए।'[1] लगता यही है कि इस प्रश्न के उत्तर में सबका जवाब यही होगा— स्त्रियों की नीतिशिक्षा के लिए, ज्ञानोपार्जन के लिए, बुद्धि के परिमार्जन के लिए ही उन्हें लिखना-पढ़ना सिखाने की जरूरत है।

इसके बाद अगर यह पूछा जाये कि पुरुषों को क्यों लिखाया-पढ़ाया जाता है? दीर्घकर्ण गर्दभ श्रेणी वाले यही कहेंगे 'नौकरी के लिए', लेकिन उनका यह उत्तर ध्यान में रखने लायक नहीं है। दूसरे कहेंगे नीति शिक्षा, ज्ञानोपार्जन, एवं बुद्धि के परिमार्जन के लिए ही पुरुषों का लिखना-पढ़ना जरूरी है। यदि कोई दूसरा प्रयोजन हो तो वह गौण प्रयोजन है, मुख्य प्रयोजन नहीं। गौण प्रयोजन भी, स्त्री-पुरुष दोनों के पक्ष में समान है।

अतएव विद्याशिक्षा के संबंध में स्त्री-पुरुष दोनों के अधिकार-साम्य को स्वीकार करना पड़ेगा। इस साम्य को सभी को स्वीकार करना पड़ेगा, नहीं तो उपर्युक्त विचारों में निश्चय ही कहीं कोई भ्रम है। अगर यहां साम्य स्वीकार किया जाता है तो फिर अन्यत्र क्यों नहीं? शिशुपालन, यथेच्छा

---

1. साम्यवादी कहते हैं, इसकी आवश्यकता नौकरी के लिए भी है।

भ्रमण या गृहकार्य के संबंध में यह साम्य क्यों नहीं स्वीकार्य होगा। साम्य स्वीकार करने पर, सर्वत्र साम्य स्वीकार करना होगा।

ऊपर जो चार सामाजिक वैषम्य गिनाये गये हैं, उनमें दूसरा विधवा विवाह से संबंधित है। विधवा विवाह अच्छा है या बुरा, यह बात अलहदा है। उसकी विवेचना का स्थान यह नहीं है। लेकिन इतना कह सकता हूं कि अगर कोई मुझसे पूछे कि स्त्री शिक्षा अच्छी चीज है या बुरी? सभी स्त्रियों का शिक्षित होना उचित है कि नहीं, तो मैं तत्काल उत्तर दूंगा—स्त्री शिक्षा अतिशय मंगलकारी है; सभी स्त्रियों का शिक्षित होना उचित है, लेकिन विधवा विवाह के संबंध में कोई अगर मुझसे इसी तरह सवाल करे तो मैं ठीक इसी रूप में उत्तर नहीं दे पाऊंगा। मैं कहूंगा, कि विधवा विवाह न तो अच्छा है, न बुरा, सभी विधवाओं का विवाह संभवत: अच्छा नहीं है, लेकिन विधवाओं को इच्छानुसार विवाह करने का अधिकार अच्छी चीज है, जो स्त्री साध्वी है और जिसने पूर्वपति को आंतरिक रूप से प्रेम किया था, उसे पुनर्विवाह की इच्छा नहीं होती, जिन जातियों में विधवा विवाह प्रचलित है, उन सभी जातियों के बीच भी पवित्र स्वभाव वाली, स्नेहमयी, साध्वी विधवा कभी विवाह नहीं करती। लेकिन कोई विधवा, चाहे वह हिंदू हो या किसी और जाति की पति के लोकांतर के बाद अगर पुन:परिणय की इच्छा करती है, तो वह अवश्य इसकी अधिकारिणी है। यदि पुरुष, पत्नी के वियोग के बाद दूसरी बार किसी स्त्री से विवाह का अधिकारी है तो साम्यनीति के फलस्वरूप स्त्री, पति वियोग के बाद, इच्छा करने पर अवश्य ही दूसरी बार पतिग्रहण करने की अधिकारिणी है। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या पुरुष के पुनर्विवाह के अधिकार के कारण ही, स्त्री भी इसकी अधिकारिणी बनी है, 'यदि' वह अधिकारी नहीं होता तो स्त्री भी इसकी अधिकारिणी नहीं होती, लेकिन क्या स्त्री के वियोग के बाद पति का दूसरी बार विवाह करना उचित है? उचित, अनुचित, की बात अलग है, इसमें औचित्य-अनौचित्य का सवाल नहीं है। लेकिन मनुष्य मात्र का यह अधिकार है, कि जिसमें दूसरे का अनिष्ट न होता हो, वह कार्य वह अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कर सकता है। इसीलिए पत्नी वियुक्त पति, एवं पति वियुक्त पत्नी, दोनों ही, इच्छा होने पर पुन: परिणय के अधिकारी हैं।

इसीलिए विधवा, विवाह की अधिकारिणी है ही। लेकिन यह नैतिक तत्व अभी तक देश में सभी स्थानों पर स्वीकृत नहीं हुआ। जो अंग्रेजी

शिक्षा के फल से या विद्यासागर महाशय तथा बाह्म समाज के अनुरोध से स्वीकार भी करते हैं, वे इसे कार्यरूप में परिणत नहीं करते। जो लोग यह मानते हैं कि विधवा, विवाह की अधिकारिणी है, उन्हीं के घर की कोई विधवा अगर विवाह के लिए व्याकुल भी हो तो भी वे उस विवाह के लिए किसी उद्यम का साहस नहीं जुटा पाते। इसका कारण है, समाज का भय। इसीलिए यह नीति समाज में प्रवेश नहीं कर सकी। अन्यान्य साम्यात्मक नीतियों के समाज में न प्रविष्ट हो सकने का कारण समझ में आ सकता है, विधानों का कर्ता तो पुरुष जाति ही है और उनके प्रचलन से पुरुष जाति अपने लिए खतरा महसूस करती है, लेकिन यह नीति इस समाज में क्यों नहीं प्रवेश कर पा रही, इसे आसानी से समझा नहीं जा सकता। यह दुःसाध्य नहीं है, इससे किसी का अनिष्ट नहीं होता, और यह बहुतों के लिए सुखवृद्धि की नीति है। फिर भी समाज द्वारा इसके स्वीकृत होने के कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ रहे। इसका कारण यही मालूम पड़ता है कि समाज के लोकाचार का उल्लंघन दुष्कर है।

एक और बात है। बहुतों को लगता है कि विधवा होने पर चिर वैधव्य के बंधन में बंधे रहना हिंदू महिलाओं के पातिव्रत्य की निशानी है और इसके विपरीत कोई और कामना करना उनके लिए उचित नहीं है। सभी हिंदू स्त्रियां यह जानती हैं कि एक स्वामी के साथ ही उनके सुख-दुःख जुड़े हुए हैं, इसीलिए वह स्वामी के प्रति अनंत रूप से भक्तिमती होती हैं। इस संप्रदाय के लोगों की विवेचना यह है कि इसी कारण हिंदूगृह में दाम्पत्य-सुख का इतना आधिक्य है। इस बात को सच मानकर ही स्वीकार कर लेते हैं। पर यदि सच यही है, तो फिर नियम को एकतरफा क्यों रखा जाये? विधवा का चिरवैधव्य यदि समाज के लिए मंगलकारी है, तो फिर जिस पति की पत्नी की मृत्यु हो गयी हो, उसके लिए यह विधान क्यों नहीं है कि वह भी चिरपत्नीहीन जीवन ही व्यतीत करेगा। तुम्हारे मरने पर, तुम्हारी स्त्री की कोई और गति नहीं है, इसलिए तुम्हारी स्त्री अधिक प्रेमशालिनी है; इसी तर्क से तुम्हारी स्त्री के मरने पर, तुम्हारी कोई और गति नहीं होनी चाहिए, इससे तुम भी अधिक प्रेमशाली बनोगे। और दाम्पत्य सुख की, गार्हस्थ सुख की वृद्धि दुगुनी हो जायेगी। लेकिन तुम्हारी बारी आने पर यह नियम लागू क्यों नहीं होता? केवल अबला स्त्री की बेला में यह नियम क्यों लागू होता है।

तुम विधानकर्ता पुरुष हो, तुम्हारे हर तरह से पौबारह हैं। तुम्हारे पास बाहुबल है, इसीलिए तुम कुछ भी कर सकते हो। लेकिन इतना जान लो,

कि यह बहुत बड़ा अन्याय है, गुरुतर भी है, और यह वैषम्य धर्मविरुद्ध है।

तृतीय। लेकिन पुरुष के जितने प्रकार के दुराचरण हैं, स्त्री-पुरुष के बीच के जो वैषम्य हैं, उनमें से हमारे द्वारा उल्लिखित तृतीय उदाहरण, अर्थात् स्त्रियों को वन्य-पशु की भांति घर के भीतर बांधकर रखने जैसा निष्ठुर, जघन्य, अधर्मी वैषम्य और कोई दूसरा नहीं है। हम चातक की तरह जमीन आसमान में उड़ते फिरेंगे, लेकिन स्त्रियां डेढ़ कट्ठा भूमि के भीतर, पिंजड़े में बंद रहेंगी! पृथ्वी के आनंद, भोग, शिक्षा, कौतुक— और जगत में जो कुछ सुंदर है, उसमें से अधिकांश से वे वंचित रहेंगी। क्यों? पुरुषों के हुक्म से।

इस प्रथा की न्याय-विरुद्धता को, अनिष्टकारिता को इस वक्त अधिकांश सुशिक्षित लोग स्वीकार करने लगे हैं, लेकिन स्वीकार करने के बावजूद इसे तोड़ने की ओर प्रवृत्त नहीं होते। इसका कारण, अमर्यादा का भय है। मेरी स्त्री को, मेरी कन्या को दूसरी आंखें देखेंगी! इसमें कितना अपमान है। कितनी लज्जा की बात है यह। और अपनी स्त्री को, अपनी कन्या को, पशुओं की भांति तुम बांधकर रखते हो, उसमें कोई अपमान नहीं है, कोई लज्जा नहीं है। यदि नहीं है, तुम्हारे मान-अपमान के बोध पर मुझे लज्जा आती है।

मैं पूछता हूं, कि अपने अपमान और अपनी लज्जा को ध्यान में रखकर तुम उनका जो उत्पीड़न करते हो, उसका तुम्हें क्या अधिकार है। क्या वह केवल तुम्हारी रक्षा के लिए हैं, तुम्हारे तेज-प्रताप की छाया में ही उन्हें रहना है, क्या इसीलिए उन्होंने देह धारण की है। तुम्हारा मान-अपमान ही सब कुछ हैं, उनका सुख-दु:ख कुछ नहीं है?

मैं जानता हूं कि तुमने बंग-कन्याओं को इसी तरह बड़ा किया है कि वे अपने उत्पीड़न को दु:ख में शुमार नहीं करतीं। इसमें विचित्र कुछ भी नहीं है। जिसको आधा पेट खाने का अभ्यस्त बना दिया जायेगा, वह आगे भी आधा पेट खाकर संतुष्ट रहेगा, अन्न के अभाव का दु:ख अनुभव नहीं करेगा। लेकिन इससे आपकी निष्ठुरता का परिमार्जन नहीं हुआ। वे सहमत हों या असहमत, तुमने उनके सुख और उनकी शिक्षा का हरण किया है, इसके लिए तुम्हारी गणना अनंत काल तक महापापी के रूप में की जायेगी।

और कई ऐसे मूर्ख हैं, जिनकी आपत्ति केवल इतनी नहीं है। उनका कहना है कि समाज में इच्छानुसार विचरण करने पर, स्त्रियां दुष्ट स्वभाव

की हो जायेंगी, और दुश्चरित्र पुरुषगण अवसर पाकर उनका धर्म भ्रष्ट कर देंगे। अगर उनसे यह पूछा जाये कि, देखा, यूरोप आदि के सभा-समाज में कुल कामिनियां यथेच्छा से समाज में विचरण करती हैं, इससे उनको क्या क्षति पहुंच रही है। इस पर वे यही उत्तर देंगे कि इन सभी समाजों की स्त्रियां, हिंदू महिलाओं की अपेक्षा धर्मभ्रष्ट और कलुषित स्वभाव वाली ही तो हैं।

स्त्रियों को धर्मरक्षार्थ पिंजड़े में बंद करके रखने की जरूरत है, इस तरह की कुत्सित बात जो हिंदू स्त्रियों के लिए कहते हैं, हम उसे सहन नहीं कर सकते। लोगों के संपर्क में आने मात्र से उनका धर्म भ्रष्ट हो जायेगा, पुरुषों को देखते ही वे कुल धर्म को तिलांजलि देकर उनके पीछे-पीछे भागने लगेंगी— हिंदू स्त्रियों का धर्म इतना क्षीण नहीं है। न ही, वह सौ परदों के भीतर रहने वाला है। जो धर्म इतना क्षीण हो, और सौ परदों में ढक कर रखने वाला हो, उस धर्म का रहना न रहना बराबर है— उसे बचाकर रखने के लिए इतने प्रयत्न की क्या आवश्यकता है। उनके बंधनों को तोड़कर, उनके लिए नयी भूमि तैयार करो।

चतुर्थ। हमने चतुर्थ वैषम्य का उल्लेख किया है, अर्थात् पुरुष जनों को बहुविवाह का अधिकार है, इस संबंध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। अब बंगवासी हिंदूगण विशेष रूप से यह समझ गये हैं कि यह अधिकार नीति विरुद्ध है। सहज ही समझा जा सकता है कि इस प्रसंग में, स्त्रियों के अधिकार में वृद्धि करके समाज संस्कारकों का उद्देश्य साम्य स्थापित करने का नहीं हो सकता; पुरुषों के अधिकार में कटौती करना ही उद्देश्य है; कारण मनुष्य जाति में किसी का भी बहुविवाह नीतिसंगत नहीं हो सकता।

कोई यह नहीं कहेगा कि पुरुषों की तरह स्त्रियां भी बहुविवाह की अधिकारिणी बने, सभी यह कहेंगे कि स्त्रियों की तरह पुरुषों को भी एक ही विवाह का अधिकार है। अतएव, जहां अधिकार नीतिसंगत है,[1] वहीं पर

---

1. शायद ऐसा भी हो सकता है। जैसे — निपुत्र राजा अथवा जिसकी पत्नी कुष्ठ आदि रोग से ग्रस्त हो। 'शायद' इसलिए कह रहा हूं कि यह स्वीकार करने से पुरुषों के विपक्ष में भी ऐसा ही सोचना चाहिए। वस्तुतः बहुविवाह के पक्ष में बोलने के लिए दो एक बातें हैं। मगर मेरी नजर में बहुविवाह ऐसी निकृष्ट प्रथा है कि उसके उल्लेख से भी अनिष्ट होगा।

साम्य अधिकार को संप्रसारित करता है, जिस जगह किसी कार्य का अधिकार अनैतिक है, उस जगह वह उसको काटता और संकीर्ण करता है। साम्य का फल कभी अनैतिक नहीं हो सकता। साम्य एवं स्वानुवर्तिता, इन्हीं दोनों तत्वों में समुदाय का नीतिशास्त्र निहित है।

इन चारों वैषम्यों पर अंतत: बंगीय समाज की नजर गयी है। जो अत्यंत गर्हित हैं, जब उन्हीं का कोई प्रतिविधान नहीं हो रहा, तब अन्य प्रकार के और जो वैषम्य हैं, उन पर कटाक्ष करने से कोई उपकार होगा, ऐसी उम्मीद नहीं की जा सकती। हम दो-एक बातें और कहकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

स्त्री-पुरुष के बीच प्राय: सभी समाजों में जो वैषम्य प्रचलित हैं, उनमें से पैतृक संपत्ति के उत्तराधिकार से संबंधित नियम-कानून सबसे अधिक भयानक और सोचनीय हैं। पुत्र पैतृक संपत्ति का संपूर्ण अधिकारी है, कन्या कुछ भी नहीं। पुत्र-कन्या दोनों ही एक ही औरत, एक ही गर्भ से जन्म लेते हैं, दोनों को बड़ा करने के प्रति माता-पिता एक-सा यत्न करते हैं, दोनों के प्रति उनका एक-सा दायित्व है, किंतु पुत्र, पिता की मृत्यु के बाद चाहे हजारों मुद्राएं सुरापान आदि में भस्म कर दे, पर कन्या किसी विशेष प्रयोजन के लिए भी उनमें से एक कौड़ी तक नहीं पा सकती। इस नीति का कारण यही है कि हिंदू शास्त्रों में यही निर्दिष्ट किया गया है कि पुत्र ही श्राद्ध का अधिकारी है, वही उत्तराधिकारी है, लेकिन यह कितना असंगत और अयथार्थ है। इसकी असंगति के बारे में जितना कहा जाये कम है। देखें कि, इस नियम का कोई अन्य स्वभावसंगत स्रोत या आधार है क्या? यह कहा जा सकता है कि स्त्री का स्वामी के धन पर, स्वामी की तरह ही अधिकार है एवं वही स्वामी के गृह की गृहिणी है, स्वामी के धन-एश्वर्य की कत्री वही है, इसीलिए पैतृक धन की अधिकारिणी होने का, उसका कोई प्रयोजन नहीं है। अगर यही इस व्यवस्था नीति का मूलस्वरूप हो, तो यह पूछा जा सकता है कि विधवा कन्या को पिता की संपत्ति पर अधिकार क्यों नहीं मिलता। लेकिन हम ये सब क्षुद्रतर आपत्तियां उठाने के इच्छुक नहीं हैं। स्त्री, स्वामी या पुत्र या किसी अन्य पुरुष की आश्रिता होकर ही धन की भागीदार हो सकती है इसी पर हमारी आपत्ति है। ऐसा न होने पर स्त्री जाति धनाधिकारिणी नहीं हो सकती— दूसरे की दासी होकर ही धनी होगी— नहीं तो धनी नहीं होगी, इसी पर आपत्ति है। पति की पद सेवा करने, पति दुष्ट हो, कुभाषी हो, दुराचारी हो, सब कुछ सहन करो—

आवारा, दुर्मुख, कृतघ्न, पापात्मा पुत्र की बंदी बनकर रहो— नहीं तो धन के साथ स्त्री जाति का कोई संबंध नहीं होगा। पति पुत्र द्वारा तिरस्कृत होने पर, उसका सब कुछ लुट जायेगा। स्वतंत्र होकर जीने का कोई उपाय नहीं है— सहिष्णु बनकर रहने के अतिरिक्त और कोई गति नहीं है। इधर, पुरुष सर्वाधिकारी है, स्त्री का धन भी उसी का धन है। इच्छा करने पर स्त्री को वह सभी अधिकारों से वंचित कर सकता है। पुरुष की स्वेच्छाचारिता पर कोई अंकुश नहीं है। यह वैषम्य गुरुतर है, न्याय विरुद्ध एवं नीति विरुद्ध है।

कई लोग कहेंगे, यह अति उत्तम व्यवस्था है। इस व्यवस्था के प्रभाव से स्त्री, स्वामी के वश में रहती है। अवश्य ही, पुरुषकृत व्यवस्था का उद्देश्य तो यही है ही, जितने प्रकार के बंधन हैं, उनसे स्त्री के हाथ-पांव बांधकर, उसे पुरुष के चरणों में बैठा दो— पुरुषों को स्वेच्छानुसार पदाघात करने दो, अधम नारियां इसका कोई विरोध नहीं कर सकतीं। मैं पूछता हूं, स्त्रियां पुरुषों के वश में रहती हैं, यह बहुत वांछनीय है। पुरुषगण, स्त्रियों के वश में रहें, यह वांछनीय क्यों नहीं है। जितने बंधन हैं, वे सब स्त्री जाति को बांधने के लिए ही हैं, पुरुष जाति के लिए एक भी बंधन क्यों नहीं है? क्या स्त्रियां, पुरुषों की अपेक्षा स्वभाव से अधिक दुश्चरित्र होती हैं? या फिर रस्सी पुरुषों के हाथ में होने से ही, स्त्री जाति इतने दृढ़ बंधनों में कसी हुई है। यदि यह अधर्म नहीं है, तो फिर अधर्म कहते किसे हैं, क्या कहा जाये!

हिंदू शास्त्रों के अनुसार पति-पुत्र के मरने पर स्त्री कदाचित धन-संपत्ति की अधिकारिणी होती है—बस यही हिंदू शास्त्रों का गौरव है। इस तरह के दो-एक विधि-विधान रहने के कारण ही हम प्राचीन आर्य व्यवस्था शास्त्र को कुछ अंशों में, आधुनिक सभ्य यूरोपीय व्यवस्था-शास्त्र की अपेक्षा उत्कृष्ट मानकर गौरव का अनुभव करते हैं। लेकिन यह तो केवल अच्छे-बुरे का सवाल हुआ। स्त्री धन-संपत्ति की अधिकारिणी जरूर है, परंतु दान करने, विक्रय करने की अधिकारिणी नहीं है। यह अधिकार कितना हुआ? केवल अपना भरण-पोषण मात्र पायेंगी और अपने जीवन-काल में किसी और को कुछ दे नहीं सकेंगी, बस यहीं तक है उनका अधिकार। पापात्मा पुत्र चाहे तो सर्वस्व बेचकर इंद्रिय सुखों का भोग करे, इस पर शास्त्रों को आपत्ति नहीं है, लेकिन महारानी स्वर्णमयी की तरह धर्मनिष्ठ स्त्री किसी के प्राण-रक्षार्थ भी एक बीघा जमीन हस्तांतरित नहीं कर सकती। यह वैषम्य क्यों है? इसके

उत्तरों का अभाव नहीं है— स्त्रियां अल्पबुद्धि हैं, अस्थिरमति की हैं, धन-संपत्ति की रक्षा करने में अशक्त हैं। हठात सर्वस्व का हस्तांतरण कर देंगी, उत्तराधिकारी की क्षति होगी, इसीलिए उनका धन-संपत्ति के हस्तांतरण के मामले में अशक्त होना ही ठीक है। हम इस बात को स्वीकार नहीं करते। स्त्रियां बुद्धि, चतुरता, स्थैर्य में पुरुषों के मुकाबले किसी भी अंश में कम नहीं हैं। धन-संपत्ति की रक्षा के लिए जो शिक्षा चाहिए, उसमें वे जरूर कमजोर हैं, लेकिन यह तो पुरुषों का ही दोष है। तुम उन्हें घर की चारदीवारी में कैद रखते हो, जमीन-जायदाद और व्यवस्था के मामले में कुछ करने नहीं देते, ऐसे में उनकी शिक्षा इन विषयों में हो तो कैसे हो। पहले उन्हें धन-संपत्ति के मामलों में थोड़ा संलग्न तो करो, बाद में उनसे यह प्रत्याशा रखना कि वे इन विषयों में पूरी तरह दीक्षित हो जायें।

पुरुष के अपराध से ही स्त्री अशिक्षिता है— लेकिन इस अपराध का दंड भी स्त्रियों को ही भुगतना पड़ता है। यह हुई न बात।

स्त्रियों के संपत्ति संबंधी अधिकार को लेकर एक मजेदार बात याद आयी। कई साल पहले हाई कोर्ट में एक मुकद्दमा आया था। विचारणीय विषय यह था कि असली स्त्री, संपत्ति की अधिकारिणी हो सकती है या नहीं। विचारक ने कहा, हो सकती है। सुनकर देश में हलचल मच गयी। लो, इतने दिनों का हिंदू स्त्री का सतीत्व धर्म अब लुप्त हो गया। और, सतीत्व धर्म की रक्षा कौन नहीं करना चाहेगा? बंगाली समाज पैसा खर्च नहीं करना चाहता— राजाज्ञा न होने पर चंदा भी नहीं देता, लेकिन यह लाठी ऐसे मर्मस्थान पर पड़ी थी, कि हिंदुओं ने अपनी ओर से चंदा इकट्ठा करके प्रिवी कौंसिल में अपील करने की ठानी। प्रधान समाचार पत्रों ने लिखा, ''हा! सतीत्व! कहां चले गये।'' और अंग्रेजी बांग्ला में रुदन करते हुए, ''अरे भाई, चंदा दो।'' की गुहार लगाने लगे। बाद में क्या हुआ, मालूम नहीं, क्योंकि देशी समाचार-पत्रों के पाठ से मैं इच्छाक्रम से वंचित रहा हूं। खैर, जो भी हो, जिन लोगों को यह विचार अत्यंत भयंकर लगा था, उनसे एक बात पूछने का मेरा मन जरूर है। स्वीकार करता हूं कि असली स्त्री का संपत्ति के अधिकार से वंचित होना ही विधेय है, ऐसा होने पर असतीत्व के पाप पर एक बड़ा अंकुश बना रहेगा, लेकिन इसी के साथ एक और विधान का होना अच्छा रहेगा, जो लंपट पुरुष पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री से संसर्ग का दोषी हो, उसे भी संपत्ति के अधिकार से वंचित क्यों न रखा जाये? संपत्ति के अधिकार से वंचित करने

का डर दिखा कर स्त्रियों को तो सती बनाना चाहते हो— वही डर दिखाकर पुरुषों को सत्यपथ पर क्यों नहीं रखना चाहते? धर्मभ्रष्टा स्त्री को संपत्ति नहीं मिलेगी; धर्मभ्रष्ट पुरुष, जो लंपट है, चोर है, मिथ्यावादी है, मद्यपायी है, कृतघ्न है, वह सब संपत्ति पायेगा, क्योंकि वह पुरुष है, केवल असली पत्नी संपत्ति नहीं पायेगी, क्योंकि वह स्त्री है। यदि यही धर्मशास्त्र है, तो अधर्मशास्त्र कौन-सा है? यदि यही कानूनी है, तो गैरकानूनी क्या है? इस कानून की रक्षा के लिए चंदा उगाहना यदि देश वात्सल्य है तो महापातक होना क्या है?

स्त्री जाति का सतीत्व धर्म हर प्रकार से रक्षणीय है, इसकी रक्षार्थ जितने बंधन लगाओ, उतना ही अच्छा है, किसी को आपत्ति नहीं होगी। लेकिन पुरुषों के ऊपर ये सब बंधन क्यों न हों? पुरुष वेश्या गमन करे, दूसरे की स्त्री के साथ संसर्ग करे, उसके ऊपर कोई अंकुश क्यों नहीं लगता? शास्त्रों में इसका निषेध किया गया है, सभी कहेंगे पुरुषों के लिए भी ये सभी कर्म खराब हैं, लोग भी इसकी थोड़ी-बहुत निंदा करेंगे— और मामला यहीं खत्म हो जायेगा। स्त्रियों के ऊपर जिस प्रकार का अनुशासन और अंकुश है, पुरुषों के ऊपर वैसा कुछ भी नहीं है। खाली बातें करने से कुछ नहीं होता; भ्रष्ट पुरुषों के लिए कोई सामाजिक दंड नहीं है। कोई स्त्री अगर सतीत्व संबंधी थोड़ी-सी भी भूल कर बैठती है तो मुंह दिखाने के काबिल नहीं रहती, हो सकता है आत्मीय स्वजन ही उसे विष देने पर उतारू हो जायें, और एक पुरुष उसी तरह का कर्म खुलेआम करके भी मुक्त रहता है, रात्रि की 'शेष बेला' में पत्नी के पास आता है और उससे अपने चरण स्पर्श कराता है। पत्नी पुलकित होती है, लोग भी उसकी निंदा-आलोचना करने का कष्ट नहीं उठाते; लोक समाज में वह जिस रूप में प्रतिष्ठित था उसी रूप में प्रतिष्ठित बना रहता है, उनके साथ अपने व्यवहार में कोई किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करता और उन पर कोई आरोप रहने पर भी वे स्वच्छंद भाव से देश की शीर्ष प्रतिभा के रूप में विचरण करते रह सकते हैं। यह एक और गुरुतर वैषम्य है।

और एक अनुचित वैषम्य यह है कि निम्न वर्ग की स्त्रियों के अलावा, इस देश की स्त्रियां उपार्जन नहीं कर सकतीं। यह सच है कि उपार्जनकारी पुरुष अपने-अपने परिवारों की स्त्रियों का प्रतिपालन करते हैं। लेकिन इस देश में अनेक स्त्रियां ऐसी हैं, जिनका प्रतिपालन करनेवाला कोई नहीं है। यह बात हम बंगाल की विधवा स्त्रियों को विशेष रूप से लक्ष्य करके हम लिख रहे हैं। अन्यथा बंग विधवाओं का अन्न-कष्ट जग जाहिर है, उसके

विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है। वे उपार्जन करके अपने दिन नहीं बिता सकतीं, यह समाज की नितांत निष्ठुरता है। सच है, दासी या परिचारिका के रूप में काम करने में कोई बाधा नहीं है। लेकिन भद्र लोगों की स्त्रियां— कन्याएं ये सब काम करने में सक्षम नहीं हैं— इसकी अपेक्षा मृत्यु-यंत्रणा उनके लिए कम है। और किसी प्रकार से वे जो उपार्जन नहीं कर सकतीं, उसके तीन कारण हैं। प्रथमत: वे देशी समाज की रीति के अनुसार घर से बाहर नहीं जा सकतीं। घर के बाहर नहीं निकलने पर, उपार्जन की संभावना अल्प है। द्वितीय, इस देश की स्त्रियां लिखाई-पढ़ाई और शिल्पादि में सुशिक्षित नहीं हैं; किसी प्रकार की विद्या में सुशिक्षित न होने पर कोई भी उपार्जन नहीं कर सकता। तृतीय, विदेशी उम्मीदवार और विदेशी शिल्पी, प्रतियोगी बनकर खड़े हैं, इस देश में जब पुरुष ही नौकरी, व्यवसाय, शिल्प, वाणिज्य और खेती करके ऊपर नहीं उठ पा रह हैं तो फिर स्त्रियां भला क्यों कर उनसे ऊपर उठ सकती हैं।

इन तीनों विघ्नों के निवारण का एक ही उपाय है— शिक्षा। लोगों के सुशिक्षित होने पर, खास कर स्त्रियों के सुशिक्षित होने पर, वे घर के भीतर गुप्त रूप से रहने की पद्धति का अनायास अतिक्रमण कर सकेंगी। शिक्षित होने पर ही स्त्रियों में अर्थोपार्जन की क्षमता जन्म लेगी। और इस देश के स्त्री-पुरुषों के, सब प्रकार की विधाओं में सुशिक्षित होने पर ही, विदेशी व्यवसायी, विदेशी शिल्पी तथा विदेशी वणिक, उनका अन्न नहीं चुरा सकेंगे। शिक्षा ही हर प्रकार के सामाजिक अमंगल के निराकरण का उपाय है।

हमने इस लेख में जो बातें लिखी हैं, अगर वे सच हैं, तो हमारे देश की स्त्रियों की दशा बड़ी सोचनीय है। इसके प्रतिकार के लिए किसने क्या किया है? पंडितवर श्रीयुत ईश्वरचंद्र विद्यासागर और ब्राह्मणसंप्रदाय ने अनेकों यत्न किये हैं— उनका यश अक्षय हो, लेकिन इन कुछ लोगों को छोड़ दें तो समाज में और कुछ भी नहीं हुआ। देश में अनेक एसोसिएशन, लीग, सोसाइटी सभा, क्लब, इत्यादि हैं— किसी का उद्देश्य राजनीति, किसी का समाजनीति, किसी का धर्मनीति, किसी का दुर्नीति है, लेकिन स्त्री जाति की उन्नति के लिए कुछ भी नहीं है। पशुओं पर कोई अत्याचार न करे, इसके लिए एक सभा है, किंतु बंगाल की आधी आबादी, स्त्री जाति— उसके उपकारार्थ कुछ भी नहीं है। हमने कुछ समय के भीतर, पाठशाला, चिकित्सालय और पशुशाला के लिए काफी अर्थ-व्यय होते हुए

देखा है, लेकिन बंग संसार की इस पशुशाला के सुधार के लिए क्या कुछ भी नहीं हो सकता?

नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें रंग तमाशा कुछ भी नहीं। कुछ भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें राय बहादुरी, राजा बहादुरी, स्टार ऑफ इंडिया प्रभृति कोई चीज नहीं है। है केवल मूर्खों की तालियां। कौन अग्रसर होगा?

(1282 कार्तिक। 'साम्य')

लोकशिक्षा

जनगणना से यह मालूम हुआ है कि बंगाल की आबादी कोई छह करोड़ साठ लाख है। पृथ्वी का ऐसा कोई कार्य नहीं है जो छह करोड़ साठ लाख लोगों द्वारा सिद्ध न किया जा सके। लेकिन बंगालियों द्वारा कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो पा रहा है। इसका अवश्य कोई कारण है। लोहे को औजार में बदल देने पर उसके द्वारा पत्थर तक काटा जा सकता है, लेकिन मात्र लोहे में वह गुण नहीं होता। लोहे को नानाविध उपादानों में प्रस्तुत करने के लिए ढालना पड़ता है। तब लोहा जरूर इस्पात बनकर काटता है। ठीक उसी तरह मनुष्य को प्रस्तुत, उत्तेजित, शिक्षित करना पड़ता है, तभी मनुष्य द्वारा कार्य संपन्न होता है। बंगाल के छह करोड़ साठ लाख लोगों द्वारा कोई कार्य न हो पाने का कारण यही है कि बंगाल में लोकशिक्षा नहीं है। जो लोग बंगाल की नानाविध उन्नति की ओर प्रवृत्त हैं, वे लोकशिक्षा के बारे में सोचते नहीं हैं, अपनी-अपनी विद्याबुद्धि को प्रकाशित करने में ही लीन हैं। अचरज नहीं कि यह मामला गंभीर है। यह कभी संभव नहीं है कि विद्यालय में पुस्तक पढ़ाकर व्याकरण साहित्य ज्यामिति सिखाकर, सात करोड़ लोगों की शिक्षा का प्रबंध किया जा सकता है। वह शिक्षा शिक्षा ही नहीं है और उस उपाय से यह शिक्षा संभव भी नहीं है। सबकी चित्तवृत्ति स्थिर हो, अपने-अपने कार्य में दक्षता हो, कर्त्तव्य करने में उत्साह हो, यही शिक्षा शिक्षा है। हमारा कुछ ऐसा विश्वास है कि व्याकरण, ज्यामिति से यह शिक्षा होती नहीं है और राममोहन राय से लेकर फटिकचंद स्क्वायर तक हमने यह देखा नहीं है कि किसी अंग्रेजी-नवीस ने इस विषय पर कुछ कहा हो।

यूरोप में इस प्रकार की लोकशिक्षा नानाविध उपायों से होती रहती है। प्रूशिया प्रभृति अनेक देशों में विद्यालय में श्रेष्ठ से लेकर साधारण तक सबकी होती है। इन सभी देशों में समाचार-पत्र लोकशिक्षा का एक प्रमुख

माध्यम हैं। समाचार-पत्र लोकशिक्षा का उपाय किस प्रकार हैं, इस बात को इस देश के लोग सहज ही अनुभव नहीं कर सकते।

इस देश में एक-एक भाषा के दस-पंद्रह समाचार-पत्र हैं, किसी के ग्राहक दो सौ हैं, किसी के पांच सौ, कुल मिलाकर इन्हें पढ़ते पांच-सात हजार लोग हैं। यूरोप में एक-एक देश में सौ-सौ हजार-हजार अखबार हैं। एक-एक के ग्राहक हजारों हजार, लाखों-लाख हैं। लाख-लाख करोड़ लोग पढ़ते हैं। इसके अलावा नगर-नगर में सभा, ग्राम-ग्राम में वक्तृताएं होती हैं। जिसको कुछ कहना होता है, वह व्यक्ति सबको एकत्र करके, अपनी बात कहता-सिखाता है। वही बात फिर सौ-सौ अखबारों में प्रचारित होकर भिन्न-भिन्न सौ-सौ ग्रामों में भिन्न-भिन्न नगरों में, प्रचारित, विचारित एवं अधीत होती है, लाखों लोग उससे शिक्षित होते हैं। एक-एक भोज में निमंत्रित लोगों को सुस्वाद व्यंजन खाते-खाते जो शिक्षा प्राप्त होती है, हमें उसका कोई अनुभव ही नहीं है। हमारे देश के जो सब अखबार हैं, उनकी दुर्दशा मैं पहले ही बता चुका हूं, वक्तृताएं लोकशिक्षा को ध्यान में रखकर दी ही नहीं जाती, इसके बहुतेरे कारणों में से एक प्रमुख कारण यह है कि वे कभी देसी भाषा में नहीं दी जातीं। बहुत थोड़े से लोग सुनते हैं, बहुत थोड़े से लोग उन्हें पढ़ते हैं और बहुत थोड़े से लोग समझते हैं, वक्तृताएं प्राय: असार होती हैं और बहुत थोड़े से लोग उनसे शिक्षा प्राप्त करते हैं।

आज की अवस्था इस प्रकार की है जरूर, लेकिन चिरकाल से इस देश में लोकशिक्षा का अभाव नहीं था। अगर लोकशिक्षा का उपाय न होता तो समग्र भारतवर्ष को शाक्य सिंह किस प्रकार बौद्ध धर्म सिखलाते? सोचकर देखिये, बौद्ध धर्म के सकल गूढ़ तत्वों को समझने में हमारे आधुनिक दार्शनिकों के माथे पर पसीना आ जाता है, मैक्समूलर उसे नहीं समझ पाये, कलकत्ता रिव्यू में इस बात का प्रमाण है। उसी गूढ़ तत्वमय, निर्वाणवादी, अहिंसात्मा, दुर्बोध धर्म को शाक्य सिंह और उनके शिष्यों ने समग्र भारतवर्ष को— गृहस्थ, परिव्राजक, पंडित, मूर्ख, विषयी, उदासीन, ब्राह्मण, शूद्र सबको— सिखाया-समझाया था। क्या यह लोकशिक्षा का उपाय नहीं था? उसी दृढ़बद्ध मूल दिग्विजयी साम्यमय बौद्ध धर्म को विलुप्त कर शंकराचार्य ने फिर से समग्र भारतवर्ष को शैव धर्म सिखलाया था—यह लोकशिक्षा का उपाय नहीं था? उस समय भी चैतन्य देव समग्र उत्कल को वैष्णव बना आये थे। लोकशिक्षा से क्या संभव नहीं था?. और अब क्या पाते हैं कि राममोहन राय से लेकर कालेज के छात्र तक केवल साढ़े

तीन पुरुषों को बाह्य धर्म समझा पाये हैं? लोग तो सीख नहीं रहे हैं। लोकशिक्षा का उपाय था, पर अब नहीं है।

लोकशिक्षा के एक उपाय की बात कहता हूं— पहले थी— आज नहीं है। कथावाचक की कथा कहता हूं। —गांव-गांव में, नगर-नगर में, एक आसन पर बैठकर, हाथ में फटी-सी पोथी लेकर, जन-जन के सामने, गोल मटोल काला-सा कथावाचक, सिर के ऊपर सुगंधित मल्लिका माला पहनकर, सीता के सतीत्व की, अर्जुन के वीरधर्म की, लक्ष्मण के सत्यव्रत की, भीष्म की इंद्रिय-विजय की, राक्षसी के प्रेम प्रवाह की, दधीचि के आत्म-समर्पण की कथा सुकंठ से सुनाकर, सरल भाषा में उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता था। जो हल चलाता था, तराजू में अनाज तौलता था, घास काटता था, जिसे कभी खाने को भात मिलता था कभी नहीं, वह भी सीखता था— सीखता था कि धर्म नित्य है, धर्म ही देव है, केवल अपने बारे में ही सोचते रहना ठीक नहीं है, जीवन दूसरों के लिए है। ईश्वर हैं, वह विश्व के सृजनहार हैं, विश्व के पालक हैं, विश्व का संहार करते हैं। पाप-पुण्य है, पाप का दंड मिलता है, पुण्य पुरस्कृत होता है, जन्म अपने लिए नहीं मिला, दूसरों के लिए है। अहिंसा परमधर्म है, लोकहित परम कार्य है— वह शिक्षा अब कहां है? वह कथावाचक कहां है? कहां चला गया? बंगाल के नवयुवकों की कुरुचि के कारण।

उसका गाना बड़ा मीठा लगता है, कथावाचक की कथा सुनकर क्या होगा? दक्षयज्ञ में, विश्वयज्ञ में, ईश्वर के लिए ईश्वरीय समर्पण के बारे में सुनकर क्या होगा? चलो भाई, ब्रांडी पीकर, थियेटर में जाकर, कौरानी का टप्पा सुन आयें। थोड़ी-सी अंग्रेजी शिक्षा से स्वधर्म भ्रष्ट, कदाचार, दुराशा, आदि में पढ़े हुए इन बंगीय युवकों के दोष से, लोकशिक्षा के अभाव में, कथावाचक का लोप हो गया। अंग्रेजी शिक्षा के चलते लोकशिक्षा का उपाय क्रमशः लुप्त और व्यतीत हो रहा है, बढ़ नहीं रहा है।

लेकिन असली बात कहूं। अंग्रेजी शिक्षा के बावजूद देश में लोकशिक्षा के उपाय में जो वृद्धि नहीं हो रही है, उसका स्थूल कारण बताऊं— शिक्षितों ने अशिक्षित के हृदय को नहीं समझा। शिक्षित, अशिक्षित की ओर दृष्टिपात नहीं करता। रामा खेती किसानी में मरता-खपता रहे, हमारा स्वार्थसिद्ध हो जाना चाहिए। रामा कैसे अपने दिन बिताता है, क्या सोचता है, उसका क्या दु:ख-सुख है, इस ओर फटिकचंद तिल भर भी ध्यान नहीं देते। रामा चूल्हे में जाय, उससे कुछ आता-जाता नहीं। उसके मन में जो

कुछ है, रामा और रामा की जो मंडली है— इस मंडली में छह करोड़ साठ लाख लोगों में छह करोड़ उनसठ लाख नब्बे हजार नौ सौ लोग हैं— वे उसके मन की बात समझ नहीं पाये। यश लेकर क्या होगा? अंग्रेज अच्छा कहेंगे, इससे क्या होगा? छह करोड़ साठ लाख लोगों की क्रन्दन-ध्वनि से आकाश फटा जा रहा है— बंगाल के लोगों ने यह बात नहीं समझी-सीखी। बंगाल के लोग शिक्षित नहीं हैं, इसे सुशिक्षित नहीं समझते।

शिक्षित जो कुछ समझते जानते हैं, अगर वे अशिक्षितों को बुलाकर उनके पास जाकर, वह सब सिखायें-बतायें तो लोग शिक्षित होंगे। यह बात बंगाल में सर्वत्र प्रचारित होनी आवश्यक है। लेकिन सुशिक्षित अगर अशिक्षितों से घुलेंगे-मिलेंगे नहीं तो यह प्रचारित कैसे होगी। सुशिक्षितों में, अशिक्षितों के प्रति संवेदना होनी चाहिए।

(1285 अग्रहायण। 'विविध प्रबंध'।)

रामधनपोद

बांग्ला के साहित्यारण्य में एक ही रोदन सुनाई पड़ता है— बंगालियों में बाहुबल नहीं है। इस अभिनव अभ्युत्थान काल में बंगालियों के भग्न कंठ में एक ही अस्फुट स्वर है— 'हाय! बंगालियों में बेचने की सामर्थ्य नहीं है। बंगालियों के जितने दु:ख हैं उनका एक ही मूल है— बाहु में बल नहीं है।

यदि अनुसंधान किया जाये, बंगालियों की बाहु में बल क्यों नहीं है? उसका एक ही उत्तर मिलेगा— बंगाली को खाने को नहीं मिलता— बंगाल में अन्न नहीं है। जिस प्रकार एक मां की कई संतानें होने पर किसी को पेट भर कर स्तन का दूध पीने को नहीं मिलता, उसी प्रकार हमारी जन्मभूमि के बहुसंतान प्रसविनी होने के कारण, उसके शरीर से उत्पन्न होने वाला अन्न सबके लिए पूरा नहीं पड़ता। लगता है पृथ्वी के किसी और देश में बंगाल की तरह प्रजा बहुत नहीं है। बंगाल की अतिशय प्रजावृद्धि बंगाल की प्रजा की अवनति का कारण है। प्रजाबाहुल्य के कारण अन्न का अभाव है, अन्नाभाव के कारण अनुष्टि है, क्षीण शरीरत्व है, ज्वरादि की पीड़ा है, मानसिक दौर्बल्य है।

बहुतेरे कहेंगे— देखो, देश में बड़े लोगों के अनेकों लड़के हैं, उनके लिए आहार का कोई कष्ट नहीं है, फिर भी क्यों, वे तो अनाहारी चंडाल पोद की तुलना में भी दुर्बल हैं— बड़े लोगों की प्रकृति ही मर्कटाकार है। सच है, लेकिन एक पुरुष के अन्नाभाव के दोष के कारण नहीं। जो पुरुषानुक्रम से ही मर्कटाकार हैं, उनके आहार से दो एक पुरुष पेट भर कर खा भी लें तो वे मनुष्याकार धारण नहीं कर लेंगे। बड़े लोगों के लड़कों की बात छोड़ दें—

इसलिए क्षुधा के अभाव में प्रस्तुत आहार नहीं खा पाते—खाये हुए आहार को पचा नहीं पाते। सभी देशों में बाबू लोग मर्कट संप्रदाय विशेष

के ही होते हैं। श्रमजीवी, साधारण दरिद्र लोगों का बाहुबल ही देश का बाहुबल होता है।

कई लोग गुस्से में भर कर कहेंगे, ''इस प्रकार की कठिन-हृदय माल्थसि बोली रहने दीजिए। ये सब व्यर्थ की बातें हमने अनेक बार सुनी है। क्योंकि, अगर देश के लिए अन्न पूरा नहीं पड़ता, तब किसी अन्य देश में इतना चावल और गेहूं हमारे यहां से जाता क्योंकर है?'' इस संप्रदाय के लोग यह नहीं समझते कि देश में किसी चीज का अभाव होने पर भी, विदेशों में चीजें जा सकती हैं। जो हमें अधिक पैसा देगा, हम उसी को चीज-वस्तु बेचेंगे।

अगर इस देश में कोई चीज पर्याप्त है तो वह चावल है। चावल नहीं जुटने के कारण कोई खा नहीं सका—इस तरह की दुरवस्था सबकी नहीं है, ऐसे लोगों की संख्या इस देश में नितांत अल्प है। अधिकांश लोगों को और चाहे जिस प्रकार के अभाव हों, चावल की कमी नहीं है। लेकिन पेट भर भात खा लेने भर से आहार पूरा नहीं हो जाता। केवल भात खा कर जीवन रक्षा होती रह सकती है— लेकिन वह जीवन रक्षा मात्र होगी। उससे शरीर पुष्ट नहीं होता। चावल में बलकारक सार पदार्थ सौ में मात्र सात प्रतिशत है। चर्बी— जो शरीर की पुष्टि के लिए नितांत प्रयोजनीय है, चावल में उसकी कोई मात्रा नहीं है।

जो लोग सिर्फ भात खाते हैं, ऐसे लोग अत्यल्प भले न हों, संख्या में ज्यादा भी नहीं हैं। बंगाल के अधिकांश लोग भारत के साथ थोड़ी-सी दाल, मांस का एक टुकड़ा, आलू या अन्य कोई सब्जी, कच्चे केले की कनिका, भोजन में रख ही लेते हैं। इसका नाम है भात व्यंजन'। इस भात व्यंजन में भात का भाग पंद्रह आने साढ़े उन्नीस गंडा होता है— व्यंजन का भाग दो कड़ा। इसलिए इसे भी केवल भात कहा जा सकता है। बंगाल के रुपये में चौदह आना लोग केवल भात खाते हैं। इसमें कोई उपसर्ग न रहने पर भी जीवन रक्षा होती रह सकती है— होती भी रहती है। किंतु इस कारण शरीर में रोग सहज ही घर कर जाते हैं— (साक्षी है मलेरिया ज्वर)— और इसीलिए शरीर में बल नहीं रहता। यही कारण है कि बंगालियों में बाहुबल नहीं है।

यह सब सोच-विचार कर ही कई लोग कहते हैं— जब तक बंगाली मांसाहार नहीं करेंगे, तब तक बंगालियों की बाहु में बल नहीं होगा। हम यह बात नहीं कहते। मांस का प्रयोजन नहीं है, दूध, घी, मैदा, दाल, चना,

अच्छी सब्जी, यही उत्तम आहार हैं। नैवेद्य में बिल्व-पत्र की भांति भात में इनके संस्पर्श मात्र से स्थिति बदल जाती है— अन्न में इनका यथोचित समावेश होने पर बलकारक आहार तैयार हो जाता है। बंगाल यदि भात की मात्रा कम कर दें, और इन सबकी मात्रा बढ़ा सकें तो एक पुरुष निरोग हो सकता है और दो-तीन पुरुष बलिष्ठकाय हो सकते हैं।

मैं ये सब बातें रामधन पोद को समझाना चाहता था—क्योंकि उसका परिवार रोगी है। रामधन ने हाथ जोड़कर मुझसे कहा, "महाशय आपने जो आज्ञा की, वह सब यथार्थ है— लेकिन घी, मैदा, दाल, चना! बाबा, यह सब लाऊंगा कहां से? अभी तो केवल भात का खर्च नहीं जुटा पा रहा हूँ।"

मैंने पाया कि बात तो सच है। मैं रामधन की चारपाई पर बैठा था। उस जगह एक खजहा कुत्ता बैठा था इसलिए और आगे नहीं हो पा रहा था। यहीं से मैं रामधन की वंशावली का परिचय पा रहा था। रामधन ने एक-एक कर बताया कि उसके चार बेटे हैं, पांच बेटियां, एक बेटे और तीन बेटियों का विवाह होना शेष है— पोद जाति में बेटों के विवाह में भी काफी खर्च होता है, लड़कियों के विवाह में भी होता है, पर कम। पोद ने कहा, "महाशय! परिवार के लिए दो जून का भोजन तो जुटा नहीं पा रहा, तिस पर घी, मैदा, दाल, चना!" मैंने समझा, मैं काफी असंगत बातें कह गया हूं। ऐसा लगा, आंगन में सोया रुग्ण कुत्ता भी मेरे ऊपर क्रोधित है और भौंकने पर आमादा है— लगा, वह कह रहा है, "एक मुट्ठी भात तो मुझे मिलता नहीं है, और ये हैं कि पांवों में बूट पहन कर आसन पर टेक लगाकर घी, मैदा की बातें कर रहे हैं।" एक बिना बालों वाली पालतू बिल्ली मेरी ओर से मुंह मोड़कर, पूंछ उठाये हुए चली गयी— उस नीरस रामधनालय में घृत, दूध, नवनीत की बातें सुनकर निश्चय ही वह मेरा उपहास करते हुए गयी है।

मैंने रामधन से कहा, "चार बेटे, तीन बेटियां। इनके ऊपर दो पुत्र वधुएं और ले आये हो।" रामधन ने हाथ जोड़कर कहा, "जी हां! आपके आशीर्वाद से दो पुत्र वधुएं भी आ गयी हैं।" मैंने पूछा, "उनकी संतानें भी हैं?" रामधन ने कहा, "जी, एक के दो लड़कियां हैं, और एक के एक बेटा।"

मैंने कहा, "रामधन! शत्रु की आंखों में धूल झोंककर तुमने अपना परिवार काफी बढ़ा लिया है। परिवार में कई लोगों के होने के कारण तुम्हें

पहले ही खाने-पीने का कष्ट था, अब तो लगता है यह कष्ट और भी बढ़ गया है।''

रामधन ने कहा, ''अब बहुत कष्ट हो गया है।''

मैंने अब रामधन से पूछा, ''रामधन! परिवार इतना बढ़ा क्यों लिया?''

रामधन कुछ विस्मित हुआ। उसने कहा, ''यह क्या महाशय! मैंने परिवार कहां बढ़ाया है। विधाता ने बढ़ाया है।''

मैंने कहा, ''बेचारे विधाता को व्यर्थ में दोष मत दो। तुमने बेटे का विवाह किया है— इसलिए दो पुत्रवधुएं तुमने बढ़ायी हैं। और बेटे का विवाह किया है, इसीलिए तो तीन नाती नातिनें तुमने बढ़ायी हैं।''

रामधन ने कातर होकर कहा, ''महाशय, मुझे इस तरह और मत दु:खी कीजिए, यमराज के दंड से कुछ दिन पहले मेरा एक नाती मारा गया है।''

मैंने दु:ख प्रकट करते हुए पूछा, ''वह कैसे चला गया रामधन!''

रामधन ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसे कोंचकर, कई तरह के सवाल, जवाब कर, अंत में यह जान सका कि वह अनाहार से मारा गया है। माता बीमार थी, उसके स्तनों में दूध नहीं था। रामधन की गाय मर गयी थी— दूध खरीदने के लिए पैसा नहीं था। लड़का आहार के अभाव में पेट की पीड़ा भुगत कर मर गया।[1]

अब मैंने रामधन से पूछा, ''इसके बाद छोटे लड़के का विवाह करोगे?''

रामधन ने कहा, ''रुपये का जुगाड़ हो जाने पर करूंगा।''

मैंने कहा, ''अभी जितने हैं, उन्हें ही खाने को नहीं दे पा रहे हो— और सदस्य क्यों बढ़ाओगे? विवाह करने पर बहू आएगी— उसके लिए भी आहार चाहिए होगा। इसके बाद उसके पेट से दो-चार का जन्म और होगा— उनके लिए भी आहार चाहिए। अभी ही पूरा नहीं पड़ता— ऊपर से फिर विवाह।''

रामधन चिढ़-सा गया। बोला, ''बेटे का विवाह कौन नहीं करता? जिसे खाने को मिलता है, वह भी करता है, जिसे खाने को नहीं मिलता, वह भी करता है।

मैंने कहा, ''जिसे खाने को नहीं मिलता, उसके बेटे का विवाह क्या अच्छी बात है?''

---

1. अनाहार का एक परिणाम है पेट की पीड़ा, यह बात सबकी जानकारी में नहीं भी हो सकती।

रामधन ने कहा, "सारी दुनिया में ही यही होता है।"

मैंने कहा, "सारी दुनियां में नहीं रामधन, केवल इस देश में। इस प्रकार की निर्बोध जाति और किसी देश में नहीं है।"

रामधन ने उत्तर दिया, "जब समूचे देश के लोग यही करते हैं, तो फिर मुझसे ही कौन-सा बड़ा दोष हो गया।"

इस प्रकार के निर्बोध व्यक्ति को किस प्रकार समझाऊं? मैंने कहा, "रामधन! अगर सारे देश के लोग गले में फंदा लगा लें तो क्या तुम भी गले में फंदा डाल लोगे?"

रामधन ने झींकना शुरू कर दिया, 'महाशय, आप कह क्या रहे हैं? गले में फंदा डालना और बेटे का विवाह करना क्या एक समान है?"

मुझे भी गुस्सा आ गया, मैंने कहा, "समान कौन कह रहा है रामधन। ऐसी व्यवस्था में बेटे का विवाह करने से कहीं अच्छा है, गले में फंदा डाल लेना। अगर अपने गले में न डाल पाओ तो लड़के के गले में डाल देना।"

यह कहकर मैं आसन से उठकर चला आया। घर आकर जब गुस्सा कुछ कम हुआ तो सोचने लगा, गरीब रामधन का अपराध क्या है? पूरा बंगाल ऐसे ही रामधनों से भरा पड़ा है। यह तो गरीब पोद का बेटा है— विद्या बुद्धि उसमें कुछ है नहीं। जो लोग अपने को पढ़ा-लिखा बताते हैं, वे भी रामधन ही हैं। घर में खाने को हो चाहे नहीं— लड़के का विवाह पहले करेंगे। केवल भारत में दाल के छींटे दे कर सात पीढ़ी से भोजन कर के जिनकी देह काठ के आकार की हो गयी है— ज्वर-खांसी में ही व्यस्त रहती है— लेकिन फिर भी अखाद्य खाने के लिए— उस अखाद्य में हिस्सा बंटाने के लिए उस ज्वर-खांसी में हिस्सा बंटाने के लिए पैसा खर्च करके दूसरे की लड़की को विवाह करके लानी ही पड़ेगी। मनुष्य जन्म में यही उनका सुख है। बंगाली होकर जो अपने बेटे का विवाह नहीं कर सका, उसका बंगाली जन्म वृथा गया। लेकिन लड़के का विवाह कर देने पर, लड़का बेचारी बहू को खिला भी पाएगा या नहीं, ऐसा सोचने का कोई प्रयोजन है, इसकी विवेचना भी नहीं करते। उस तरफ स्कूल से बाहर निकलते न निकलते लड़का एक छोटी-सी पलटन का बाप बन जाता है— रसद की जुगाड़ में बाप-पितामह अस्थिर। गरीब विवाहित स्कूल छोड़कर, पोथी-पत्री फाड़-फूड़कर, चाकरी कर उम्मीदवारी में प्राण समर्पित कर देता है। हाथ जोड़कर अंग्रेजों के द्वारे-द्वारे हा! चाकरी! हा, चाकरी!

करता फिरता है। हो सकता है, वह लड़का सचमुच एक आदमी बन जाता। हो सकता है उस वक्त अपना रास्ता पहचान कर वह जीवन क्षेत्र में प्रवेश करता तो अपना जीवन सार्थक कर लेता। लेकिन रास्ता पहचानने से पहले ही वे सारी बातें खत्म हो गयीं— उम्मीदवारी की यंत्रणा में और चाकरी की प्रतीक्षा में— संसार धर्म की ज्वाला में— अंतर और शरीर विकल हो उठे। विवाह हो गया— लड़का हो गया, पथ ढूंढ़ने का और अवसर बाकी नहीं बचा— अब एकमात्र वही पथ खुला रह गया है— उम्मीदवारी। अब लोगों का उपकार करने की कोई संभावना नहीं रही— क्योंकि अपनी स्त्री कन्या और पुत्र की देखभाल से ही छुटकारा नहीं है— वे रात दिन अपनी फरमाइशें लिए बैठे हैं। अब देश के हितसाधन की क्षमता बाकी नहीं रही, स्त्री पुत्र के हितसाधन में ही सर्वस्व होम कर देना पड़ता है। लिखने-पढ़ने में, धर्मचिंता में— इन सबसे अब और कोई संबंध नहीं रहा— लड़के का रोना बंद कराने में ही दिन चला जाता है। जो रुपये लड़का पैट्रियाटिक एसोशिएशन को चंदे के रूप में दे सकता था, उससे उसने बहू ठकुरानी के लिए बालियां गढ़वा दी हैं। बंगाल के जो बहुतेरे रामधन हैं, उन्हें लगता रहता है कि अगर बाल्यावस्था में ही उन्होंने लड़के का विवाह नहीं कर दिया तो उन्होंने लड़के का भी सर्वनाश कर डाला और अपना भी। लड़का होने से उसका विवाह करना ही पड़ेगा, और मां-बाप का प्रधान कार्य है— शैशवावस्था में ही बेटे का विवाह करना— इस प्रकार का भयानक भ्रम जिस देश में सर्वव्यापी है, उस देश का मंगल कैसे होगा? जिस देश में मां-बाप, लड़के के तैरना सीखते न सीखते उसके गले में बहुरूपी पात्र बांध देते हैं, लड़के को इस दुस्तर संसार समुद्र में फेंक देते हैं, उस देश की उन्नति कैसे होगी?

(1288 भाद्र। ''विविध प्रबंध'')

मनुष्यत्व क्या है?

गुरु: मनुष्यत्व को समझ लेने पर धर्म को सहज ही समझ सकोगे। इसीलिए पहले मनुष्यत्व समझा रहा हूँ। मनुष्यत्व को समझने से पहले वृक्षत्व को समझो। यह घास देख रहे हो, और यह एक वटवृक्ष देख रहे हो— दोनों क्या एक ही जाति के हैं?

शिष्य: हां, एक हिसाब से एक ही जाति के हैं। दोनों ही उद्भिद हैं।

गरु: दोनों को ही क्या वृक्ष कहेंगे?

शिष्य: नहीं, वट को ही वृक्ष कहेंगे— वह तो तृण मात्र है।

गुरु: यह प्रभेद क्यों?

शिष्य: तना, शाखा, पल्लव, फूल, फल— इन सबों से वृक्ष बनता है। वट में ये सब है, घास में ये सब नहीं है।

गुरु: घास में भी ये सब हैं— हां, क्षुद्र, अपरिणत। घास को वृक्ष नहीं कहोगे?

शिष्य: घास और वृक्ष?

गुरु: अगर घास को वृक्ष नहीं कहोगे तो फिर जिसमें मनुष्य की समस्त वृत्तियां पल्लवित नहीं हुईं, उसे मनुष्य नहीं कहा जा सकता। जिस तरह घास में उद्भित्व है, उसी तरह कुछ वन्य जीवों में भी मनुष्यत्व है। लेकिन जिस उद्भित्व को वृक्षत्व कहते हैं, वह जिस प्रकार घास में नहीं है, उसी प्रकार जो मनुष्यत्व मनुष्य-धर्म है, सब जीवों में वह मनुष्यत्व नहीं है। वृक्षत्व का उदाहरण छोड़ना मत, उसी से समझोगे। यह बंसवारी देख रहे हो, इसको वृक्ष कहोगे?

शिष्य: लगता है, नहीं कहूंगा। इसके तना, शाखा और पल्लव हैं, लेकिन यह क्या, इसमें फल-फूल नहीं आते, इसकी सर्वांगीण परिणति नहीं है, इसको वृक्ष नहीं कहूंगा।

गुरु: तुम अनभिज्ञ हो। पचास-साठ वर्ष पर इसमें फूल आते हैं। फूल के बाद, फल होते हैं— चावल जैसे। हां, चावल जैसे, उनसे भात भी बनता है।

शिष्य: फिर तो बांस को वृक्ष कहूंगा।

गुरु: वैसे तो बाँस तृण मात्र है। घास का एक तिनका तोड़कर, बाँस के साथ उसकी तुलना करो— वह तिनके से मेल खाता हुआ लगेगा। उद्भिद विद् बांस की गणना तृण श्रेणी में ही करते रहे हैं। अतएव देखो, स्फूर्ति गुण के कारण तृण-तृण में कितना फर्क है। फिर भी बांस में सर्वांगीण स्फूर्ति नहीं है। जिस अवस्था में मनुष्य की सर्वांगीण परिणति संपूर्ण होती है, उसी अवस्था को मैं मनुष्यत्व कहता हूं!

शिष्य: इस तरह की परिणति क्या धर्म द्वारा आयत्त होती है।

गुरु: इस रूप में उद्भिद की उत्कर्ष-परिणति, कई चेष्टाओं का फल होती है, लौकिक व्यवहार में इसे कर्षण या पाट कहते हैं। यह कर्षण कहीं मनुष्य द्वारा होता है, कहीं प्रकृति के द्वारा होता है। एक और सामान्य उदाहरण दूंगा। कोई देवता अगर तुमसे आकर यह कहे कि वृक्ष और घास, इन दोनों को एक साथ पृथ्वी पर नहीं रखूंगा। या तो सारे वृक्ष नष्ट कर दूंगा या सब तृण नष्ट कर दूंगा। तो तुम क्या चाहोगे? वृक्ष रखना चाहोगे या घास रखना चाहोगे?

शिष्य: वृक्ष रखूंगा, इसमें संदेह कहां है? घास न रहने पर गाय बकरी को कुछ कष्ट होगा लेकिन वृक्ष न रहने पर आम, कटहल, प्रभृति फलों से वंचित हो जाऊंगा।

गुरु: मूर्ख! पृथ्वी से तृण जाति तिरोहित हो जाने पर अन्नाभाव से मारे नहीं जाओगे? क्या जानते नहीं हो, धान भी तृण जाति का है? जो देख रहे हो, उसे अच्छी तरह जाकर देख आओ। धान का पाट होने से पहले धान भी इसी प्रकार का था। केवल कर्षण के कारण जीवनदायिनी लक्ष्मी सम तुल्य हो गया है। गेहूं भी इसी प्रकार का है। जिस फूलगोभी से अन्न की राशि का संहार करते हो, वह भी आदिम अवस्था में समुद्रतीर वासी तिक्तस्वाद कदर्य उद्भिद थी— कर्षण के कारण इस अवस्थान्तर को प्राप्त हुई है। उद्भिद के पक्ष में कर्षण जो कुछ है, मनुष्य के लिए अपनी

वृत्तियों का अनुशीलन ठीक नहीं है, इसीलिए अंग्रेजी में दोनों को Culture! कहते है। इसलिए यह कहा गया है कि 'The Substance of Religion is Culture' मानव वृत्तियों का उत्कर्ष ही धर्म है।

शिष्य: स्थूल बातों से भी कुछ समझ नहीं सका— मनुष्य की सर्वांगीण परिणति किसे कहते हैं?

गुरु: अंकुर का ही परिणाम है, महामहीरुह। माटी में खोजो, हो सकता है एक अति क्षुद्रप्राय, अदृश्य अंकुर देखने को मिले। अंततः वह अंकुर उसी प्रकांड वटवृक्ष की तरह एक वृक्ष बनेगा। लेकिन इसके लिए उसका कर्षण चाहिए— किसान लोग जिसको पेड़ का पाट कहते हैं, वह चाहिए। सरस माटी चाहिए— जल के बिना काम नहीं चलेगा। धूप चाहिए, केवल छांह में रहने से काम नहीं चलेगा। जो सामग्री वृक्ष शरीर के लिए प्रयोजनीय है, वह माटी में होनी चाहिए— वृक्ष की जाति विशेष के लिए माटी में खास तरह की उर्वरता चाहिए। घेरा चाहिए। इत्यादि। यह सब होने पर अंकुर को सुवृक्षत्व प्राप्त होगा। मनुष्य भी इसी प्रकार का है। यह जो शिशु देख रहे हो, वह मनुष्य का अंकुर है। कर्षण से अर्थात अनुशीलन से यह प्रकृत मनुष्यत्व को प्राप्त करेगा। परिणामस्वरूप सर्वगुण युक्त, सर्व सुख-संपन्न मनुष्य बन सकेगा। यही मनुष्य की परिणति है।

शिष्य: कुछ भी नहीं समझ सका। क्या सभी मनुष्य सर्वमुखी, सर्वगुणयुक्त हो सकते हैं?

गुरु: कभी हो सकेंगे कि नहीं, यह सवाल अभी उठाने से कोई लाभ नहीं है। उस पर काफी सोच-विचार करना पड़ेगा। फिर भी यह स्वीकार करूंगा, कि अब तक कोई वैसा बन नहीं सका है। और सहसा किसी के बनने की संभावना भी नहीं है। पर मैं जिस धर्म के व्याख्यान में प्रवृत्त हूं, उसके अवलंबन से इतना जरूर होगा कि लोग सर्वगुण अर्जन करने के यत्न में बहुगुण संपन्न हो सकेंगे, सर्व सुख लाभ की चेष्टा में बहु सुख लाभ के भागीदार बन सकेंगे।

शिष्य: मुझे क्षमा करें — मनुष्य की सर्वांगीण परिणति किसे कहते हैं, यह अभी भी मैं ठीक से नहीं समझ पाया।

गुरु: चेष्टा करो। मनुष्य के दो अंग हैं, एक शरीर है और एक मन। फिर शरीर के कई प्रत्यंग हैं। जैसे, हाथ, पैर आदि कर्मेंद्रिया, आंख, कान आदि ज्ञानेंद्रियां, मस्तिष्क, हृदय, वायुकोष, आंत्र प्रभृत्ति जीवन संचालन प्रत्यंग, अस्थि, मज्जा, मेद, मांस, शोणित प्रभृत्ति शारीरिक उपादान, एवं क्षुधा पिपासादि शारीरिक वृत्तियां। इस सबकी स्वाभाविक परिणति चाहिए और मन के भी कितने प्रत्यंग हैं।

शिष्य: मन की कथा बाद में सुनूंगा, अभी तो शारीरिक परिणति की बात अच्छी तरह समझाइए। शारीरिक प्रत्यंगों की किस प्रकार की परिणति साधनी पड़ेगी? शिशु की ये क्षुद्र दुर्बल बाहें वय के गुण से स्वयं ही वर्द्धित और बलशाली होंगी। इसके अलावा और क्या चाहिए।

गुरु: तुम जिस स्वभाविक परिणति की बात कर रहे हो, उसके दो कारण हैं। मैं भी इन्हीं दो के ऊपर निर्भर कर रहा हूं। ये दो कारण हैं— शोषण और परिचालन। तुम किसी भी शिशु की एक बांह को, कंधे के पास किसी दृढ़ बंधन द्वारा बांध दो, ताकि बांह में और रक्त न प्रवाहित हो सके। ऐसा होने पर यह बांह और नहीं बढ़ेगी या तो अवश या दुर्बल या फिर अकर्मण्य रह जायेगी। क्योंकि जिस रक्त से उसकी बांह और पुष्ट होती, उसे अब वह मिलेगा नहीं। अब, और बांधने की जरूरत नहीं है, लेकिन ऐसा कोई बंदोबस्त करो कि शिशु फिर अपनी बांह कभी उठा न सके। ऐसा होने पर वह हाथ अवश और अकर्मण्य हो जायेगा, अंतत: हस्त संचालन में जो क्षिप्रकारित जैव कार्यों में प्रयोजनीय हैं, तह कभी आ नहीं सकेगी। ऊर्द्ध बाहु वालों की बाहें देखी हैं न?

शिष्य: समझा, अनुशीलन गुण के कारण शिशु की कोमल क्षुद्र बांह परिणत होकर वयस्क मनुष्य की बांह के विस्तार, बल और क्षिप्रकारिता को प्राप्त होती है। लेकिन यह तो सबके साथ सहज ही घटित होता है। और क्या चाहिए?

गुरु: अपनी बाहु से इस उद्यान के माली की बाहु की तुलना करके देखो। तुम अपनी बाहु स्थित अंगुलियों को अनुशीलन से इस रूप में परिणत कर सके हो कि यहीं पर पांच मिनट में तुम दो

पृष्ठ कागज में लिखकर फेंक सकते हो। लेकिन यह माली दस दिन तक चेष्टा करने पर भी तुम्हारे जैसा 'क' नहीं लिख सकता। तुम बिना सोचे विचारे अनायास ही जिस स्थान पर जिस आकार के अक्षर का प्रयोजन है, वह लिखते जा रहे हो, यह उसके लिए अत्यंत विस्मयकर है, वह इसे किसी भी प्रकार समझ नहीं पा रहा। सचराचर में बहुतेरे लिखना जानते हैं, इसीलिए सभ्य समाज में लिपिविद्या विस्मयकर अनुशीलन के रूप में नहीं देखी जाती। लेकिन जो निरक्षर हैं, उनके लिए तो यह अत्यंत विस्मयकर है। देखो, एक शब्द लिखने जाकर, मान लो यही अनुशीलन शब्द लिखने जाकर —पहले इस शब्द का विश्लेषण करके इसमें व्यवहृत अक्षरों को स्थिर करना पड़ता है, विश्लेषण से पता चलेगा, अ, च, उ, श, ई, ल, न। इन्हें पहले कानों से, फिर प्रत्येक के चाक्षुष रूप को विचार कर आंखों के सामने लाना पड़ता है। एक-एक अवयव मन में उभरेगा और हर एक को कागज पर अंकित करना पड़ेगा। और तुम इतनी जल्दी-जल्दी लिखोगे कि मालूम पड़ेगा कि तुम किसी प्रकार की मानसिक चिंता नहीं कर रहे हो। अनुशीलन गुण के कारण अनेक लोग इस असाधारण कौशल में कुशल बन जाते हैं। अनुशीलन जनित और भी प्रभेद इस माली से तुलना करते हुए दिखाई पड़ सकते हैं। तुम जिस प्रकार पांच मिनट में कागज के दो पन्ने लिख डालोगे, माली उसी प्रकार पांच मिनट में एक कट्ठा जमीन में कुदाल चला देगा। तुम दो घंटे में, हो सकता है दो प्रहर में भी वैसा नहीं कर पाओगे। इस विषय में, इस काम में, तुम्हारी बाहु उपयुक्त रूप से चालित अर्थात अनुशीलित नहीं हुई, समुचित परिणति को प्राप्त नहीं हुई। अतएव तुम्हारा और माली का हाथ, किन्हीं अर्थों में अपरिणत है, सर्वांगीण परिणति को प्राप्त नहीं हुआ। अब एक शिक्षित गायक के साथ अपनी तुलना करके देखो। संभव है शैशव में तुम्हारे कंठ में और नायक के कंठ में विशेष तारतम्य नहीं रहा हो, संसार के अनेक गायकों की आवाज अच्छी हो जाती है, उसके कंठ की सर्वांगीण परिणति हो गयी है। और देखो, कहो तो, तुम कितने कोस पैदल चल सकते हो?

शिष्य: मैं ज्यादा नहीं चल सकता, जोर लगाकर एक कोस पैदल चल सकता हूं

गुरु: तुम्हारे पैरों की सर्वांगीण परिणति नहीं हुई। देखो तुम्हारे हाथ, पैर, गले-तीनों की सहज पुष्टि और परिणति हुई है— लेकिन इनकी भी सर्वांगीण परिणति नहीं हुई है। और सकल शारीरिक प्रत्यंगों के साथ भी यही पाओगे। शारीरिक प्रत्यंग मात्र की सर्वांगीण परिणति न होने पर, यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वांगीण शारीरिक परिणति हुई है, क्योंकि भग्नांशों की पूर्णता ही सोलह आने पूर्णता है। एक आना या आधा पैसा कम होने पर, पूरे रुपये में कमी रह जाती है। जिस प्रकार शरीर के संबंध में तुम्हें समझाया है, वैसा ही मन के संबंध में भी मानना। मन के भी अनेक प्रत्यंग हैं, इन्हें वृत्तियां कहा गया है। कई वृत्तियों का काम ज्ञानार्जन और विचार है। कई वृत्तियों की उपयोगिता किन्हीं कार्यों की ओर प्रवृत्त करने में है— जैसे, भक्ति, प्रीति, दया आदि। कई वृत्तियों का काम आनंद का उपभोग करना है, हृदय में सौंदर्य को ग्रहण करना, रस ग्रहण करना, मनोविनोद करना। इन तीनों प्रकार की सभी मानसिक वृत्तियों की पुष्टि और उनका सम्पूर्ण विकास ही सर्वांगीण मानसिक परिणति है।

शिष्य: अर्थात ज्ञान में पांडित्य, विचार में दक्षता, कार्य में तत्परता, चित्त में धर्मात्मा एवं सुरस में रसिकता, ये सब होने पर ही सर्वांगीण मानसिक विकास होगा। और इसके ऊपर है सर्वांगीण शारीरिक विकास अर्थात शरीर बलिष्ठ, स्वस्थ एवं शारीरिक क्रियाओं में सर्वाधिक सुदक्ष होना चाहिए। कृष्ण अर्जुन और श्रीराम लक्ष्मण के अतिरिक्त और कोई इस प्रकार का हुआ था या नहीं, यह तो सुना नहीं।

गुरु: जो मनुष्य जाति में उत्कृष्ट हैं, उन्होंने यह चेष्टा की कि वे यह बात स्वीकार नहीं करेंगे कि संपूर्ण रूप से मनुष्यत्व नहीं प्राप्त किया जा सकता। हमें इसका भरोसा है कि युगांतर में जब मनुष्य जाति प्रकृति स्थिति को प्राप्त होगी तब अनेक मनुष्य इस आदर्श के अनुयायी बनेंगे। संस्कृत ग्रंथों में प्राचीन भारतवर्ष के क्षत्रिय राजगणों का जो वर्णन मिलता है, उससे यह पता चलता है कि उन राजगणों ने इन मनुष्यत्व को प्राप्त किया था। यह वर्णन अधिकतर लेखकों द्वारा कपोलकल्पित था इसमें संदेह नहीं। किंतु इस प्रकार की राजगुण वर्णना जिन स्थलों में सहज सामान्य है,

उन स्थलों से यही अनुमान होता है कि इस प्रकार का एक आदर्श उस काल के ब्राह्मण क्षत्रियों के सम्मुख था। मैं भी उसी प्रकार का आदर्श तुम्हारे समक्ष स्थापित कर रहा हूँ। जो जैसा बनना चाहता है, उसके सम्मुख उसका सर्वांग संपन्न आदर्श रहना चाहिए। वह ठीक उसके आदर्शानुरूप नहीं भी हो सकता, उसका निकटवर्ती होगा। सोलह आने का मूल्य न जानने पर, आठ आना पाने की कामना भला कौन नहीं करता। जो शिशु यह नहीं जानता कि एक रुपये में सोलह आने होते हैं, वह रुपये के मूल्यस्वरूप चार पैसे पाकर ही संतुष्ट हो सकता है।

शिष्य: इस प्रकार का आदर्श कहां पाऊंगा। ऐसा मनुष्य तो देखा नहीं।

गुरु: मनुष्य नहीं देखा तो क्या, ईश्वर हैं। ईश्वर ही सर्वगुणों की सर्वांगीण स्फूर्ति और चरम परिणति का एकमात्र उदाहरण हैं। इसीलिए वेदांत के निर्गुण ईश्वर में, धर्म सम्यक् धर्मत्व नहीं प्राप्त होता, क्योंकि जो निर्गुण हैं, वे हमारे आदर्श नहीं हो सकते। जिसे अद्वैतवादियों ने 'एकमेवाद्वितीयम्' चैतन्य कहकर अथवा जिसे हर्बर्ट स्पेंसर ने 'Inscrutable Power in Nature' कहकर ईश्वर के स्थान पर संस्थापित किया है— अर्थात जो केवल दार्शनिक और वैज्ञानिक ईश्वर हैं, उनकी उपासना से धर्म संपूर्ण नहीं होता। हमारे पुराण इतिहास में या ईसाइयों की धर्म पुस्तक में कथित सगुण ईश्वर की उपासना ही धर्म का मूल है, क्योंकि वे हमारे आदर्श हो सकते हैं। जो अद्वैतवादियों के लिए Impersonal God कहते हैं, उनकी उपासना निष्फल है, जिसको Personal God कहते हैं, उन्हीं की उपासना सफल है।

शिष्य: मान लिया कि सगुण ईश्वर को ही आदर्शस्वरूप मानना पड़ेगा। लेकिन उपासना का प्रयोजन क्या है?

गुरु: ईश्वर को हम देख नहीं पाते। उनको देख देखकर चल सकेंगे, ऐसी संभावना नहीं है, केवल मन में उनका ध्यान कर सकते हैं। यह ध्यान ही उपासना है। लेकिन बेगार टालने की तरह ध्यान करने का कोई लाभ नहीं है। केवल संध्या वंदना रटने से कोई फल नहीं मिलता। उनके सर्वगुण संपन्न विशुद्ध स्वभाव के ऊपर चित्त को स्थिर करना पड़ेगा, भक्तिभाव से हृदय में उनका ध्यान करना होगा। प्रीति के साथ हृदय को उनके सम्मुख करना पड़ेगा।

उनके स्वभाव के आदर्श में ही हमारे स्वभाव का गठन होता रहे, मन में इस संकल्प को दृढ़ करता होगा, — ऐसा होने पर ही उस पवित्र चरित्र की विमल ज्योति हमारे चरित्र पर पड़ेगी। उनकी निर्मलता जैसी निर्मलता की, उनकी शक्ति की अनुकारी सर्वत्र-मंगलमय शक्ति की कामना करनी पड़ेगी। उनको सर्वदा निकट मानना होगा, उनके स्वभाव के साथ अपने स्वभाव को एकात्म कर देने की चेष्टा करनी पड़ेगी। अर्थात उनके समीप्य, सारूप्य, सायुज्य की कामना करनी पड़ेगी। ऐसा होने पर ही हमें क्रमशः ईश्वर के निकट होना पड़ेगा। आर्य ऋषियों का विश्वास और साम्राज्य को प्राप्त होंगे— ईश्वर के साथ एक हो सकेंगे, ईश्वर में ही लीन होंगे। इसी को मोक्ष कहते है। मोक्ष और कुछ नहीं है— ईश्वर की आदर्श-छवि के अनुसार स्वभाव-प्राप्ति ही मोक्ष है। इसे पा लेने पर सब दु:खों से मुक्ति हो जाती है, और सकल सुखों का अधिकारी हुआ जा सकता है।

शिष्य: मैं अब तक यही समझता था कि ईश्वर एक समुद्र है, और मैं एक हथेली जल हूँ, मुझे उस समुद्र में जाकर मिलना है।

गुरु: उपासना-तत्व के सार मर्म को हिंदुओं ने जिस प्रकार समझा था, उस तरह और कोई जाति नहीं समझ पायी। अब वह परम रमणीय और सुसार उपासना पद्धति एक ओर आत्मपीड़न में, दूसरी ओर रंगदारी में परिणत हो गयी है।

शिष्य: अब मुझे एक बात और समझाइये। मनुष्य की प्रवृत्ति में मनुष्यत्व का, अर्थात सर्वांग-संपन्न स्वभाव का आदर्श नहीं है, इसलिए ईश्वर का ध्यान करना पड़ेगा। लेकिन ईश्वर की प्रवृत्ति अनंत है। हम क्षुद्र प्रवृत्ति के हैं। उनके गुण संख्या में भी अनंत है, विस्तार में भी अनंत है। जो क्षुद्र है, उसके आदर्श अनंत किस प्रकार होंगे। समुद्र के आदर्श को क्या तालाब में घटित किया जा सकता है या आकाश को चंद्रमा में घटित किया जा सकता है।

गुरु: इसीलिए धर्म इतिहास का प्रयोजन है। धर्म इतिहास का आदर्श न्यू टेस्टामेंट है, और हमारे पुराण-इतिहास में प्रवृत्त धार्मिक लोगों का चरित्र व्याख्यायित रहता है। अनंत प्रवृत्ति ईश्वर, उपासक की प्रथमावस्था में उसके आदर्श नहीं हो सकते। यह सच है, लेकिन ईश्वर के अनुकारी मनुष्य, अर्थात जिनके गुणाधिक्य को देखकर

ईश्वरांश की विवेचना की जा सकती है, अथवा जिनको मानव देहधारी ईश्वर की प्रतिछवि के रूप में देखा जा सकता है, वही वांछनीय आदर्श हो सकते हैं। इसीलिए यीशु ईसाइयों के आदर्श हैं, शाक्य सिंह बौद्धों के आदर्श हैं। लेकिन इस प्रकार का धर्म परिवर्द्धक आदर्श जिस रूप में हिंदू शास्त्रों में है, उस प्रकार का पृथ्वी की और किसी धर्मपुस्तक में नहीं है— किसी जाति के बीच प्रसिद्ध नहीं है। जनकादि राजर्षि, नारदादि देवर्षि, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि, सभी अनुशीलन के चरम आदर्श हैं। उनके ऊपर श्रीरामचन्द्र, युधिष्ठिर, अर्जुन, लक्ष्मण, देवव्रत, भीष्म प्रभृति क्षत्रियगण, और भी संपूर्णता प्राप्त आदर्श हैं। क्राइस्ट और शाक्य सिंह केवल उदासीन, कौपीनधारी निर्मम धर्मवेत्ता हैं। लेकिन ये वैसे नहीं हैं। ये सर्वगुण विशिष्ट हैं— इन्हीं से सर्ववृत्ति, सर्वांग संपन्न स्फूर्ति को बल मिला है। ये सिंहासन पर बैठकर भी उदासीन रहे, कामकाज करते हुए भी धर्मवेत्ता बने रहे, राजा होकर भी पंडित रहे, शक्तिमान होकर भी सबके प्रिय रहे। लेकिन इन सभी आदर्शों के ऊपर हिंदुओं का एक और आदर्श है; जिसके निकट अन्य सभी आदर्श छोटे पड़ जाते हैं—युधिष्ठिर जिनसे धर्म की शिक्षा लेते हैं, स्वयं अर्जुन जिनके शिष्य हैं, राम और लक्ष्मण जिनके अंश मात्र हैं, जिनके सरीखा महिमामय चरित्र कभी मनुष्य भाषा में कीर्तित नहीं हुआ। आओ, आज तुम्हें कृष्णोपासना में दीक्षित करूं।

शिष्य: यह कृष्ण कौन है?

गुरु: तुम केवल जयदेव के कृष्ण को या जात्रा के कृष्ण को पहचानते हो— इसीलिए सिहर रहे हो। उसका भी संपूर्ण अर्थ नहीं जानते। उसके पश्चात, ईश्वर के सर्वगुणों से संपन्न जो कृष्ण चरित कीर्तित है, उसके बारे में भी कुछ नहीं जानते। उनकी शारीरिक वृत्ति सकल सर्वांगीण स्फूर्ति प्राप्त कर अननुभवनीय सौंदर्य एवं अपरिमेय बल में परिणत हुई हैं, उनकी संपूर्ण मानसिक वृत्ति भी इसी प्रकार स्फूर्ति प्राप्त करके सर्वलोकातीत विद्या, शिक्षा, वीर्य एवं ज्ञान में परिणत हुई हैं, और प्रीतिवृत्ति को तद्नुरूप परिणत करने में वे सर्वलोकों में सबके हित में रत हैं। इसीलिए उन्होंने कहा है—

पवित्राय साधुनाम विनाशाय च दुष्कृताम।
धर्म संरक्षनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

जिन्होंने बाहुबल से दुष्टों का दमन किया है, बुद्धिबल से भारतवर्ष को एकीभूत किया है, ज्ञानबल से अपूर्व निष्काम धर्म का प्रचार किया है, मैं उन्हीं को नमस्कार करता हूं। जो केवल प्रेममय वाणी से, निष्काम रहकर मनुष्य के लिए दुष्कर ये सभी कार्य कर सके हैं, जो बाहुबल से सर्वजयी हैं और दूसरे के साम्राज्य स्थापन के कर्त्ता होकर भी जिन्होंने स्वयं सिंहासन का आरोहण नहीं किया है, जिन्होंने शिशुपाल जैसे अपराधी के अपराध को क्षमा करके क्षमागुण का प्रचार किया था, इसके बाद केवल जरूरी दंड के भागी लोगों को ही दंड दिया था, जिन्होंने वेद प्रबल देश में, वेद प्रबल समय में कहा था, ''वेद में धर्म नहीं है— धर्म लोकहित में है—'' वे ईश्वर हों या न हों, मैं उन्हें नमस्कार करता हूं। जो एक आधार में, शाक्य सिंह, यीशु क्राइस्ट, मोहम्मद और रामचंद्र, जो सर्वबलाधार, सर्वगुणाधार सर्वधर्मवेत्ता हैं, सर्वत्र प्रेममय हैं, वे ईश्वर हों या न हों, मैं उन्हें नमस्कार करता हूं।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व:।
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।

(1291 भाद्र। 'धर्मत्व')

धर्म एवं साहित्य

मैं 'प्रचार' का एक लेखक हूं। यह जानकर प्रचार के एक पाठक ने मुझसे कहा, ''प्रचार में इतने धर्मविषयक प्रबंध अच्छे नहीं लगते। हमारी दो-एक बातें न रहने पर उसे पढ़ना कठिन हो जाता है।''

मैंने कहा, ''क्यों, क्या उपन्यास से तुम्हारा मनोरंजन नहीं होता? हर अंक में एक उपन्यास प्रकाशित होता है।''

उन्होंने कहा, ''केवल इतने से तो काम नहीं चलता।''

'प्रचार' तीन फर्मे का है, उसका एक फर्मा एक उपन्यास, कभी अधिक भी, कभी कुछ कम होता है। यह भी अपर्याप्त है। इसके बाद तीन फर्मों में जो कुछ बचता है, वह भी किसी न किसी रूप में कविता इत्यादि से काफी कुछ भर जाता है, धर्मविषयक एकाध निबंध किसी कोने में पड़ा रहता है। फिर भी, इस पाठक को वह भी अच्छा नहीं लगता। ऐसा भान होता है कि और भी अनेक ऐसे पाठक हैं, जिनको धर्मविषयक प्रबंध तिक्त लगते हैं। इस प्रबंध का उद्देश्य, उनसे यह जानना है कि धर्म क्यों तिक्त लगता है, उपन्यास रंगरस क्यों अच्छा लगता है?

हमारी यह इच्छा है, पाठक! आप जरा सोच-विचार कर इसका उत्तर स्थिर करें। आप अगर अपना उत्तर स्वयं स्थिर कर लेंगे तो इससे सब पाठकों का उपकार होगा, क्योंकि कोई चाहे जितनी प्रकार की शिक्षा दे ले, उससे उस प्रकार का उपकार नहीं होगा जैसा कि आप द्वारा स्वयं इसका उत्तर स्थिर करने पर होगा। फिर भी हम उनकी कुछ सहायता कर सकते हैं।

शिक्षकों द्वारा जिस रूप में पृथ्वी पर साधारण धर्म संस्थापित हुआ है, वह जरूर ही अप्रीतिकर है। इस देश में धर्म के आधुनिक आचार्यों ने जिस हिंदू धर्म को व्याख्यायित एवं रक्षित किया है, उसकी मूर्ति भयानक है। उपवास, प्रायश्चित, पृथ्वी के समस्त सुखों से वैराग्य, आत्मपीड़न, यही

अध्यापक और पुरोहित महाशय के निकट धर्म है। ग्रीष्म काल में अतिशय उत्तप्त और तृषापीड़ित होकर अगर एक गिलास बर्फ का पानी पी लिया, तो हमारा धर्म नष्ट हो गया। ज्वार विकार से रोग शैय्या पर कष्ट के मारे प्राण निकल रहे हैं, डाक्टर ने अगर हमारे प्राणरक्षार्थ औषधि के साथ पांच बूंद ब्रांडी पिला दी, तो हमारा धर्म चला गया।[1] आठ वर्ष की कुमारी कन्या विधवा हो गयी है, ब्रह्मचर्य के बारे में वह कुछ भी नहीं जानती, जिसमें साठ वर्ष के बूढ़े भी दुराचरणीय हैं, उस ब्रह्मचर्य के पीड़न में उसे पीड़ित करके रुलाना होगा, खुद भी रोना होगा, परिवार को रुलाना होगा, नहीं तो धर्म नहीं रहेगा। धर्मोपार्जन के लिए केवल पुरोहित महाशय को दो, गुरु ठाकुर को दो; निष्कर्म, स्वार्थपर, लोभी, कुकर्मासक्त विक्षीपजीवी ब्राह्मणों को दो; प्राणपण से अर्जित अपना सब धन अपात्रों पर लुटा दो। यह रूप धर्म का रूप नहीं है— एक पैशाचिक कल्पना है। फिर भी हम बाल्यकाल से इसी को धर्म नाम से अभिहित होता देखते सुनते आ रहे हैं। पाठक अगर इसे पिशाच या राक्षस मानकर इससे डरेंगे, एवं इसका नाम मात्र सुनकर इसे परित्याग करेंगे तो यह संगत ही होगा।

जो 'शिक्षित' हैं अर्थात जिन्होंने अंग्रेजी पढ़ी है, वे इसे धर्म के रूप में नहीं मानते, लेकिन वे एक और विपत्ति में पड़ गये हैं। उन्होंने अंग्रेजी के साथ ईसाई धर्म भी सीख लिया है। इसके लिए बाईबिल नहीं पढ़नी पड़ती, विलायती साहित्य उस धर्म से परिप्लावित है। हम ईसाई धर्म ग्रहण करें या न करें, धर्म का नाम आते ही हमारे मन में वही धर्म उभरता है। लेकिन वह तो एक और भयंकर मूर्ति है। परमेश्वर का नाम आते ही उसी ईसाई परमेश्वर का ध्यान आता है। वह परमेश्वर इस पवित्र नाम के सर्वथा अयोग्य है। वह विश्व संसार के राजा कहलाते हैं, लेकिन इस प्रकार का प्रजापीड़क अत्याचारी विचार शून्य राजा कोई नरपिशाच भी नहीं हो सकता। वे एक क्षण के अति क्षुद्र अपराध की खातिर मनुष्य को अनंत काल तक दंडित करने का विधान करते हैं। छोटे बड़े सभी पाप का अनंत नरक हैं। निष्पाप के लिए भी अनंत नरक है— यदि वह ईसाई धर्म ग्रहण नहीं करता। जिसने कभी क्राइस्ट का नाम नहीं सुना, अतएव जिसके लिए ईसाई धर्म ग्रहण करने का सवाल नहीं उठता, उसके लिए भी इसी अपराध के

1. अनेक हिंदू इसीलिए डाक्टरी औषधि नहीं लेते।

कारण अनंत नरक का विधान है। जिसने हिंदू घर में जन्म लिया है, उसका इस हिंदू जन्म में कोई दोष नहीं है, परमेश्वर ने उसे स्वयं जहां भेजा है, वह उसी जगह पर आया है, अगर दोष है भी तो इसमें परमेश्वर का ही दोष है, तथापि उस दोष से उस गरीब को ही अनंत नरक मिलता है। जो ईसाई धर्म से पहले जनमे हैं और ईसाई धर्म ग्रहण ही नहीं कर सके, उनको भी इस ईश्वरकृत जन्म दोष से अनंत नरक मिलता है। इस अत्याचारी विश्वेश्वर का एकमात्र काम यही है कि वे रात, दिन प्रजा वर्ग के मन में घुस कर यही देखते हैं कि किसमें किस पाप भावना ने जन्म लिया है। जिसमें कहीं भी कोई व्यतिक्रम देखा, तत्काल उसके लिए अनंत नरक का विधान कर दिया। जो इस धर्म के आवर्त्त के मध्य पड़े हैं, वे चिरदिन उस महाविषाद के भय में जकड़े हुए, जीवनमृत होकर दिन काटते हैं। पृथ्वी का कोई भी सुख अब उनके लिए सुख नहीं रहता। जिन्होंने इस पैशाचिक धर्म को, धर्म कहना सीखा है, अगर धर्म के नाम पर उन्हें बुखार चढ़ जाये तो यह संगत ही होगा।

साधारण धर्म प्रचारकों के इन्हीं सब दोषों के कारण साधारण लोगों में धर्मालोचना के प्रति इतना अननुराग पैदा हुआ है। अन्यथा धर्म का सहज रूप तो इतना मनोहारी है कि और सब कुछ का त्याग करके साधारण लोगों का धर्मालोचना के प्रति अनुराग संभव है। हमारा विश्वास है कि जगत में यही होता भी है, केवल आजकल के विकृतरुचि पाठकों पर यह बात लागू नहीं होती। वे विवेचना करके देख सकते हैं, जो हिंदू ईसाई के दोष से धर्म के रूप में उन तक प्रचारित हुआ है, वह धर्म नहीं है, अधर्म है। धर्म की मूर्ति बड़ी मनोहारी है। ईश्वर प्रजापीड़क नहीं हैं, प्रजापालक हैं। धर्म आत्मपीड़न नहीं है, आपकी उन्नति का साधन है, आपका आनंदवर्द्धन ही धर्म है। ईश्वर में भक्ति, मनुष्य में प्रीति, एवं हृदय में शांति— यही धर्म है। भक्ति, प्रीति, शांति, इन तीन शब्दों से जो छवि चित्रित हुई, उस मोहिनी मूर्ति की अपेक्षा मनोहर और इस जगत में क्या है? इसका त्याग करके और किस विषय की आलोचना करने की इच्छा होती है?

जिन्हें नाटक-नावेल पढ़ना बहुत अच्छा लगता है, वह एक बार मन में यह विचार करके देखें कि वे किस चीज की आकांक्षा से नाटक नावेल पढ़ते हैं? यदि उन सबमें जो विस्मयकर घटनाएं हैं, उसी से उनका मनोविनोद होता है, तो उनसे यह पूछने का मन करता है कि विश्वेश्वर की इस विश्वसृष्टि की अपेक्षा विस्मयकर व्यापार क्या किसी साहित्य में घटित हुआ है? एक

तृण में या एक मक्खी के पंख में, जितना आश्चर्य कौशल है, किसी उपन्यास लेखक के लेखन में उतना कौशल है? और इनकी अपेक्षा जो उच्चकोटि के पाठक हैं, जो कवि सृष्टि के पदार्थ के लोभ में साहित्य के प्रति अनुरक्त हैं, उनसे यह पूछता हूं, उनकी सृष्टि, उस ईश्वर की सृष्टि की अनुकारिणी होने के कारण ही सुंदर है। नकल कभी असल जैसी नहीं हो सकती। धर्म की मोहिनी मूर्ति के सामने साहित्य का प्रभाव बड़ा फीका पड़ जाता है।

पाठक कहेंगे, "यह बात सच नहीं हो सकती, क्योंकि नाटक नावेल पढ़ने की हमारी इच्छा होती है, पढ़कर आनंद मिलता भी है। धर्म प्रबंध पढ़ने की वैसी इच्छा कहां होती है, पढ़कर भी कोई आनंद नहीं मिलता है।" इसका उत्तर बड़ा सहज है। तुम साहित्य पाठ में अनुरक्त हो और उससे आनंद लाभ करते हो, इसका कारण यही है कि जिन सकल वृत्तियों का अनुशीलन करने से, साहित्य के मर्म को ग्रहण किया जा सकता है, तुमने चिरकाल से उन सभी वृत्तियों का अनुशीलन किया है, इसी से उनसे तुम आनंद लाभ करते हो। जिन सकल वृत्तियों के अनुशीलन से धर्म के मर्म को ग्रहण किया जा सकता है, तुमने उनका अनुशीलन नहीं किया है, इसी से तुम उसकी आलोचना करने का आनंद लाभ नहीं कर पाते। लेकिन अब उसकी आलोचना नितांत प्रयोजनीय हो गयी है। क्योंकि उसी में सुख है। साहित्य की आलोचना में भी सुख है, लेकिन जो सुख तुम्हारा उद्देश्य और प्राप्य होना चाहिए, साहित्य का सुख उसका क्षुद्रांश मात्र है। साहित्य भी धर्म को छोड़कर नहीं चलता। क्योंकि साहित्य सत्यमूलक है। जो सत्य है, वह धर्म है। यदि ऐसा कुसाहित्य हो, जो असत्यमूलक और अधर्ममय हो, तो उसके पाठ से दुरात्मा या विकृति रुचि पाठक के अलावा और कोई सुखी नहीं हो सकता। लेकिन साहित्य में जो सत्य और धर्म है, वह समस्त धर्म का एक अंश मात्र है। अतएव केवल साहित्य नहीं, जिस महत् तत्व का अंश यह साहित्य है, उसी धर्म का इस प्रकार आलोचनीय होना उचित है। साहित्य का त्याग मत करो, साहित्य को नीचे के सोपान में रखकर धर्म के मंच पर आरोहण करो।

लेकिन यह भी स्मरण रहे कि, शुरू में कुछ दुःख-कष्ट उठाये बिना किसी सुख को प्राप्त नहीं किया जा सकता। विलासी और पापिष्ठ, जो इंद्रिय तृप्ति को ही सुख मानते हैं, वे भी उपादान के यत्न से और कष्ट से ही धर्म की दिशा में मुड़ सकते हैं। धर्मालोचना में जो असीम अनिवर्चनीय

आनंद है, उसके उपभोग के लिए यह प्रयोजनीय है कि धर्म मंदिर के निचले सोपान में जो सकल कठिन और कर्कश तत्व हैं, बंधु के पत्थरों की तरह, पहले उन्हें स्वयं आयत्त करो। अतएव, आपातत: धर्मविषयक प्रबंध के कर्कश लगने पर भी, उसके प्रति अनादर जताना अनुचित है।

(1291 पौष। 'विविध प्रबंध')

बंगाल के नव्य लेखकों के प्रति
निवेदन

1. यश के लिए मत लिखना। वैसा करने पर यश नहीं होगा, लिखा हुआ भी अच्छा नहीं होगा। लेखन अच्छा होने पर यश अपने आप आयेगा।
2. पैसे के लिए मत लिखना। यूरोप में इस समय बहुतेरे लोग पैसे के लिए लिखते हैं, पैसा उन्हें मिलता भी है, उनका लेखन भी अच्छा होता है। लेकिन हमारे लिए वह दिन अभी नहीं आया। अभी तो पैसा प्राप्त करने के उद्देश्य से लिखने में लोक-रंजन की प्रवृत्ति ही प्रबल हो उठती है। अभी तो हमारे देश के साधारण पाठकों की रुचि और शिक्षा को ध्यान में रखकर, लोक रंजन करने से रचना विकृत और अनिष्टकर हो उठती है।
3. अगर मन में यह समझ रहे हो कि लिखकर देश या मनुष्य जाति का मंगल साध सकेंगे अथवा सौंदर्य की सृष्टि कर सकेंगे तो अवश्य लिखिये। जो किसी अन्य उद्देश्य से लिखते हैं, उनकी गणना यात्रादि करने वाले नीच व्यवसायियों के संग की जा सकती है।
4. जो असत्य हैं, धर्मविरुद्ध हैं, परनिंदा या परपीड़न या स्वार्थसाधन जिसका उद्देश्य है, वे सब प्रबंध कभी हितकर नहीं हो सकते, इसलिए वे एकदम परिहार्य हैं। सत्य और धर्म ही साहित्य का उद्देश्य है। अन्य उद्देश्य से लेखनी धारण करना महापाप है।
5. जो लिखें उसे एकदम से छपा न लें। कुछ समय तक एक ओर रख दें। कुछ समय बाद उसमें संशोधन करें। वैसा करने पर आप पायेंगे कि प्रबंध में अनेक दोष हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास दो एक वर्ष तक एक ओर रख देने से, फिर उनमें संशोधन करने पर विशेष उत्कर्ष देखने को मिलता है। जो सामयिक साहित्य के कार्य के व्रती हैं, उनके

लिए इस नियम की रक्षा घटित नहीं होती। इसीलिए सामयिक साहित्य, लेखक के लिए अवनतिकर है।

6. जिस विषय में जिसका अधिकार है, उस विषय में उसका हस्तक्षेप अकर्त्तव्य है। यह सीधी बात है, लेकिन सामयिक साहित्य में यह नियम रक्षित नहीं हो पाता।

7. विद्या को प्रकाशित करने की चेष्टा मत किजिये। विद्या होने पर, अपने आप प्रकाश पाती है, चेष्टा नहीं करनी पड़ती। विद्या प्रकाशित करने की चेष्टा पाठक के लिए अतिशय विरक्तिकर होती है और रचना के परिपाक के लिए विशेष हानिकारक है। आजकल के प्रबंधों में अंग्रेजी, संस्कृत, फ्रांसीसी, जर्मन उद्धरण काफी देखने को मिलते हैं। जो भाषा आप नहीं जानते, उसे दूसरे के ग्रंथ की सहायता से कभी उद्धृत मत कीजिये।

8. अलंकार प्रयोग या रसिकता के लिए चेष्टा करें। स्थान-स्थान पर अलंकार और व्यंग्य का प्रयोजन जरूर होता है, लेखक के भंडार में वह सामग्री रहने पर, प्रयोजन के हिसाब से अपने आप चली आयेगी— भंडार में न रहने पर, माथा फोड़ने पर भी नहीं आयेगी। असमय में या शून्य भंडार में अलंकार के प्रयोग या रसिकता की चेष्टा जैसा कदर्य कार्य दूसरा नहीं है।

9. जिस स्थान पर अलंकार या व्यंग्य बहुत सुंदर प्रतीत हो, उस स्थान को काट दें, यह प्राचीन विधि है। मैं ऐसा नहीं कह रहा। लेकिन मेरा परामर्श यही है कि उस स्थल को पढ़कर मेंधुवर्ग को बार-बार सुनायें। अगर वह अच्छा नहीं होगा तो दो-चार बार पढ़ने पर वह लेखक को स्वयं अच्छा नहीं लगेगा— बंधुवर्ग के सामने उसे पढ़ने पर लज्जा आयेगी। तब उसे काट दीजिये।

10. सभी अलंकारों में श्रेष्ठ अलंकार सरलता है। जो सीधी सहज बात से अपने मन के भाव को पाठक को समझा सकते हैं, वही श्रेष्ठ लेखक हैं। क्योंकि लेखन का उद्देश्य पाठक को समझाना है।

11. किसी का अनुकरण मत करना। अनुकरण से दोष ही अनुकृत होते हैं, गुण नहीं होते। अमुक अंग्रेजो या संस्कृत या बांग्ला लेखक इस प्रकार लिखते हैं, मैं भी इसी प्रकार से लिखूंगा, इस तरह की बात को कभी मन में जगह मत देना।

12. जिस बात का प्रमाण न दे सको, उसे मत लिखना। सब समय प्रमाण देने का प्रयोजन नहीं होता, लेकिन वे हाथ में रहने चाहिए।
बांग्ला साहित्य ही, बांग्ला की उम्मीद है। बांग्ला लेखकों द्वारा इस नियम की रक्षा होने पर, बंगाल के साहित्य की उन्नति शीघ्रता से होती रहेगी।

(1291 माघ। 'विविध प्रबंध'।)

बांग्ला साहित्य का सम्मान

(DRAMATIS PERSONAE)

1. उच्च श्रेणी के उच्चशिक्षित बंगाली बाबू।
2. उनकी भार्या।

उच्च : क्या करती रहती हो?

भार्या : पढ़ती-सुनती हूं।

उच्च : क्या पढ़ाती हो?

भार्या : जो कुछ पढ़ना जानती हूं। मैं तुम्हारी अंग्रेजी नहीं जानती, फ्रांसीसी भी नहीं जानती, भाग्य में जो है, वही पढ़ती हूं।

उच्च : कूड़ा-करकट सरीखी बांग्ला की चीजें क्यों पढ़ती हो? उससे तो न पढ़ना अच्छा है।

भार्या : क्यों?

उच्च : वे सब Immoral, obscene, filthy है।

भार्या : ये सब किसे कहते हैं?

उच्च : जानती हो Immoral किसे कहते है—
अर्थात् जो moral के विरुद्ध है।

भार्या : क्या वह कोई चतुष्पद जंतु विशेष है?

उच्च : नहीं, नहीं— कुछ भी नहीं जानती— बांग्ला में उसके लिए शब्द कहां पाऊंगा? यही कि moral नहीं है— और क्या?

भार्या : मराल क्या? राजहंस?

उच्च : छि-छि! O woman ! the name is stupidity.

भार्या : किसे कहते हैं?

उच्च : बंगला में तो ये बातें और समझाई नहीं जा सकतीं— असली बात यही है कि बांग्ला की किताबें पढ़ना अच्छी बात नहीं है।

भार्या : क्यों, यह किताब तो बुरी नहीं है— अच्छी कहानी है।

उच्च : एक राजा और दुयो-सुयो नाम की दो रानियों की कहानी या नल-दमयंती की कथा?

भार्या : क्या उनके अलावा और कहानियां नहीं होती?

उच्च : उनके अलावा तुम्हारी बांग्ला में कुछ और है भी?

भार्या : ऐसी बात तो नहीं। इसमें कटलेट है, ब्रांडी है, विधवा का विवाह है— वैष्णवी गीत है।

उच्च : 'Exactly' इसीलिए तो कह रहा था यह कूड़ा-करकट क्यों पढ़ती हो?

भार्या : क्यों, इन्हें पढ़ने में क्या बुराई है?

उच्च : पढ़ने पर पढ़नेवाला demoralize होता है।

भार्या : अब यह क्या चीज है? घेमोराजा होता है?

उच्च : यह पाप भी है? Demoralize क्या कहूं— चरित्र कमजोर हो जाता है।

भार्या : स्वामी महाशय! आप बोतल पर बोतल ब्रांडी उड़ा देते हैं, जिनके साथ बैठकर यह काम करते हैं, वे ऐसे कुचरित्र लोग हैं कि उनका मुंह दखने से भी पाप होता है। आपके बंधुवर्ग डिनर के बाद जिस भाषा में बातचीत करते हैं— उसे सुन लेने पर खानसामा लोग भी कानों में उंगली डाल लेते हैं। आप जिनके घर जाकर मुरगी-मटन का श्राद्ध कर आते हैं, वे भीतर ही भीतर दुनिया भर के कुकर्म करते हैं। इससे आपके चरित्र को कोई भय नहीं है,— और मैं एक गरीब की लड़की, एक बांग्ला पुस्तक पढ़कर गल जाऊंगी?

उच्च : हम हैं Brass pot; तुम लोग हो Earthen pot.

भार्या : इतना पट-पट क्यों कर रहे हो? मछली छौंकने वाले तेल में गिर पड़े हो क्या? जो भी हो, एक बार यह किताब जरा पढ़ तो लो।

उच्च : (सिहर कर पीछे हो जाता है) मैं यह सब छूकर hand contaminate नहीं करता।

भार्या : यह किसे कहते हैं?

उच्च : इन सबको छूकर अपने हाथ मैले नहीं करता।

भार्या : तुम्हारे हाथ मैले नहीं होंगे, मैं झाड़ देती हूं।

(पुस्तक को आंचल से झाड़-पोंछकर स्वामी के हाथों में प्रदान। मानसिक रूप से मैले हो जाने के भय से उच्चशिक्षित के हाथ से पुस्तक का जमीन पर गिरना।)

भार्या : यह क्या किया। अच्छा, तुम इस पुस्तक से इतनी घृणा कर रहे हो, इतनी तो तुम्हारे अंग्रेज भी नहीं करते। अंग्रेज तो इस पुस्तक का अनुवाद करके इसे पढ़ रहे हैं।

उच्च : दिमाग खराब हुआ है?

भार्या : क्यों? बांग्ला किताब का अंग्रेजी में अनुवाद? तुमको ये सब कल्पित कहानियां कौन सुनाता है? पुस्तक seditious तो नहीं है? वैसी स्थिति में सरकार द्वारा इसका तर्जुमा कराना संभव है। यह कौन-सी किताब है?

भार्या : विषवृक्ष।

उच्च : यह किसे कहते हैं?

भार्या : विष किसे कहते हैं, नहीं जानते? उसी का वृक्ष।

उच्च : बीस— यानी बीस की संख्या।

भार्या : नहीं, वह नहीं। एक और प्रकार का बीस (बिष) होता है, नहीं मालूम? जो तुम्हारे जलाने से मुझे एक दिन खाना पड़ेगा।

उच्च : ओहो! Poison! Dear me! उसी का वृक्ष— उपयुक्त नाम है— फेल! फेल!

भार्या : जरा बताओं तो पेड़ को अंग्रेजी में क्या कहते हैं?

उच्च : Tree.

भार्या : अब दोनों बातों को मिलाकर देखो।

उच्च : Poison Tree ! ओहो! ठीक है ठीक है। इस नाम की एक अंग्रेजी किताब की चर्चा अखबार में पढ़ रहा था। तो क्या वह बंगला किताब का तर्जुमा है?

भार्या : आपको क्या लगता है?

उच्च : हमारा Idea था कि Poison Tree एक अंग्रेजी किताब है, उसी का बंगला अनुवाद हुआ है। तो जब वह अंग्रेजी में भी है, तो फिर उसे बांग्ला में क्यों पढूंगा?

भार्या : पढ़ना अंग्रेजी के ढंग का ही अच्छा है— चाहे वह किताब को लेकर हो या गिलास को लेकर। तो तुम्हें अंग्रेजी प्रकार की पढ़ने

को देती हूं। यही किताब देखो। यह अंग्रेजी का तर्जुमा है— लेखक ने स्वयं ऐसा कहा है।

उच्च : ये सब पढ़ना फिर भी अच्छा है। किस अंग्रेजी किताब का तर्जुमा है— Robinson Crusoe या Watt on the Improvement of the Mind?

भार्या : अंग्रेजी नाम मैं नहीं जानती। बांग्ला नाम है छायामयी।

उच्च : छायामयी। भला यह क्या है? देखूं। (पुस्तक हाथ में लेकर Dante, by Jove.)

भार्या : (किंचित हंसते हुए) यह मैं ठीक से समझ नहीं पायी— साधारण बंगाली लड़की हूं, अंग्रेजी का तर्जुमा समझ सकूं, इतनी बुद्धि तो मुझमें है नहीं— तुम मुझे समझा दोगे?

उच्च : इसमें कौन-सी बात है? Dante lived in the fourteenth century. अर्थात् उन्होंने fourteenth century में flourish किया था।

भार्या : फूटंत सुंदरी की पॉलिश की? इतने बड़े कवि ने?

उच्च : क्या मुश्किल है? fourteen माने चौदह।

भार्या : चौदह सुंदरियों की पॉलिश की? चाहे चौदह हों या पंद्रह, सुंदरी की पॉलिश भला क्यों करनी?

उच्च : कह रहा हूं चौदहवीं सेंचुरी में वर्तमान थे।

भार्या : वे चौदह सुंदरियों में वर्तमान रहें चाहे चौदह सौ सुंदरियों में वर्तमान रहें, बात तो किताब की हो रही है।

उच्च : पहले आथर की लाइफ जाननी पड़ती है। फ्लोरेंस नगर में जन्म लेकर वहीं पर उन्होंने बड़े-बड़े appointment hold किये थे।

भार्या : पोर्टमेंट हलदे (पीला) करते थे। हमारा यह काला पोर्टमेंट हलदे (पीला) नहीं होता।

उच्च : कह रहा हूं, बड़ी-बड़ी नौकरियां करते थे। बाद में Guelph और Ghibilline लोगों के विवाद में—

भार्या : और खून मत जलाओ। किताब को समझाओ न!

उच्च : वही तो समझा रहा था। ऑथर की लाइफ जाने बिना किताब समझोगी किस तरह?

भार्या : मैं दु:खी बंगाली की लड़की हूं, मुझे इतना परेशान करने से क्या मिलेगा? किताब का मर्म समझा दो न!

उच्च : देखूं, किताब किस प्रकार लिखी हुई है?

(फिर पुस्तक लेकर प्रथम अध्याय का पाठ)
''संध्या गगने निविड़ कालिमा।''
तुम्हारे पास शब्दकोश हैं।

भार्या : क्यों, किस शब्द पर अटक गये?

उच्च : गगन किसे कहते हैं?

भार्या : गगन आकाश को कहते हैं।

उच्च : ''संध्या गगने निविड़ कालिमा''— निविड़ किसे कहते हैं?

भार्या : हे भगवान! इस विद्या से तुम मुझे सिखाओगे? निविड़ घर को कहते हैं। यह भी नहीं जानते? तुम्हें अपना मुंह दिखाने में लज्जा नहीं आती?

उच्च : तुम्हें क्या मालूम है— बांग्ला-फांग्ला वह सब छोटे लोग पढ़ते हैं, वह सब हमारे बीच में नहीं चलती है। वह सब पढ़ना क्या हमें शोभा देता है।

भार्या : क्यों, तुमलोग क्या हो?

उच्च : हमारी है polished society —वह सब बेकार के लोग लिखते हैं— साहब लोगों के सामने उस सब का कोई मूल्य नहीं है— polished society में क्या वह सब चलता है?

भार्या : मगर मातृभाषा के ऊपर पालिश-षष्ठी का इतना गुस्सा क्यों है?

उच्च : अरे, मां मरकर कब की राख हो चुकी है, उनकी भाषा से अब क्या लेना-देना?

भार्या : मेरी भी तो वही भाषा है— मैं तो मरकर अभी राख नहीं हुई।

उच्च : You for the sake, my jewel, I shall do it— तुम्हारी खातिर एक बंगला किताब पढ़ूंगा। किंतु mind— केवल एक—और नहीं?

भार्या : यही क्या कम है?

उच्च : लेकिन इस कमरे का दरवाजा बंद करके पढ़ूंगा — किसी को देखना नहीं चाहिए।

भार्या : अच्छा, ठीक है।
(चुनकर एक अपकृष्ट अश्लील एवं दुर्नीतिपूर्ण सरस पुस्तक स्वामी के हाथ में प्रदान करती है। स्वामी उसका आद्योपांत पाठ कर डालते हैं।)

भार्या : कैसी किताब है?

उच्च : अच्छी है। बांग्ला में ऐसी किताबें होती हैं, यह मुझे मालूम न था।

भार्या : (घृणा सहित) छिः— तो यही है तुम्हारी पालिश-षष्ठी? तुम्हारी पालिश षष्ठी से तो हमारी चापड़ा पष्ठी, शीतल षष्ठी कहीं ज्यादा अच्छी है।

(1291 चैत्र। ''लोकरहस्य'')

द्रौपदी

(द्वितीय प्रस्ताव)

दस वर्ष हुए, बंगदर्शन में मैंने द्रौपदी-चरित्र की समालोचना की थी। अन्यान्य आर्य नारी चरित्रों से द्रौपदी-चरित्र का जो गुरुतर प्रभेद है, उसे यथासाध्य दर्शाया गया था। किंतु द्रौपदी के चरित्र की मध्यग्रंथि में जो तत्व है, उसको लेकर कुछ कहना उस समय नहीं हो पाया था। कुछ कहने का समय तब उपस्थित भी नहीं हुआ था। अब लगता है, यह चर्चा की जा सकती है।

उस तत्व का बहिर्विकास बड़ा दीप्तिमान है— एक नारी के पांच स्वामी थे इसलिए कुलटा कहकर उसकी विवेचना करने का कोई कारण नहीं है। इस तरह के असामंजस्य में एक सामंजस्य कहां से आया?

हमें शिक्षा देने वाले यूरोपीय शिक्षक इसका एक बड़ा सीधा उत्तर देते हैं। भारतवासी बर्बर जाति के हैं— उनके बीच स्त्रियों के बहुविवाह की पद्धति पूर्वकाल में प्रचलित थी, इसीलिए पंच पांडवों की एक ही पत्नी थी। यूरोपीय आचार्यवर्ग का और कोई साध्य हो या न हो, इस देश के संबंध में सीधी बातें कहने में वे बड़े मजबूत हैं। यूरोपीय इस देश के सकल प्राचीन ग्रंथों को विरूप मानते हैं, इस विषय में संप्रति मुझे कुछ अनुसंधान करना पड़ा था। मेरा यह विश्वास पक्का हुआ है कि संस्कृत साहित्य के विषय में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उनके वेद स्मृति दर्शन पुराण इतिहास काव्य प्रभृति के जो अनुवाद हैं, टीका, समालोचना आदि— उनके पाठ की अपेक्षा गुरुत्तर महापालक साहित्य जगत में और कुछ नहीं हो सकता, और मूर्खता उपस्थित करने का इससे सहज उपाय भी कोई और नहीं हो सकता। अभी भी बहुतेरे बंगाली उनका पाठ करते हैं, उनको सतर्क करने के लिए, इस बात के कुछ अप्रासंगिक होने के बावजूद, मुझे यह लिखने को बाध्य होना पड़ा है।

संस्कृत ग्रंथों की संख्या का उल्लेख न भी करें तो हर्ज नहीं। जितने अनुसंधान हुए हैं, उसमें नये-नये ग्रंथ आविष्कृत हुए हैं। संस्कृत ग्रंथों की तुलना में, अंततः आकार में, यूरोपीय ग्रंथों को ग्रंथ कहने की इच्छा नहीं होती। जिस प्रकार हाथी की तुलना में टेरियर, वटवृक्ष की तुलना में विलो या साहप्रस, जिस प्रकार गंगा सिंधु गोदावरी की तुलना में ग्रीक कवियों की प्रिय पार्वती निर्झरिणी, ठीक उसी प्रकार है महाभारत और रामायण की तुलना में एक यूरोपीय काव्य। वेद की संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, गृहसूत्र, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, दर्शन, इन सबके भाष्य, इनकी टीका, पुराण, इतिहास, स्मृति, काव्य, अलंकार, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, कोश, इत्यादि नानाविध संस्कृत ग्रंथों में आज भी भारतवर्ष समाच्छन्न है। इस लिपिबद्ध अनुत्तरणीय प्राचीन तत्वसमुद्र में कहीं भी इस तरह की बात नहीं लिखी हुई है कि प्राचीन आर्यों में स्त्रियों के बहुविवाह की प्रथा थी। तथापि पश्चिम के पंडितों ने केवल द्रौपदी के पांच स्वामियों की बात सुनकर यह सिद्धांत बनाया कि प्राचीन भारतवासियों के बीच स्त्रियों का बहुविवाह प्रचलित था। इस जाति के एक पंडित (Fergusson साहब) ने भग्न अट्टालिका की प्राचीर पर कुछ विवस्त्रा स्त्री मूर्तियों को देखकर यह सिद्धांत निरूपित किया कि प्राचीन भारतवर्ष में स्त्रियां कपड़े नहीं पहनती थी— सीता, सावित्री, द्रौपदी, दमयंती, प्रभृति अपने सास-श्वसुर के सामने नग्नावस्था में विचरण करती थीं। इसीलिए कह रहा था— इन सकल पंडितों की रचनाओं के पाठ की अपेक्षा महापालक साहित्य संसार में दुर्लभ हैं।

द्रौपदी के पांच स्वामी होने का स्थूल तात्पर्य क्या है, इस कथा की मीमांसा करने से पहले सोचना पड़ता है कि यह कथा आद्य ऐतिहासिक है या केवल परिकल्पना मात्र है? सचमुच द्रौपदी के पांच-पांच स्वामी थे, या कवि ने कथा को इस रूप में सजाया है? महाभारत की जो ऐतिहासिक भित्ति है, उसे मैंने प्रबंधांतर से स्वीकार किया है और उसे समझाया है। लेकिन महाभारत की ऐतिहासिक भित्ति है, यह मान लेने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि उसकी सारी बातें ऐतिहासिक हैं। जो स्पष्टतः प्रक्षिप्त है, वह ऐतिहासिक नहीं है— यह बात तो स्वतः सिद्ध है। लेकिन द्रौपदी के चरित्र को प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता— द्रौपदी को लेकर ही मौलिक महाभारत है। होने दें, लेकिन मौलिक में जितनी कथाएं हैं, वे सभी ऐतिहासिक और सत्य हैं, यह कहना भी दुस्साहस का काम है। जिस समय कवि ही

इतिहासवेत्ता हो और इतिहासवेत्ता ही कवि हो, उस समय काव्य में भी इतिहास विमिश्रण बड़ा सहज माना जायेगा। सत्य कथा को कवि के स्वकपोलकल्पित व्यापार में रंजित करना विचित्र नहीं है। द्रौपदी युधिष्ठिर की महिषी थी, इसे तो ऐतिहासिक मानकर स्वीकार किया जा सकता है—लेकिन वे पंच पांडवों की भी महिषी थीं क्या इसे भी ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा?

द्रौपदी के इस बहुविवाह के अलावा भारतीय ग्रंथ-सागर में और ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता कि भारतवर्ष के अन्य लोगों में स्त्रियों के बहुविवाह की प्रथा थी। विधवा होने पर स्त्रियां अन्य विवाह करती थीं, ऐसा प्रमाण जरूर मिलता है लेकिन एक ही समय में कोई एकाधिक पतियों की भार्या थी, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। कभी-कभी यह दिखाई पड़ता है कि किसी मनुष्य के हाथ में छह अंगुलियां हैं और दोनों हाथों को मिलाकर बारह अंगुलियां हैं; कभी यह देखा गया है कि कोई मनुष्य चक्षुहीन रूप में जन्म ग्रहण करता है। ऐसा कोई दृष्टांत देख कर यह सिद्धांत निरूपित नहीं किया जा सकता कि मनुष्य जाति के हाथों में बारह अंगुलियां होती हैं या कि मनुष्य अंधा ही जन्म लेता है। इसी प्रकार केवल द्रौपदी के बहुविवाह को देखकर यह सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता कि पूर्व में आर्य नारियों के मध्य बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। और स्वयं महाभारत से यह स्पष्ट है कि ऐसी प्रथा थी नहीं, क्योंकि द्रौपदी के साथ ऐसा अलौकिक व्यापार क्योंकर घटित हुआ, इसकी कैफियत देने के लिए महाभारतकार को पूर्वजन्म में घटित नानाविध असंभव उपन्यासों की रचना करने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

अब, जो चीज समाज में कहीं थी ही नहीं, और उस समाज में वैसी चीज होती भी तो लोक-निंदा का कारण ही बनती, पांडवों जैसे लोकविख्यात राजवंश में भला क्योंकर हो सकती थी। लेकिन कवि द्वारा तत्वविशेष को प्रस्फुटित करने के लिए इस प्रकार की एक कथा गढ़ लेने में विचित्र कुछ नहीं है।

इसमें एक गढ़ी हुई कथा के अनेक लक्षण हैं। पंच स्वामियों के औरस से द्रौपदी के पांच पुत्र थे। किसी के औरत से दो या तीन नहीं हुए। किसी के औरस से कन्या नहीं हुई। किसी का औरस निष्फल नहीं गया। उन पांच पुत्रों में से कोई राज्याधिकारी नहीं हुआ। कोई जीवित नहीं रहा। सभी एक समय अश्वत्थामा के हाथों मारे गये। किसी की कोई कार्यकारिता नहीं है।

सभी कुरुक्षेत्र के युद्ध में एक-एक कर, दल बांध कर, युद्ध करके चले गये। उन्होंने और कुछ नहीं किया। दूसरी ओर अभिमन्यु, घटोत्कच, वभ्रुवाहन कितने जीवंत हैं।

यह जिज्ञासा की जा सकती है कि यदि द्रौपदी के पांच विवाह का प्रसंग गढ़ी हुई कथा है, यदि द्रौपदी केवल युधिष्ठिर की भार्या थी तो क्या अन्य चार पांडव अविवाहित थे? इसका उत्तर कुछ कठिन जरूर है।

भीम और अर्जुन के अन्य विवाह हुए थे यह हमें मालूम है। लेकिन नकुल और सहदेव के भी अन्य विवाह हुए थे, इस तरह की बात महाभारत में नहीं मिलती। लेकिन ऐसा कोई उल्लेख न होने के कारण यह सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता कि उनके अन्य विवाह नहीं हुए थे। महाभारत प्रधानत: प्रथम तीन पांडवों की अर्थात् युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन की जीवनी है, अन्य दो पांडव उनकी छाया मात्र हैं— केवल उनके साथ रहकर वे कार्य करते हैं। उनके अन्य विवाह होने पर भी, उस तथ्य को प्रयोजनीय न मानकर महाभारतकार उसे छोड़ भी दे सकते हैं। यह बात उतनी भ्रमात्मक नहीं है। द्रौपदी के पंच स्वामी होने को लेकर हमने ऊपर जो आपत्ति दर्ज की है, वह अपेक्षाकृत अधिक गुरुतर है।

अब यह देखें कि द्रौपदी के पंच विवाह की कल्पना यदि मात्र कवि कल्पना थी तो कवि ने किस अभिप्राय से इतनी विस्मयकारी कल्पना की थी। कोई विशेष अभिप्राय न होने पर वे इस प्रकार के कुटिल पथ की ओर जाते ही क्यों? उनका अभिप्राय: क्या है? पाठक यदि अंग्रेजों की तरह यह कहें, "Tut! clear case of Polyardry) तब तो कहने को कुछ बचेगा ही नहीं। यदि वे ऐसा न कहें या मानें तो फिर इसके निगूढ़ तत्व का अनुसंधान करना पड़ेगा।

उस तत्व का अनुसंधान करने से पहले किसी विज्ञ और श्रद्धास्पद व्यक्ति की एक उक्ति हम उद्धृत करेंगे। प्रचार में प्रकाशित 'कृष्ण चरित्र' को लक्ष्य करके यह कहा गया है— 'श्रीकृष्ण ने इस लोक में मर्त्य शरीर धारण करके विचरण किया था, यह बात मैं भी स्वीकार करता हूं। लेकिन महाभारत के प्रणयन के पूर्वकाल से ही, श्रीकृष्ण को एक अति विशिष्ट मनुष्य शक्ति के आविर्भाव के रूप में जाना गया था, इसे भी प्रामाणिक ही मानकर चल सकते हैं। इसीलिए प्रारंभ से ही महाभारत ग्रंथ पर इस बोध का एक अपूर्व प्रतिबिंब पड़ना लाजिमी था, इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। वस्तुत: यही संभव भी था। हमें ऐसा बोध होता है कि महाभारतरचयिता

ने कर्मकांड वेदव्याख्या प्रभृति अपने बहुविध उद्देश्यों के मध्य अर्जुन और भद्रा को आदर्श नर-नारी के रूप में चित्रित किया है एवं ईश्वर में अचल भक्ति और उससे जन्म लेनेवाली, ईश्वर के नेतृत्व की गहरी प्रतिनिधि ही आदर्श पुरुष का प्रकृत बल है, इसे भी प्रदर्शित करने के लिए नरोत्तम श्रीकृष्ण में एक विशेष दैवी शक्ति को दर्शाने का प्रयास किया है। इस दैवी शक्ति को किसी पार्थिव पात्र में दिखाने का काम किसी भी देश का कोई भी कवि नहीं कर सका। आदि कवि वाल्मीकि ने भी ऐसा कोई प्रयास नहीं किया— महाभारतकार ने इस काम को अध्यवसायपूर्वक किया था, और जितनी दूर तक यह संपन्न हो सकता था, उतनी दूर तक उन्होंने इसे संपन्न किया था, इसीलिए महाभारत को पंचम वेद कहा गया है। इस दैवी शक्ति का नाम 'निर्लिप्तता' है। श्रीकृष्ण मनुष्य रूपी 'निर्लेप' हैं।[1]

यह 'निर्लेप' वैराग्य नहीं है अथवा साधारणत: जिसको 'वैराग्य' कहा जाता है, वह यह नहीं है। मैं इसका मर्म जितनी दूर तक समझ सका हूं, उसे गीता का एक श्लोक उद्धृत करके बताना चाहता हूं।

> रागद्वेष विमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियेश्चरण।
> आत्मवश्येर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।

आसक्ति विद्वेष रहित एवं आत्मा की वशीभूत सभी इंद्रियों द्वारा (इंद्रियों के) सभी विषय उपभोग करके संयतात्मा पुरुष शांति प्राप्त करते हैं।

अतएव 'निर्लेप' के लिए इंद्रिय-विषय का उपभोग वर्जित करना निष्प्रयोजन है। वर्जन से तो संलेप की ही गूंज उठती है। वर्जन का प्रयोजन है, यह इसी से जाहिर है कि इंद्रियों में अभी आत्मा लिप्त है—वर्जन से भिन्न विच्छेद अभी भी असाध्य है। लेकिन जो इंद्रिय-विषयों का उपभोग करते हुए भी उनके प्रति अनुरागशून्य हैं, जो सभी इंद्रियों पर विजय पाकर अनुष्ठेय कर्म के संपादन के लिए विषयों का उपभोग करते हैं, वही निर्लिप्त हैं। भोग्य विषय उनकी आत्मा के साथ संश्लिष्ट नहीं हैं। वे पाप और दु:ख के परे हैं।

इस रूप में 'निर्लेप' या 'अनासंग' को प्रस्फुटित करने के लिए हिंदू शास्त्रकारों ने एक कौशल का अवलंबन किया है— वे निर्लिप्त या अनासक्त को अधिक मात्रा में इंद्रिय भोग्य विषयों द्वारा परिवेष्टित करते हैं। इसीलिए

---

1. एजुकेशन गजेट, 28 वैशाख 1293

महाभारत के परवर्ती पुराणकारों ने श्रीकृष्ण को असंख्य स्त्रियों के बीच रखा है। इसीलिए तांत्रिकों की साधव प्रणाली में इंद्रिय भोग्य वस्तुओं का ऐसा आधिक्य है। जो इन सबके मध्य यथेच्छा विचरण करके इनसे अनासक्त रहता है, वही निर्लिप्त है। द्रौपदी के बहुस्वामी भी इसीलिए हैं। द्रौपदी स्त्री जाति के अनासंग धर्म की मूर्ति-सरीखी हैं। इस रूप में उन्हें स्थापित करना ही कवि का उद्देश्य है। तभी तो एक गणिका के समान पंच पुरुषों से संसर्ग करनेवाली द्रौपदी साध्वी है, पातिव्रत्य की पराकाष्ठा है। पांच पति द्रौपदी के लिए एक पति मात्र हैं, उपासना की एक वस्तु हैं एवं धर्माचार का एकमात्र उपलक्ष्य हैं। जिस प्रकार प्रकृत धर्मात्मा के लिए बहुदेवता मात्र एक ईश्वर हैं— ईश्वर ही ज्ञानी के एकमात्र अभिन्न उपास्य हैं, उसी प्रकार पंचस्वामियों से अनासंग रहना द्रौपदी के लिए धर्माचरण का स्थल है। उनका पक्षापक्ष, भेदाभेद, इसके इतर और कुछ नहीं है, वह गृहधर्म में निष्काम, निश्चल, निर्लिप्त रहकर, अनुष्ठेय कर्म में प्रवृत्त हैं। यही द्रौपदी-चरित्र के असामंजस्य का सामंजस्य है। वैसे इस प्रकार का धर्म अति दुस्साध्य है। महाभारतकार ने महाप्रस्थान पर्व में इसे समझाया है। वहां यह कहा गया है कि अर्जुन के प्रति द्रौपदी का किंचित पक्षपात था। उस पाप के फल के कारण ही वह सशरीर स्वर्गारोहण नहीं कर सकी— सबके सामने आधे रास्ते में गिर पड़ी।

इस स्थल तक आकर हम यह समझ सकते हैं कि द्रौपदी के पांच स्वामियों के औरस से केवल एक ही पुत्र क्यों हुआ? हिंदू शास्त्रों के अनुसार पुत्रोत्पादन धर्म है, गृहस्थ का इससे विरति होना अधर्म है। पुत्र उत्पन्न होने से विवाह सफल होता है; न होने से धर्म असंपूर्ण रहता है। लेकिन धर्म का जो प्रयोजन है, वह एक पुत्र से ही सिद्ध हो जाता है। एक से अधिक पुत्र को जन्म देना धर्म के अर्थ के लिहाज से निष्प्रयोजनीय है— वह तो इंद्रिय तृप्ति का फल मात्र है। लेकिन द्रौपदी इंद्रिय सुख से निर्लिप्त है; धर्म का प्रयोजन सिद्ध हुआ, स्वामियों के संग उनके ऐंद्रिक संबंध टूट गये। स्वामियों के धमार्थ द्रौपदी ने सभी स्वामियों के औरस से एक-एक पुत्र को गर्भ में धारण किया, इसके बाद 'निर्लेप' वश और संतानें गर्भ में धारण नहीं की। कवि की कल्पना का यही तात्पर्य है।

लेकिन आशा करता हूं कि इन सभी बातों के तात्पर्य से कोई यह निष्कर्ष नहीं निकालेगा कि जो स्त्री अनासंग धर्म को ग्रहण करेगी, वह पांच-छः स्वामियों का वरण करेगी— नहीं तो वह धर्म नहीं साध पायेगी।

तात्पर्य केवल यही है कि जिसकी चित्त शुद्धि हो चुकी है वह अगर महापाप में पड़ भी जाये तो पाप उसको स्पर्श नहीं कर सकता। द्रौपदी के अनजाने ही जो कुछ घटित हुआ था, स्त्रियों के लिए उससे बढ़कर महापाप और कोई नहीं है। लेकिन चित्त शुद्धि के कारण ही द्रौपदी उस महापाप को धर्म में परिणत कर सकी थी।

मैंने प्रथम प्रबंध में यह दर्शाया है कि द्रौपदी धर्म बल से गर्विता हैं; वह दर्प कभी-कभी धर्म का भी अतिक्रमण करता है। उस दर्प के साथ इस इंद्रिय विजय का कोई असामंजस्य नहीं है। यह बात अलग है कि उनके निष्काम धर्म का सर्वांगीण संपूर्णता प्राप्त हो सकी थी या नहीं।

(1293 वैशाख। 'विविध प्रबंध')

कृष्ण कथित धर्मतत्व

जिन्होंने अश्वत्थामा वध संवाद-वृत्तांत की रचना की है, उन्होंने अर्जुन को बड़े उच्च स्थान पर स्थापित किया है। कृष्ण, युधिष्ठिर और भीम की अपेक्षा उनकी धार्मिकता बहुत अधिक है। इसी रूप में उनको परिचय दिया है। जिसके प्रस्तावकर्त्ता कृष्ण थे, और अंत में जिसे भीम और युधिष्ठिर ने संपन्न किया, उसे मिथ्या-भाषण मानकर अर्जुन किसी प्रकार उससे सहमत नहीं हुए, वरन इसके लिए उन्होंने युधिष्ठिर की पर्याप्त भर्त्सना की। लेकिन इस क्षण जिस विवरण में मुझे प्रवृत्त होना पड़ रहा है, उससे अर्जुन अति मूढ़ और पाखंडी प्रतीत हो रहे हैं। एवं कृष्ण से धर्मोपदेश प्राप्त करने के बाद ही वह सत्पथ का अवलंबन करने में सफल होते दिखाई पड़ते हैं। वृत्तांत इस प्रकार है:

द्रोण के बाद कर्ण दुर्योधन के सेनापति बने। उनके युद्ध से पांडव सेना अस्थिर हुई। युधिष्ठिर अपने दुर्भाग्य से उनके सम्मुख हुए। कर्ण ने उन्हें इस प्रकार संताड़ित किया कि युधिष्ठिर भयवश रणक्षेत्र से पलायन कर शिविर में जाकर छिप गये— बिस्तर पर लेट गये। उधर अर्जुन युद्ध में विजयी होकर युद्ध क्षेत्र में युधिष्ठिर को खोजने लगे पर उन्हें वहां न पाकर चिंतित हुए और उन्हें ढूंढ़ने के लिए शिविर की ओर गये। तब तक भी कर्ण मारे नहीं गये थे। युधिष्ठिर ने जब यह सुना कि अर्जुन ने अब तक कर्ण का वध नहीं किया, तो वह गुस्से में उन पर बहुत गरम हुए। कापुरुष का स्वभाव ही यह होता है कि वह स्वयं जो चीज नहीं कर पाता, उसे कोई अन्य दूसरा भी न करके दिखा दे तो वह चिल्ल-पों मचाता है। युधिष्ठिर ने भी अर्जुन को खूब खरी-खोटी सुनाई। अंत में कहा कि तुमने युद्ध से स्वयं भयवश पलायन किया है इसलिए कृष्ण को गांडीव शरासन प्रदान कर दो।

यह सुनकर अर्जुन ने तलवार ली और युधिष्ठिर को काट डालने के लिए उठे। कृष्ण ने पूछा, तलवार से किसका वध करोगे? अर्जुन ने कहा, कि जो यह बात कहेंगे कि तुम गांडीव शरासन अन्य को समर्पित कर दो, मैं उनके मस्तक को छेद दूंगा, यही मेरा संकल्प है। अभी आपके सामने ही महाराज ने यह बात मुझसे कही है, अतएव मैं इस धर्मभीरु नरपति को मारकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करूंगा और सत्य-लाभ कर निश्चिंत होऊंगा।[1]

यह उक्ति मूढ़ता और अज्ञान की परिचायक है— अर्जुन को शोभा नहीं देती। 'गांडीव किसी अन्य को दे दो' यह कहने मात्र से उस व्यक्ति का खून करना पड़ेगा— यह प्रतिज्ञा मूढ़ता का ही तो काम है। ध्यान देने वाली बात यह भी है कि इस प्रसंग में तो अर्जुन के पूज्यपाद ज्येष्ठ अग्रज ने अर्जुन में उत्तेजना पैदा करने के लिए यह बात कही थी— उनके वध के लिए प्रवृत्त होना तो बड़े पाखंड की बात है। फिर भी इसके पीछे का आशय गुरुतर है, कृष्ण ने इसकी विस्तृत मीमांसा की है, इसलिए मैं उनके कथन की अवतारणा के लिए बाध्य हूं।

बात यह है— सत्य परम धर्म है। अगर अर्जुन युधिष्ठिर का वध नहीं करते हैं, तो उन्हें सत्य-च्युत होना पड़ता है। अर्जुन का प्रश्न यही है कि सत्य की रक्षार्थ उनका यह कर्त्तव्य है कि नहीं कि वे युधिष्ठिर का वध करें? अर्जुन ने कृष्ण से जिज्ञासा की थी कि तुम्हारे अनुसार इस समय मेरा कर्त्तव्य क्या है?

कृष्ण ने जो उत्तर दिया, उसको समझाने से पहले, हम पाठकों से यह अनुरोध करते हैं कि वे भी इस प्रश्न का उत्तर अपनी ओर से देने की चेष्टा करें। बोध होता है, सभी पाठक एकमत से यही उत्तर देंगे कि इस प्रकार के सत्य के लिए युधिष्ठिर का वध करना अर्जुन का कर्त्तव्य नहीं है। कृष्ण ने भी यही उत्तर दिया। लेकिन पाश्चात्य नीतिपंडित आधुनिक पाठक, जिस कारण से ऐसा उत्तर देंगे, कृष्ण ने उस कारण से यह उत्तर नहीं दिया। उन्होंने प्राच्य नीति के अनुसार यह उत्तर दिया। इसका कारण नहीं समझना पड़ेगा, श्रीकृष्ण भारतवर्ष में अवतीर्ण हुए थे, इंग्लैंड में नहीं। वह

---

1. संभवत: पाठकों को यह बताना नहीं पड़ेगा कि गांडीव अर्जुन के धनुष का नाम है। वह देवदंड, अविनश्वर और शरासन के मध्य भयंकर है।

भारतवर्ष की नीति के सुपंडित थे, यूरोपीय नीति तब बनी नहीं थीं, उस मार्ग के अवलंबी होने पर, अर्जुन भी कुछ समझ न पाते।

कृष्ण ने अर्जुन को समझाने के लिए जिन सकल तत्वों की अवतारणा की, अब मैं उसका स्थूल मर्म बताता हूं— अंतत: जिस अंश को लेकर विवाद हो सकता है, उसे उद्धृत करता हूं।

उनका प्रथम कथन है : 'अहिंसा परम धर्म है।' इस प्रसंग में पहली आपत्ति यह हो सकती है कि सभी अवसरों पर अहिंसा परम धर्म नहीं है। दूसरी आपत्ति यह हो सकती है कि कृष्ण ने गीता में अर्जुन को उपदेश देकर युद्ध के लिए प्रवृत्त किया था और यह उक्ति उसके विपरीत है।

जो अहिंसा-तत्व के यथार्थ मर्म को नहीं समझते, वही इस प्रकार की आपत्ति कर सकते हैं। अहिंसा परम धर्म है, इससे यह आशय भर नहीं निकलता कि किसी स्थान में किसी प्रकार की प्राणिहिंसा करने से अधर्म होता है। प्राणिहिंसा को छोड़कर हम क्षण भर के लिए भी जीवन धारण नहीं कर सकते, यह प्राकृतिक नियम है। जिस जल का पान हम करते हैं, उसके साथ-साथ सहस्र सूक्ष्म जीवों को हम उदरस्थ करते हैं, इसी प्रकार नाक के रास्ते हम ऐसे ही बहुतेरे जीवों को अपनी सांस में भरते हैं, हर कदम पर सहस्र-सहस्र जीवों को हम पददलित करते हैं। एक साक के पत्ते या एक बैंगन के साथ बहुतों को भून कर हम खा जाते हैं। अगर कोई कहे कि, यह सब अज्ञान में की हुई हिंसा है, इसलिए पाप नहीं है, तो इस पर मैं यही कहूंगा, कि ज्ञान रहते हुए भी जो प्राणिहिंसा हम करते हैं, उसके बिना भी हमारा जीवन संभव नहीं है। जो विषधर सर्प या बिच्छू, हमारे घर में, या हमारे बिछौने के नीचे आश्रय लेता है, अगर हम उसका विनाश नहीं करते तो वह हमारा विनाश कर देगा। जो बाघ हमें खाने के लिए, हम पर झपटता है, अगर हम उसका विनाश नहीं करते तो वह हमारा विनाश कर डालेगा। जो शत्रु हमारे वध के लिए कृत निश्चय है और हमें मारने के लिए शास्त्र लिए खड़ा है, अगर हम उसका विनाश नहीं करते तो वह हमारा विनाश कर डालेगा। जो दस्यु हथियारों से लैस होकर रात में हमारे घर में प्रवेश कर सर्वस्व हरण कर लेना चाहता हो, अगर उससे छुटकारा पाने का और कोई उपाय न हो, तब उसका विनाश ही हमारे लिए धर्मानुमत है। जिस न्यायाधीश के सामने हत्यारे द्वारा की गयी हत्या प्रमाणित हो जाती है, उनका वधदंड अगर राजनियोग सम्मत हो तो फिर वह वध आज्ञा सुनाने के लिए धर्मत: बाध्य हैं। और जिस राज्य

कर्मचारी के ऊपर हत्यारे को वध करने का भार है, वह भी उसका वध करने के लिए बाध्य है। जिस सिकंदर या मोहम्मद गजनी, अहिला या चंगेज, तैमूर या नादेर, फ्रैडरिक द्वितीय या नैपोलियन ने परस्व और परराष्ट्र अपहरण के लिए अगणित शिक्षित तस्करों (सैनिकों) को लेकर, परराष्ट्र में प्रवेश किया है, वे भले ही लाख-लाख हों, उनका वध करना प्रत्येक का धर्म है। यहां पर हिंसा ही धर्म है।

दूसरी ओर, जो पाखी आकाश में उड़कर जा रहा है, भोजन के लिए हो या खेलने के लिए, उसका शिकार अधर्म है। जो मक्खी, मीठे-दानों की खोज में, इधर-उधर उड़ रही हो, उसे खेलता हुआ बच्चा पकड़कर मार दे, तो वह अधर्म है। जो मृग या कुक्कुट हमारी तुम्हारी तरह जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए जगत में आया है, उसे मारकर खा जाना, अधर्म है। हम जो, वायुप्रवाह के नीचे के जीवों को, मछली को, और जलप्रवाह के ऊपर के जीवों को, मारकर खाते हैं वह अधर्म है।

परंतु, अहिंसा परमधर्म है, इस वाक्य का जो वास्तविक तात्पर्य है वह यही है कि धर्मप्रयोजन के अतिरिक्त की जाने वाली जो हिंसा है, उससे विरत रहना ही परम धर्म है। अन्यथा, हिंसाकारी की समाप्ति के लिए की गयी हिंसा अधर्म नहीं है, बल्कि परम धर्म है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वलाक की कथा सुनायी। इसका स्थूल तात्पर्य यही है कि वलाक नाम के व्याध ने प्राणियों का विनाश करने वाले एक श्वापद का विनाश किया था, उसके ऐसा करने के बाद, उसके ऊपर 'आकाश से पुष्पवृष्टि होने लगी, अप्सराओं ने अति मनोहर गीत-वाद्य गाये-बजाये, और उस व्याध को स्वर्ग ले जाने के लिए एक विमान उतरा।' व्याध का पुण्य यही था कि उसने एक हिंसाकारी के प्रति हिंसा की थी।

---

1. जिस वचन के ऊपर निर्भर होकर कृष्णकथित यह धर्मतत्व संस्थापित हुआ है, उसे मूल संस्कृत में उद्धृत करना हमारा कर्तव्य है:

प्राणिनाम वद्यस्तात सर्वज्यायान्मतो मम।
अनृतां वा वर्दद्वाचम् न तू हिंसात कथञ्चण।।

पाठक देखेंगे, अहिंसा परमधर्म है, यह कृष्णवाक्य का ठीक अनुवाद नहीं है। ठीक अनुवाद है, ''हमारे मत में प्राणिगणों की अहिंसा सबसे श्रेष्ठ है।'' अर्थगत विशेष प्रभेद न होने के कारण ही 'अहिंसा परमधर्म है' इस अतिपरिचित वाक्य का व्यवहार किया है।

अहिंसा परमधर्म है, इसका अर्थ समझना होगा। क्योंकि धर्म के प्रयोजन के अलावा हिंसा मत करना, इस बात को लेकर भी गड़बड़ होती है और चिरकाल से होती आ रही है। धर्म का प्रयोजन क्या है? धर्म क्या है? Inquisition के कारण मनुष्य-वध का प्रयोजन धर्म है, इसीलिए कोटि कोटि मनुष्यों को यमलोक पहुंचा दिया गया है। धर्मार्थ के कारण ही का Bartholomen हत्याकांड हुआ था। धर्माचरण की विवेचना के कारण ही क्रूसेड वालों के द्वारा पृथ्वी नरशोणित प्रवाह से पंकिल हुई थीं। लगता है, धर्म प्रयोजन संबंधी भ्रांति में पड़कर मनुष्य ने जितने मनुष्यों को नष्ट किया है, उतना तो किसी और कारण ने मनुष्यों को नष्ट नहीं किया।

अर्जुन भी इस समय उसी भ्रांति से ग्रस्त हुए। उन्हें लगा था सत्य रक्षा के धर्मार्थ युधिष्ठिर का वध करना उनका कर्तव्य है। अतएव केवल अहिंसा परम धर्म है, यह कहने मात्र से उनकी भ्रांति दूर नहीं हुई। इसीलिए कृष्ण ने एक दूसरी बात भी कही।

दूसरी कथा है कि, भले ही मिथ्या वाक्य का प्रयोग करना पड़े, किंतु प्राणिहिंसा करना कर्तव्य नहीं है। इसका स्थूल तात्पर्य है, अहिंसा और सत्य— इन दोनों के बीच अहिंसा ही श्रेष्ठ धर्म है।[1] इसका अभिप्राय कि, नानाविध पुण्यकर्मों की गिनती धर्म के अंतर्गत की जाती है; जैसे— दान, तप, देवभक्ति, सत्य, शौच, अहिंसा इत्यादि। इनके मध्य सभी समान नहीं हैं, वे एक-दूसरे से विशिष्ट भी हो सकते हैं। शौच का माहात्म्य या दान का माहात्म्य क्या सत्य और अहिंसा के बराबर है? यदि ऐसा नहीं है, यदि तारतम्य रखें, तो सर्वश्रेष्ठ कौन है? कृष्ण ने कहा, अहिंसा। सत्य का स्थान उसके नीचे है।

हम पाश्चात्य के अनुयायी हैं। अनेक पाठक इस बात से सिहर उठेंगे। पाश्चात्य यही तो कहते रहते हैं कि किसी भी अवस्था में मिथ्या बात नहीं

---

1. जिस वचन के ऊपर निर्भर होकर कृष्णकथित यह धर्मतत्व संस्थापित हुआ है, उसे मूल संस्कृत में उद्धृत करना हमारा कर्तव्य है:

प्राणिनाम वद्यस्तात सर्वज्यायान्मतो मम।
अनृतां वा वर्दद्वाचम् न तु हिंसात कथत्तण।।

पाठक देखेंगे, अहिंसा परमधर्म है, यह कृष्णवाक्य का ठीक अनुवाद नहीं है। ठीक अनुवाद है, "हमारे मत में प्राणिगणों की अहिंसा सबसे श्रेष्ठ है।" अर्थगत विशेष प्रभेद न होने के कारण ही 'अहिंसा परमधर्म है' इस अतिपरिचित वाक्य का व्यवहार किया है।

कही जा सकती। ऐसा न भी हो तो वह यह बात अभी नहीं उठ रही। ऐसा कोई नहीं कहेगा कि, पाश्चात्य लोगों के मत में एक मिथ्यावादी, एक हत्याकारी की अपेक्षा गुरुतर प्राणी है या मिथ्यावादी और हत्यावादी को एक साथ रखकर तौला जाना चाहिए। वे ऐसा नहीं कहते, इसका प्रमाण समस्त यूरोपीय दंड विधान है। यदि ऐसा है, तो कृष्ण के साथ इस स्थान पर पाश्चात्य लोगों के शिष्यों के मतभेद का कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ता। इस स्थान पर केवल पाप के तारतम्य की बात हो रही है। कोई भी अधर्म किसी भी समय नहीं करना चाहिए। नरहत्या नहीं करनी चाहिए, मिथ्या वचन भी नहीं करना चाहिए। कृष्ण के कथन का निष्कर्ष यही है कि अगर कभी कोई ऐसी अवस्था में हो, कि या तो वह मिथ्या वचन बोले या फिर नरहत्या करे तो वह मिथ्या वचन ही बोल ले, नरहत्या कदापि न करे। अगर कोई ऐसे धर्मात्मा या नीतिज्ञ हों, जो कहें कि नरहत्या भले कर ले, पर मिथ्या कदापि न बोले तो फिर हमारा उत्तर यही होगा कि वे अपना धर्म अपने पास ही रखें, ऐसे नारकीय धर्म का भारतवर्ष में प्रचार न हो।

कृष्ण का यही मत है। अगर अर्जुन मान जाते हैं तो फिर भ्रातृवध के पाप से उन्हें विरत करने के लिए यही यथेष्ट है। लेकिन अर्जुन कह सकते हैं, ''यह तो आपका मत हुआ। लेकिन लौकिक और प्रचलित धर्म क्या है? आपका मत ही यथार्थ हो सकता है, लेकिन अगर यह प्रचलित धर्म से अनुमोदित नहीं है तो मैं जनसमाज के सम्मुख सत्य-च्युत पापात्मा के रूप में कलंकित होऊंगा।'' इसीलिए कृष्ण अपना मत सामने रखने के बाद, जो प्रचलित धर्म है, उसे समझा रहे हैं। उन्होंने कहा, ''हे धनंजय! कुरुपितामह भीष्म, धर्मराज युधिष्ठिर, विदुर और यशस्विनी कुंती ने जिस धर्म रहस्य की खोज की है, मैं वस्तुत: उसी का गुणगान कर रहा हूं, सुनो।'' यह कहकर, वे बोले, ''साधु व्यक्ति ही सत्य वचन कहते हैं, सत्य की अपेक्षा और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है।[1] सत्य तत्व अति दुर्जेय है। सत्य बोलना आवश्यक कर्तव्य है।''

---

1. ''न सत्याद्विद्यते परम्'' इससे पहले कृष्ण ने कहा है,

प्राणिनाम सर्वज्यायान्मतो मम।

ये दो बातें परस्पर विरोधी हैं। इसलिए कि एक कृष्ण का मत है और एक भीष्माकथित प्रचलित धर्मनीति।

यह तो हुई स्थूलनीति। इसके बाद वर्जित तत्व के बारे में बताते हैं,

"लेकिन जिस स्थान पर मिथ्या सत्यस्वरूप है और सत्य मिथ्यास्वरूप, उस स्थल पर मिथ्यावाक्य के प्रयोग करने से दोष नहीं होता।"

लेकिन क्या कभी ऐसा होता है? यह बात फिर उठेगी, उस वक्त हम इस पर यथासाध्य विचार करेंगे। इसके बाद कृष्ण कहते हैं,

"विवाह, रतिक्रीड़ा, प्राणवियोग, और सर्वस्वापहरण के समय तथा ब्राह्मण के निमित्त मिथ्याप्रयोग करने से पाप नहीं लगता।"

यहाँ पर घोर विवाद हो सकता है, लेकिन विवाद को अभी रहने दें। काली प्रसन्न सिंह के अनुवाद में उल्लिखित रूप उपलब्ध है। वह एक श्लोक मात्र का अनुवाद है, लेकिन मूल में इस विषय पर दो श्लोक हैं। दोनों ही उदधृत कर रहा हूं;

1. प्राणाताये विवाहे च वक्तव्यमतृतम भवेत।
   सर्वस्वस्यापहारे च वक्तव्यम् तृतम भवेत।।
2. विवाह काले रति संप्रयोगे प्राणाताये सर्वधनापहारे।
   विप्रस्य चार्थे ह्यनृतम् वदते पक्षीवृतान्यलूर पातकानि।

इन दोनों श्लोकों का एक ही अर्थ है; केवल प्रथम श्लोक में ब्राह्मण की बात नहीं है, यही प्रभेद है। यहां पर पाठकों के मन में यह प्रश्न स्वयं उदित होगा कि एक ही अर्थ देने वाले दो श्लोकों का क्या प्रयोजन है?

इसका उत्तर यही है कि, ये दोनों अन्यत्र से अदधृत हैं— कृष्ण की निज की उक्ति नहीं हैं। संस्कृत ग्रंथों में स्थान-स्थान पर यह देखने को मिलता है कि अन्यत्र से कथनों को उदधृत किया जाता है, पर यह उल्लेख नहीं होता कि ये कथन अन्यत्र कहीं से हैं। इस महाभारतीय गीता-पर्वध्याय से इसी बात का उदाहरण दे रहा हूं।

मै यह बात अंदाजन नहीं कह रहा हूं, ये दोनों कथन गीता से लिये गये हैं। द्वितीय श्लोक में— "विवाहकाले रतिसंप्रयोगे" इत्यादि वचन वशिष्ठ के हैं। पाठक वशिष्ठ के 16वें अध्याय में, 35वें श्लोक में इसे देखेंगे; यह महाभारत के आदिपर्व के 3412 वें श्लोक में भी, जिससे कृष्ण का कोई संबंध नहीं है, किंचित परिवर्तित रूप में उद्धृत हुआ है। यथा—

न नर्भयुक्तम वचनम हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणातये सर्वधनापहारे पक्षवृतान्यूलर पातकानि।।

चार के अतिरिक्त पांच बातें यहां नहीं हैं, लेकिन वशिष्ठ का वह "पक्षवृतान्यूलर पातकानि" है। प्रचलित वचन इसी प्रकार अलग-अलग व्यवहार

में विकृत हो जाते हैं। प्रथम श्लोक को पूर्वग्रामी श्लोकों सहित लिखता हूं:

(क) भवेत सत्यमवक्तव्यम् वचनामृतम भवेत

(ख) यत्रानृतं भवेत सत्यम् सत्यक्षाप्यनृतम् भवेत

(ग) प्राणाताये विवाहे च वक्तव्यम्नृतं भवेत।।

(घ) सर्वस्वस्यापहारे च वक्तव्यम्नृतम भवेत।।

यहां पर महाभारत के सभापर्व से एक (13844) श्लोक उद्धृत करता हूं— यहां पर कृष्ण के साथ इसका कोई संबंध नहीं है।

(च) प्राणान्तिके विवाहे च वक्तव्यमनृत भवेत।

(छ) अनृतेन भवेत सत्यम सत्यैनेवानृतम् भवेत।।

पाठक देखेंगे, (ग) और (च) तथा (ख) और (छ) एक ही हैं। शब्द भी प्राय: एक ही हैं। अतएव ये भी प्रचलित पुरातन वचन ही हैं।

यह कृष्ण का मत नहीं है; अपने द्वारा अनुमोदित नीति की तरह भी वह इसे नहीं रख रहे हैं, भीष्म आदि के निकट उन्होंने जो कुछ सुना है, उसे ही कह रहे हैं; कृष्ण के, अपने द्वारा अनुमोदित हो या न हो, क्यों वह इसे अर्जुन को सुनाने के लिए बाध्य हैं, वही कह रहा हूं। इसलिए कृष्णचरित्र में इस नीति का यथार्थ क्या है, कैसा है, इस पर विचार करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

लेकिन असली बात बाकी है। असली बात यह है कि कृष्ण का निज का मत भी यही है कि किसी विशेष अवस्था में सत्य मिथ्या होता है एवं मिथ्या सत्य होती है, और उन सभी स्थानों पर मिथ्या का ही प्रयोग करना चाहिए। यह बात वह बाद में कहते हैं।

पहले तो यह विचारणीय है कि क्या कभी मिथ्या सत्य होती है, और सत्य मिथ्या होता है? इसका स्थूल उत्तर यही है कि जो धर्म द्वारा अनुमोदित है, वही सत्य है और जो अधर्म से अनुमोदित है, वही मिथ्या है। धर्मानुमोदित मिथ्या हो नहीं सकती और अधर्मानुमोदित सत्य नहीं हो सकता। फिर भी सत्यासत्य की मीमांसा धर्माधर्म की मीमांसा के ऊपर ही निर्भर करती है। अतएव श्रीकृष्ण पहले धर्मतत्व को स्थिर करते हैं। उनकी बातों में गीता की उदार नीति के गंभीर शब्द ही ध्वनित होते हैं। वे कहते हैं: ''धर्म और अधर्म के तत्वों का निर्णय करने के लिए विशेष लक्षण निर्दिष्ट हैं। किसी-किसी स्थान पर अनुमान द्वारा भी नितांत दुर्बोध धर्म का निर्णय करना पड़ता है।''

इसकी अपेक्षा यूरोप में भी कुछ नहीं है। इसके बाद, ''बहुतेरे श्रुति को धर्म का प्रमाण मानते हैं। मैं इस पर आपत्ति नहीं करता; लेकिन श्रुति में समस्त धर्मतत्व निर्दिष्ट नहीं है, इसीलिए कई प्रसंगों में अनुमान द्वारा धर्म निर्दिष्ट करना पड़ता है।''

इस बात को लेकर सभ्यजगत में आज भी बड़ा गोलमाल है। जो यह कहते हैं कि वेद में या बाइबिल में या कुरान में जो देवोक्ति है, वही धर्म है— उसके बाहर धर्म और कुछ नहीं है— वे आज भी संख्या में बहुत ज्यादा हैं। उनके मत में धर्म देवोक्ति में निर्दिष्ट है, अनुमान का विषय नहीं है। यह बात मनुष्य जाति की उन्नति के पथ पर बहुत बड़ा रोड़ा है। हमारे देश की बात तो दूर रही, यूरोप में भी आज यही मत उन्नति का पथ अवरुद्ध किये हुए है। हमारे देश की अवनति का यह एक प्रधान कारण है। आज भी भारतवर्ष का धर्मज्ञान वेद तथा मनु याज्ञवल्क्य की स्मृति द्वारा अवरुद्ध है— अनुमान का पथ निषिद्ध है। अति दूरदर्शी मनुष्यों के आदर्श श्रीकृष्ण ने लोकोन्नति में इस विषम व्याघात को उस अति प्राचीनकाल में भी देखा था। आज हिंदू समाज के धर्मज्ञान को देखकर मन इतना खिन्न होता है कि उन्हीं श्रीकृष्ण की शरण में जाने की इच्छा होती है।

लेकिन अनुमान का कोई मूल-आधार चाहिए। जिस तरह अग्नि के बिना धुआं नहीं निकलता और इसी मूल पर हम अनुमान करते हैं कि सम्मुखस्थ धूमवान् पर्वत 'उपस्थित' भी है, इसी प्रकार एक लक्षण चाहिए, जिसे देखकर हम समझ सकें कि अमुक कर्म करना धर्म है। श्रीकृष्ण उसके लक्षण निर्दिष्ट करते हैं।

''धर्म प्राणियों को धारण किये हुए है, इसीलिए वह धर्म के नाम से निर्दिष्ट है। इसलिए जिससे प्राणियों की रक्षा होती हो, वही धर्म है।''

इसी भाव से कृष्णकृत धर्म के लक्षणों को निर्धारित किया गया है। इस बात को आज के Herbert, Spencer, Bentham, Mill आदि के शिष्यगण किसी प्रकार अमान्य नहीं ठहरा पाएंगे, यह जानता हूं। लेकिन बहुतेरे कहेंगे, यह तो घोर अतिवाद है— बहुत Utilitarian प्रकार का धर्म है। बहुत Utilitarian प्रकार का है जरूर लेकिन मैंने प्रकारांतर से यह समझाया है कि धर्मतत्व को हितवाद से वियुक्त नहीं किया जा सकता; जगदीश्वर के सार्वभौतिक तत्व और सर्वमयता को, इसी से अनुमानित किया जा सकता है। संकीर्ण ईसाई धर्म का हितवाद से विरोध हो सकता है,

किंतु जिसे हिंदूधर्म कहते हैं, उसमें ईश्वर का वास सभी चीजों में है, हितवाद इस धर्म का स्वाभाविक अंग है। कृष्ण कथन के अनुरूप यही धर्म का यथार्थ लक्षण है।

मैं पहले ही यह कह चुका हूं कि जो धर्म द्वारा अनुमोदित है, वही सत्य है, जो धर्म से अनुमोदित नहीं है, वही मिथ्या है। अतएव जो सर्वलोकहितकर है, वही सत्य है, जो लोगों के लिए अहितकर है, वही मिथ्या है। इस अर्थ में, जो लौकिक सत्य है, वह धर्मतः मिथ्या हो सकता है। इस प्रकार के स्थलों पर स्थूल मिथ्या भी सत्य स्वरूप है और सत्य भी मिथ्या स्वरूप हो सकता है।

उदाहरण स्वरूप कृष्ण ने कहा है, यदि कोई किसी के विनाश करने वाले मानस का निकट से अनुसंधान करे तो जिस व्यक्ति से जिज्ञासा की जा रही है, उसका मौन धारण करना ही उचित है। अगर एकांत में ही बात करनी हो, तो उस स्थल पर मिथ्या वचन प्रयोग करना ही कर्त्तव्य है। ऐसे स्थलों पर मिथ्या सत्य स्वरूप होती है।

यह स्थापना करने के पूर्व, कृष्ण ने कौशिक का उपाख्यान अर्जुन को सुनाकर, भूमिका बांधी थी। वह उपाख्यान इस प्रकार है, ''कौशिक नाम का एक प्रसिद्ध तपस्वी श्रेष्ठ ब्राह्मण गांव से बहुत दूर नदियों के संगम पर रहता था। इस ब्राह्मण ने सदा सच बोलने का संकल्प किया था और वह सत्यवादी के रूप में विख्यात था। एक समय, दस्युओं से भयभीत होकर, कई लोगों ने वन के मध्य में प्रवेश किया, दस्युओं ने भी क्रोध में भरकर उनको ढूंढने के लिए सदल बल, उसी सत्यवादी कौशिक के सम्मुख उपस्थित हुए और बोले, ''हे भगवन! कई लोग इस ओर आये थे, वे किस पथ से गये हैं, अगर आपको यह पता हो तो सच-सच हमें बतायें। दस्युओं ने जब इस प्रकार कौशिक से पूछा, तो उन्होंने सत्य के पालन के लिए, उनसे कहा, कई लोग इस वृक्ष, लता और वृक्ष परिवेष्टित इस पगडंडी से होकर गये हैं। तब उन क्रूर दस्युओं ने उन लोगों को खोज लिया और उन पर आक्रमण करके उनका विनाश कर दिया। सूक्ष्म धर्म से अनभिज्ञ सत्यवादी कौशिक उस सत्य वाक्य जनित पाप के भागी हुए, घोर नरक में पड़े।''

इस स्थल पर यही अभिप्रेत है कि कौशिक इस तथ्य से अवगत थे कि ये दस्यु हैं और पलायन करके भागे हुए व्यक्तियों का अनिष्ट ही इनका उद्देश्य है— नहीं तो उनका और कोई पाप नहीं था। यदि वे तथ्य से

अवगत थे तो कृष्ण के मत में, उन्होंने अपने सत्यकथन से पापाचरण किया था। इस विषय में प्राच्य और प्रतीच्यों में घोरतर मतभेद है। हमने प्रतीच्य शिक्षकों से यही सीखा है कि सत्य नित्य है, वह कभी मिथ्या नहीं होता और किसी भी समय मिथ्या का प्रयोग करना उचित नहीं है। इसलिए कृष्ण का मत शिक्षित संप्रदाय में निंदित भी हो सकता है। जो इसकी निंदा करेंगे (और मैं उसका समर्थन भी नहीं कर रहा हूं) मैं उनसे पूछना चाहूंगा कि इस अवस्था में कौशिक के लिए क्या करना उचित था? सहज उत्तर होगा, उन्हें मौन धारण कर लेना चाहिए था। यह बात भी कृष्ण ने स्वयं कही है— इस विषय में संदेह नहीं है। यदि दस्यु उन्हें मौन न रहने देते? प्रताड़ित करके उनसे उत्तर चाहते? कोई यह कह सकता है कि पीड़न और मृत्यु को भी स्वीकार करके कौशिक को मौन रक्षा करनी चाहिए थी। हम इसका पूरा अनुमोदन करते हैं। फिर भी जिज्ञासा यह है कि इस प्रकार के धर्म की पृथ्वी में चलने की संभावना है या नहीं? इस पर सांख्य प्रवचनकारों का एक सूत्र ध्यान में आता है। महर्षि कपिल ने कहा है, ''नाशवयोष देशविधिरूपदिष्टेहप्यानुपदेश:।''[1] इस प्रकार के धर्म के प्रचार की चेष्टा निष्फल मालूम पड़ती है। यदि सफल हो सके तो वह मानवजाति का परम सौभाग्य होगा।

यहां पर बात ठीक वैसी नहीं है। बात यह है कि यदि एकांत में ही बात करनी हो,

अश्यम कूजितव्ये वा शष्केरन वाप्यकूजत:।

तब फिर क्या करेंगे? सत्य बोलकर जानते हुए भी नरहत्या में सहायता करेंगे। जो इस रूप में धर्मतत्व को समझते हैं, या समझना चाहते हैं, उनका यह धर्मवाद चाहे यथार्थ हो या अयथार्थ हो, नितांत नृशंस अवश्य है।

प्रतिवाद करने वाले कह सकते हैं कि कृष्णोक्त इस नीति का एक निष्कर्ष यह भी हो सकता है हत्याकारी की जीवन-रक्षा के लिए शपथ लेना भी धर्म है। इस प्रकार की आपत्ति करने वाले इस सत्य तत्व को बिलकुल ही नहीं समझ पाये। हत्याकारी को दंडित करना मनुष्य जीवन की रक्षा के लिए नितांत प्रयोजनीय है, नहीं तो जो जिसको पायेगा, मार डालेगा। अतएव हत्याकारी को दंडित करना ही धर्म है और जो उसके रक्षार्थ मिथ्या वचन कहेगा, वह अधर्म करेगा।

---

1. प्रथम अध्याय, सूत्र-9

कृष्णोक्त यह सत्यतत्व निर्दोष है, और साधारण मनुष्यों के लिए निभा पाना संभव है या नहीं, इस पर मैं अभी कुछ कहने के लिए प्रस्तुत नहीं हूं। फिर भी कृष्ण चरित्र को समझाने के लिए, इसे परिस्फुटित करना मेरी बाध्यता है। लेकिन यह कहने के लिए भी मैं वाध्य हूं कि पाश्चात्य लोग जिस कारण से यह कहते हैं— सत्य सब समय सत्य है, किसी भी अवस्था में छोड़ने लायक नहीं है, उसके मूल में एक गंभीर बात छिपी हुई है। बात यह है कि यदि यही धर्म है— सत्य जहां मनुष्य के लिए हितकारी, वहीं वह धर्म है, और जिस जगह मनुष्य के लिए हितकारी नहीं है, वहां अधर्म है, अगर यही धर्म है तो मनुष्य जीवन और मनुष्य समाज अतिशय विशृंखल हो जायेगा, जो लोकहित तुम्हारा उद्देश्य है, वह डूब जायेगा। किसी विशेष अवस्था में, सत्य अवलंबनीय है या मिथ्या अवलंबनीय है, इसकी मीमांसा कौन करेगा? जो-सो मीमांसा करेगा। जो-सो के मीमांसा करने बैठने पर, मीमांसा कभी धर्मानुमोदित नहीं हो सकेगी। बहुतों की शिक्षा, ज्ञान, बुद्धि सामान्य ही है, किसी की संपूर्ण नहीं है। अधिकांश की विचारशक्ति बहुत अल्प है, उसके ऊपर इंद्रियों के वेग, स्नेह-ममता के वेग, भय, लोभ, मोह इत्यादि का प्रकोप रहता है। सत्य नित्य पालनीय है— इस प्रकार की धर्म व्यवस्था न रहने पर, मनुष्य जाति के शून्य हो जाने की संभावना है।

प्राचीन हिंदू ऋषि इसे समझते नहीं थे— ऐसी बात नहीं है। समझने के कारण ही उन्होंने यह विधान किया है कि किसी-किसी समय पर मिथ्या बात कही जा सकती है। प्राणात्याये इत्यादि उस विधि को हमने उद्धृत किया है। मनु, गौतम, प्रभृत्ति ऋषियों का मत भी इसी प्रकार का है। उन्होंने जो कुछ विशेष विधियां बतायी हैं, वे धर्म-अनुमत हैं या नहीं, इस पर विचार करना मेरा प्रयोजन नहीं है। कृष्णकथित सत्यतत्व को परिस्फुटित करना ही हमारा उद्देश्य है। कृष्ण ने भी, आधुनिक यूरोपियों की तरह, इसे समझा था कि इस साधारण विधि को कार्यरूप में परिणत करना, साधारण लोगों के लिए अति दुरूह है। लेकिन उनकी विवेचना में प्राणात्यये प्रभृत्ति कुछ विशेष अवस्थाओं का निर्देश करने मात्र से लोगों को धर्मानुमत सत्याचरण की बात समझायी नहीं जा सकती। इसके बाद, उन्होंने किसलिए और किस अवस्था में साधारण विधि के उल्लंघन की बात उचित मानी है, यही बता रहे हैं। हम उसे और स्पष्ट करके कह रहे हैं।

दान, तप, शौच, आर्जव, सत्यप्रभृति कई कार्यों को धर्म कहा जाता है। ये सभी साधारणत: धर्म हैं, और सभी अवस्था विशेष में अधर्म हैं।

अनुपयुक्त प्रयोग और व्यवहार ही अधर्म है। दान के संबंध में उदाहरण पूर्वक वह कहते हैं, "समर्थ होने पर चोरों को दान देना कदापि कर्त्तव्य नहीं है। पापात्माओं को धन-दान करने पर अधर्माचरण के नाते दाता को भी नितांत निपीड़ित होना पड़ता है। सत्य के संबंध में भी यही बात लागू होती है। श्रीकृष्ण ने इसके जो दो उदाहरण दिये हैं, उनमें से एक मैंने ऊपर उद्धृत किया है, दूसरा इस प्रकार है, "जिस स्थल में मिथ्या शपथ द्वारा भी चौरसंसर्ग से मुक्ति लाभ होता हो, उस स्थल पर मिथ्या-वाक्य का प्रयोग ही श्रेयस्कर है। वह मिथ्या निश्चय ही सत्यस्वरूप होती है।"

यह अलग-अलग प्रचलित धर्मशास्त्रों से प्राणात्यये, विवाहे आदि बातों में पुनरुक्त हुई है।

कृष्ण कथित सत्य तत्व इस प्रकार है। इसका स्थूल तात्पर्य इस रूप में समझा जा सकता है कि,

1. जो धर्मानुमोदित है, वही सत्य है, जो धर्मविरुद्ध है, वह असत्य है।
2. जिससे लोगों का हित होता हो, वही धर्म है।
3. जिससे लोगों का हित होता हो, वही सत्य है। जो इसके विपरीत है, वह असत्य है।
4. इस प्रकार का सत्य हर समय हर जगहों पर प्रयोग करने लायक है।

कृष्णभक्त कह सकते हैं कि इसकी अपेक्षा ज्यादा उत्कृष्ट सत्य तत्व अगर कहीं और कहा हुआ हो और तुम उसे हमें दिखा सको, तो हम कृष्ण मत का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत हैं। यदि वैसा न कर सको, तो इसे ही मनुष्योचित आदर्श कथन मानकर स्वीकार करो।

अंत में मुझे यह भी कहना है कि जिसके द्वारा लोकरक्षा होती हो, लोकहित सधता हो, वही धर्म है, हम यदि भक्ति के साथ इस कृष्णोक्ति को हिंदू धर्म का मूल स्वरूप मान लें तो फिर हिंदू धर्म और हिंदू जाति की उन्नति में और विलंब नहीं होगा। ऐसा होने पर, जिस उपधर्म की भस्मराशि के मध्य, पवित्र और जगत में अतुलनीय हिंदू धर्म पड़ा हुआ है, वह शीघ्र ही कहीं उड़ जायेगा। ऐसा होने पर, शास्त्र की दुहाई देकर किये जाने वाले कुकर्मों, अनर्थक सामर्थ्य व्यय और समय की बर्बादी के लिए देश में कोई जगह नहीं रहेगी और सत्कर्म और सद् अनुष्ठानों से

हिंदू धर्म प्रभावित होगा। ऐसा होने पर उच्छृंखलता जातियों के बीच मारा मारी, परस्पर विद्वेष और अनिष्ट चेष्टा दिखाई नहीं पड़ेगी। हम महती कृष्ण कथित नीति का परित्याग कर, शूलपाणि और रघुनंदन के चरणों में पदानत हैं— लोकहित का परित्याग कर तिथि तत्व, मलमास तत्व आदि अट्ठाइस तत्वों की चिख-चिख से मंत्रमुग्ध हैं। ऐसे में अगर हमारी उन्नति होगी तो भला अध:पतन किस जाति का होगा? अगर अभी भी हमारा भाग्योदय होगा तो हम सभी हिंदू एकत्रित होकर, *नमो भगवते वासुदेवाय* कहकर, कृष्णपादपद्मों में प्रणाम करके, उनके बताये हुए लोकहितात्मक धर्म को ग्रहण[1] करेंगे। ऐसा होने पर निश्चय ही हम जातीय उन्नति को साध सकेंगे।

(1299 श्रावण । 'कृष्णचरित्र')

1 वेस्हामेर की कथा इंग्लैंड ने सुनी— कृष्ण की कथा भारतवर्ष नहीं सुनेगा?